विपश्यना
पत्रिका संग्रह

(जुलाई १९७१ से जून १९७४ तक)

भाग-१

विपश्यनाचार्य श्री सत्यनारायण गोयन्का

विपश्यना

पत्रिका संग्रह

भाग - १

(जुलाई १९७१ से जून १९७४ तक)

विपश्यनाचार्य श्री सत्यनारायण गोयन्का

विपश्यना विशोधन विन्यास

धम्मगिरि, इगतपुरी

© विपश्यना विशोधन विन्यास
सर्वाधिकार सुरक्षित

प्रथम संस्करण : मई २०१२

मूल्यः रु.

ISBN 978-81-7414-341-9

प्रकाशक:
विपश्यना विशोधन विन्यास
धम्मगिरि, इगतपुरी - ४२२ ४०३
जिला- नाशिक, महाराष्ट्र
फोन: ०२५५३-२४४०७६, २४४०८६, २४३७१२,
२४३२३८; फैक्स: ९१-२५५३-२४४१७६
Email: vri_admin@dhamma.net.in
info@giri.dhamma.org
Website: www.vridhamma.org

मुद्रकः
अपोलो प्रिंटिंग प्रेस
जी-२५९, सीकॉफ लिमिटेड, ६९ एम. आय. डी. सी.,
सातपुर, नाशिक-४२२००७, महाराष्ट्र

विषयानुक्रमणिका

पत्रिका संग्रह भाग १

जुलाई १९७१ से जून १९७२ तक : पृष्ठ १ से ७०

उद्बोधन : सत्यधर्म १
धर्म-चक्र २
उद्बोधन : सविवेक श्रद्धा ६
धर्म ही रक्षक है ९
उद्बोधन : वर्तमान क्षण १२
धर्म का सर्वहितकारी स्वरूप १५
उद्बोधन : वयधम्मा सङ्खारा १९
चरथ भिक्खवे चारिकं २२
उद्बोधन : प्रकाश-पर्व २६
विजय पर्व २८
उद्बोधन : धर्मप्रज्ञा ३२
उद्बोधन : सही श्रद्धांजलि ३६
गुरुदेव ऊ बा खिन ३७
उद्बोधन : निर्लिप्त जीवन ४२
तृष्णा की गुलामी और मुक्ति ४३
उद्बोधन : ब्रह्मविहार ४७
दान-कथा ४८

उद्‌बोधन : शीलवान बनें ५३
शील-कथा ५४
उद्‌बोधन : मन का संवर ५८
समाधि कथा ५९
उद्‌बोधन : मोह-मूढ़ता ६५
प्रज्ञा-कथा ६६

जुलाई १९७२ से जून १९७३ तक : पृष्ठ ७३ से १३६

उद्‌बोधन : लोक-चक्र क्या है? ७३
लोक-चक्र और धर्म-चक्र ७४
उद्‌बोधन : सत्य दर्शन ७८
चार आर्य सत्य ७८
उद्‌बोधन : सही मरणानुस्मृति ८४
उद्‌बोधन : आर्यसत्यों का साक्षात्कार करें ८७
मतलब की बात करें ८७
उद्‌बोधन : अनित्य-दर्शन ९२
यह दुःख है (१) ९३
उद्‌बोधन : यथाभूत ज्ञान-दर्शन ९७
यह दुःख है (२) ९८
उद्‌बोधन : दुःख-दर्शन १०३
यह दुःख है (३) १०३
उद्‌बोधन : संतोष-जल छिड़कें १०९
दुःख क्यों है? (१) १०९
दुःख क्यों है? (२) ११५

उद्‌बोधन : तृष्णा की आग १२०
दु:ख क्यों है? (३) १२१
उद्‌बोधन : त्रिधा पुण्यमयी वैशाख पूर्णिमा.. १२६
सत्य का साक्षात्कार १२६
रूप कथा (१) १३१

जुलाई १९७३ से जून १९७४ तक : पृष्ठ १३९ से २०८

रूप कथा (२) १३९
रूप कथा (३) १४६
उद्‌बोधन : ऐ मेरे मन! (१) १५२
उद्‌बोधन : ऐ मेरे मन! (२) १६०
उद्‌बोधन : ऐ मेरे मन! (३) १६६
रूप कथा (४) १७१
उद्‌बोधन : शुद्ध धर्म का सार १७६
अध्यात्मविद्या का नवीन प्रयोग ‘विपश्यना’ ....
(ले. : हरिश्चंद्र विद्यालंकार) *१७७*
उद्‌बोधन : धर्म धारण करें! १८१
विपश्यना साधना - एक परिचय ....
(ले. : ग्राहम गाम्बी) (*हिन्दी अनुवाद*) १८२
दस दिन का अभ्यास क्रम १८५
उद्‌बोधन : स्व-पर गुण दोष दर्शन १८७
विपश्यना भावना और जीवन के लिए उसका महत्त्व (१) ....
ले. श्यामाप्रमाद “प्रदीप” (दैनिक "आज", वाराणसी) .. *१८८*
सभी धर्मों, सभी विचारों के लिए समान रूप से ग्राह्य - साधना........ १८८
विपश्यना का प्रादुर्भाव १८८
सरल प्रक्रिया.. १९०

चतुर्थ प्राणायाम की तरह १९१

उद्‌बोधन : यथाभूत ज्ञानदर्शन..१९२

विपश्यना भावना और जीवन के लिए उसका महत्त्व (२)...................

ले. श्यामाप्रमाद “प्रदीप” (दैनिक "आज", वाराणसी)...१९३

जन्म-जन्मान्तर से अर्जित विकारों को नष्ट करने की प्रक्रिया १९३

विपश्यना की विधि १९५

बहुत ही वैज्ञानिक १९६

उद्‌बोधन : सौमनस्यता बढ़ायें १९८

विपश्यना भावना और जीवन के लिए उसका महत्त्व (३)...................

ले. श्यामाप्रमाद “प्रदीप” (दैनिक "आज", वाराणसी)...१९९

मज्जन फल देखिय तत्काला : यहीं और इसी समय लाभ १९९

तुलनात्मक दृष्टि से २००

अद्भुत उपचार २०१

धर्म क्या है ? २०३

विपश्यना साहित्य २०९

विपश्यना साधना केंद्र.......................................२११

पत्रिका संग्रह भाग १

(जुलाई १९७१ से जून १९७२ तक)

उद्बोधन : सत्यधर्म

प्यारे साधक साधिकाओ!

देखो! सत्य-धर्म का उजाला फैलने लगा है। पाप का अंधकार खत्म होने का समय समीप आ रहा है। आओ! इस मंगलमय धर्मवेला का लाभ उठाएं और अपने अंतर को धर्म के प्रकाश से जगमगा लें। अपने भीतर भरा हुआ सारा अंधेरा, सारा कल्मष दूर कर लें।

हमारे अंतर्मन की अतल गहराइयों में जो राग समाया हुआ है, द्वेष समाया हुआ है, मोह-मूढ़ता समाई हुई है, उसे दूर करें। राग, द्वेष और मोह ही तो पाप का अंधकार है। इसे हटाना ही धर्म का प्रकाश है। हमारा बड़ा पुण्य है कि हमें ऐसा सहज सरल मार्ग मिला, जिससे कि हम अपने अंतर्मन को धोकर सत्य-धर्म की पवित्रता धारण कर सकें। आओ! इस अवसर का पूरा-पूरा लाभ उठाएं।

इस मार्ग पर चलने के लिए यह कदापि अनिवार्य नहीं है कि हम अपने आपको बौद्ध कहने लगें। हम अपने आपको बौद्ध कहें या न कहें, परंतु यदि हम उस महाकारुणिक भगवान तथागत के बताए हुए सहज सरल तरीके को अपनाकर अपने भीतर का राग, द्वेष और मोह का कल्मष दूर कर लें तो निश्चय ही इसमें हमारा लाभ है, इसमें हमारा हित-सुख है। फिर हम अपने आपको चाहे जिस नाम से पुकारें, हम कल्याणकारी मार्ग के सच्चे अनुयायी हैं ही; हम दुःख-निरोधगामिनी प्रतिपदा के सच्चे पथिक हैं ही; सभी दुःख से छुटकारा पाने के सच्चे अधिकारी हैं ही।

सच्चे धर्म के अभाव में ही हम ऊंच-नीच की दीवारें बनाकर मनुष्य-मनुष्य में विभाजन पैदा कर लेते हैं। सच्चा धर्म इन दीवारों को तोड़ता है, हर प्रकार के विभाजन को मिटाता है, एकता के धरातल पर ऐसे मानवीय समाज का गठन करता है, जहां कोई जन्म-जात ऊंच-नीच का भेद-भाव नहीं होता। हां यदि कोई भेद-भाव होता है तो यही कि कौन कितना शीलवान है? कितना समाधिवान है? कितना प्रज्ञावान है? परंतु यह विभेद भी स्थायी नहीं है, शाश्वत नहीं है, किसी बाह्य शक्ति द्वारा पूर्व निश्चित या पूर्व निर्धारित नहीं है। हर मनुष्य इस बात की क्षमता रखता है कि वह अपने सत्प्रयत्नों द्वारा अधिक से अधिक शीलवान बनकर कायिक और वाचिक दुष्कर्मों से बच सके, अधिक से अधिक समाधिवान बनकर अपने मन को वश में करना सीख सके और अधिक से अधिक प्रज्ञावान बनकर राग, द्वेष और मोहरूपी चित्त-मैल से छुटकारा पा सके। जो सम नहीं है, उसे समता प्राप्त करने का पूरा-पूरा अधिकार है, पूरी-पूरी सहूलियत है।

शील, समाधि और प्रज्ञा में पूर्णतया प्रतिष्ठापित हो जाने वाला व्यक्ति स्वभावत: मैत्री और करुणा के ब्राह्मी गुणों से परिप्लावित हो उठता है। उसके मन में द्वेष और दौर्मनस्य, अहंकार और धृणा, भय और कायरता रह ही नहीं सकती। न वह जाति, वर्ण, कुल और धन के गर्व में अहंभावना का शिकार होता है और न ही इनके अभाव में हीनभावना का। कोई व्यक्ति किसी भी जाति, कुल, वर्ण या संप्रदाय में जन्मा हो, धनवान हो या निर्धन हो, विद्वान हो या अनपढ़ हो, यदि वह शील, समाधि और प्रज्ञा में प्रतिष्ठित है तो निश्चय ही वह पूर्ण मानव है, अत: महान है।

तो आओ! मानवता के इस सही माप दण्ड से अपने आप को मापते रहने का अभ्यास बढ़ाएं और जब कभी अपनी शील, समाधि और प्रज्ञा में जरा भी कमी देखें तो उनकी पुष्टि के प्रयत्न में लग जायं और इस प्रकार अपना सच्चा कल्याण साधें।

----o---

धर्म-चक्र

आज धर्म-चक्र-प्रवर्तन दिवस है। आज ही के दिन विपश्यना मार्ग के आदि प्रवर्तक भगवान बुद्ध ने धर्म-चक्र का प्रवर्तन किया था। सम्यक संबोधि प्राप्त करने के बाद यह उनका पहला धर्म उपदेश था। धर्म के नाम पर भांति-भांति के बहकावों में भटकती हुई जनता को इस बोधिप्राप्त महापुरुष ने सत्य-धर्म का प्रकाश दिया मानो लोक-चक्र में उलझी हुई जनता के बीच धर्म का चक्र चलाया इसीलिए यह उपदेश धर्म-चक्र प्रवर्तन कहलाया। उन्होंने शील, समाधि और प्रज्ञामय शुद्ध धर्म का ही सत्य-स्वरूप प्रकाशित किया।

जब हम अंध-विश्वासों में डूब जाते हैं तब उन सारी बातों को धर्म समझने लगते हैं, जिनका कि धर्म से कोई लेन-देन नहीं होता। धर्म का सत्य-स्वरूप हमारी आंखों से दूर हो जाता है। सत्य का सार हाथ नहीं लगता तो हम ऊपर के छिलकों को ही सार समझकर उन्हें ही महत्त्व देने लगते हैं। इन छिलकों से ही चिपक कर, इनमें ही उलझे रहकर, हम अपने आपको धर्मवान मानने की भूल करते रहते हैं जबकि हममें न शील होता है, न चित्त एकाग्र करने वाली समाधि होती है और न ही चित्त-विशोधिनी प्रज्ञा होती है। अज्ञान अवस्था में धर्म के नाम पर चलने वाले इस लोक-चक्र में हम पिसते चले जाते हैं। बुद्ध जैसा कोई महापुरुष ही हमें इस दु:खरूपी लोक-चक्र से बाहर निकलने की राह सुझाता है।

भगवान गौतम बुद्ध की यही सम्यक संबोधि थी कि उन्होंने दु:ख की सच्चाई को जाना, उसके कारण की सच्चाई को जाना, उसके निवारण की सच्चाई को

जाना और उस निवारण के मार्ग की सच्चाई को जाना। इन चारों आर्य-सत्यों को केवल जाना ही नहीं बल्कि उनका भली-भांति चिंतन-मनन भी किया। और केवल चिंतन-मनन करके ही नहीं रह गए, बल्कि उनके व्यावहारिक पक्ष का पूरा प्रयोग करके यथार्थतः नितांत दुःख-निरोध रूपी निर्वाण का स्वयं साक्षात्कार भी किया। निर्वाण यानी वह स्थिति जहां दुःख के कारणों का नामो-निशान न रहे, अतः दुःख का भी नामो-निशान न रहे। ऐसी स्थिति यदि केवल हमारे चिंतन-मनन द्वारा सैद्धान्तिक जानकारी तक ही सीमित रह जाय तो उससे हमारा वास्तविक लाभ नहीं होता। केवल यह जान लेने और समझ लेने मात्र से कि रसगुल्ला मीठा है हमारा मुँह मीठा नहीं हो जाता। उसके लिए तो हमें रसगुल्ला जीभ पर रखना ही होता है। केवल मात्र यह जान लेने से और समझ लेने से कि दूध पुष्टिकारक है, हमारी देह पुष्ट नहीं हो जाती। इसके लिए तो हमें दूध पीना ही होता है। जानना और समझ लेना हमारे कल्याण की पहली सीढ़ियां हैं। परंतु केवल जानकर और समझकर ही हम रुक जायँ और जानी समझी हुई बात को अपने जीवन में न उतारें तो वह जानना-समझना व्यर्थ गया। तब तो वह कोरा बुद्धि-विलास हुआ, कोरी दिमागी कसरत हुई। और यही तो हम करते रहते हैं। धार्मिक और दार्शनिक सिद्धांतों के ऊहापोह में, वाद-विवाद में, चर्चा-परिचर्चा में, बहस-मुबाहिसा में, खंडन-मंडन में, तर्क-वितर्क में, व्यंजन-विश्लेषण में, समझने-समझाने में, सुनने-सुनाने में, पढ़ने-पढ़ाने में, लिखने-लिखाने में और बोलने-बतलाने में ही हम अपना सारा जीवन बिता देते हैं और दुर्भाग्य यह है कि इसी में अपने जीवन की सफलता भी मान बैठते हैं। अजीब संतोष होता है हमें अपनी धर्म जिज्ञासा पूरी कर लेने में तथा बौद्धिक स्तर पर जाने हुए उस ज्ञान को किसी लच्छेदार भाषा में व्यक्त कर सकने की क्षमता प्राप्त कर लेने में। इस आत्म-संतुष्टि को ही हमने जीवन का अंतिम लक्ष्य मान लिया है। सचमुच कैसा सुनहला मृग-जाल है यह जिसमें कि हम इतनी आसानी से फँस जाते है और फिर इन बंधनों को ही आभूषण मानकर गर्व भी अनुभव करने लगते हैं।

धर्म के रहस्य को जानना बंधन नहीं है, उसे भली-भांति समझना भी बंधन नहीं है, परंतु इतने से ही संतोष मान लेना एक ऐसा बंधन है, जिससे छुटकारा पाना बड़ा कठिन है। इसलिए भगवान ने अपने इस प्रथम धर्म-उपदेश में इस बात पर बल देते हुए कहा, "मैने केवल धर्म के सार को जाना और समझा ही नहीं है, बल्कि उसके क्रियात्मक स्वरूप का, व्यावहारिक अभ्यास करके स्वयं निर्वाण-रस को चखा है और दुःखों से नितांत विमुक्ति पायी है। इन चारों आर्य-सत्यों को इस प्रकार तिहरे रूप में - यानी **जानने समझने और कर लेने** के पश्चात ही, इन चारों आर्य-सत्यों का बारह प्रकार से यथाभूत ज्ञान-दर्शन कर पूर्णतया विशुद्ध हो जाने के पश्चात ही, मेंने इस बात की घोषणा की है कि मैं सम्यक संबुद्ध हो गया हूं, मैंने

अनुपम, अनुत्तर सम्यक संबोधि प्राप्त कर ली है।"

धर्म-चक्र-प्रवर्तन सूत्र का यही गूढ़ रहस्य है कि हम परम सत्यों को केवल बौद्धिक स्तर पर जानकर और समझकर ही संतोष न मान लें, प्रत्युत चित्त शोधन करने वाली भावानामयी प्रज्ञा द्वारा व्यावहारिक स्तर पर उनका यथार्थ स्वानुभव कर प्रत्यक्ष लाभ हासिल करें। क्या है यह भावनामयी प्रज्ञा?

प्रज्ञा तीन प्रकार की होती है। पहली है श्रुतमयी प्रज्ञा यानी वह जो कि हमें सुनने या पढ़ने से प्राप्त हुई हो। दूसरी है चिंतनमयी प्रज्ञा यानी वह जो कि चिंतन मनन द्वारा पुष्ट हुई हो और तीसरी है भावनामयी प्रज्ञा यानी वह जो कि अपने ही अनुभव, अभ्यास और यथाभूत दर्शन द्वारा उपलब्ध हुई हो। यह सत्य है कि प्रथम दोनों प्रकार की प्रज्ञाएं निर्रथक नहीं हैं। बिना किसी ज्ञान को भली-भांति जाने समझे हुए हम उसका अभ्यास कैसे कर सकेंगे? परंतु वास्तविक कल्याण तो इस तीसरी प्रज्ञा से ही हो सकता है जो कि वस्तुतः हमारे मन में समाए हुए राग, द्वेष, मोह, मात्सर्य, ईर्ष्या, अहंकार, भय, उद्विग्नता आदि गंदगियों को दूर करके चित्त को विशुद्ध करती हुई दुःख निरोधक स्थिति का साक्षात्कार करवाती है। धर्म का यह व्यावहारिक पक्ष ही सही माने में कल्याणकारी है। इसे हासिल किये बिना दुःख से विमुक्ति नहीं, दुःख से छुटकारा नहीं।

शास्त्रीय ज्ञान को पालि में परियत्ति धर्म कहते हैं। यह भी एक सीमा तक कल्याणकारी है, क्योंकि इस परियत्ति धर्म द्वारा हमें प्रेरणा मिलती है कि हम प्रतिपत्ति धर्म यानी धर्म के व्यावहारिक पक्ष की ओर बढ़ें। परंतु वस्तुतः यह व्यावहारिक पक्ष यानी प्रतिपत्ति धर्म ही है जो कि हमें प्रतिवेधन धर्म तक यानी अंतिम लक्ष्य निर्वाण तक पहुँचाता है और हमारे दुःख दूर करता है। इस प्रतिपत्ति धर्म के बिना परियत्ति धर्म और प्रतिवेधन धर्म की कड़ियां परस्पर जुड़ नहीं पातीं। केवल मात्र परियत्ति यानी शास्त्रीय धर्म की पूरी जानकारी कर लेने वाला व्यक्ति प्रतिवेधन धर्म तक यानी-विमुक्ति-मोक्ष तक पहुँच नहीं सकता। अतः यह व्यावहारिक प्रतिपत्ति ही बीच की वह कड़ी है जो कि लक्ष्य प्राप्ति के लिए नितांत अनिवार्य है।

आखिर क्या है यह प्रतिपत्ति धर्म? यह जो आठ अंग वाला धर्म-पथ है, इसे ही भगवान ने दुःख-निरोध-गामिनी-प्रतिपदा कहा है। इस प्रतिपदा पर चलना ही प्रतिपत्ति धर्म है। सम्मा दिट्ठि, सम्मा संकप्पो, सम्मा वाचा, सम्मा कम्मन्तो, सम्मा आजीवो, सम्मा वायामो, सम्मा सति और सम्मा समाधि वाला यह आर्य-अष्टांगिक मार्ग, प्रज्ञा, शील और समाधि के अंतर्गत पूरी तरह समा जाता है, जो कि केवल व्यावहारिक ही व्यावहारिक है। शील समाधि और प्रज्ञा का स्वयं

अभ्यास किये बिना हम इस पथ के पथिक कैसे बन सकते हैं? इस कल्याणकारी दुःख-निरोधी पथ की हम हजार व्याख्या कर लें, हजार वर्णन कर लें, इसे हजार जान लें, समझ लें, परंतु स्वयं इस पर एक पग भी न चलें तो कैसे हमारी चित्त-विशुद्धि होगी? कैसे हमारे दुःखों का निरोध होगा?

भगवान बुद्ध का एक विरुद है– **"विज्जाचरणसम्पन्नो"** अर्थात वे केवल विद्या में ही संपन्न नहीं थे, बल्कि आचरण में भी संपन्न थे और यह आचरण की ही संपन्नता थी, जिसने कि बोधिसत्त्व गौतम को सम्यक संबुद्ध बनाया। यह उनकी 'यथावादी तथाकारी' वाली विशेषता ही थी, जिसने कि उन्हें विश्व-वन्द्य तथागत बनाया। भगवान बुद्ध का तो सारा जीवन ही व्यावहारिक जीवन था। उन्होंने इस मार्ग का पहले स्वयं अवलंबन किया और फिर इस पर ठीक तरह चल सकने के लिए लोगों को विपश्यना साधना का यह सहज सरल तरीका सिखाया।

विपश्यना मार्ग के उस प्रथम आचार्य की प्रथम धर्म-देशना की चर्चा करते हुए विगत २५०० वर्ष की उस संपूर्ण आचार्य परंपरा की ओर हमारा ध्यान अपने आप खिंच जाता है, जिसने कि धर्म के इस व्यावहारिक पक्ष को अपने साधनामय जीवन द्वारा भावी पीढ़ियों के लिए जीवंत रखा। इस मगलमयी परंपरा को अटूट बनाए रखने वाले आचार्यों की इस लंबी शृंखला में ही हमारे परमपूज्य गुरुदेव सयाजी ऊ बा खिन आते हैं, जो कि इस सक्रिय धर्म साधना के एक जगमगाते हुए नक्षत्र थे। भगवान बुद्ध से लेकर सयाजी ऊ बा खिन तक की सारी गुरु परंपरा के प्रति अपनी हार्दिक कृतज्ञता और अभिवंदना प्रकट करते हुए हम उस शिष्य परंपरा को स्वस्थ करें, जो कि उनके गौरव के अनुकूल हो। आज के इस पुण्य दिवस की सफलता इसी बात में है कि हम उस महाकारुणिक आदिगुरु भगवान बुद्ध के और इस युग के महान विपश्यना आचार्य सयाजी ऊ बा खिन और मां सयामा के आदर्श शिष्य बनें और धर्म को अपने जीवन का अंग बनाएं, स्वभाव का अंग बनाएं ! गुरु पूर्णिमा पर गुरुजनों के प्रति यही सच्ची श्रद्धाजंलि है, यही उनका सच्चा पूजन-वंदन है।

ऊ बा खिन

मैं तो भगवान बुद्ध के व्यावहारिक धर्म का एक विद्यार्थी मात्र हूं और हूं एक प्रयोगवादी। इस मार्ग द्वारा शक्ति के स्वभाव की सच्चाइयों का अन्वेषण कर रहा हूं।

(वर्ष १ बुद्धवर्ष २५१५ आषाढ़ पूर्णिमा दि. ०७-०७-७१ अंक १)

उद्‌बोधन : सविवेक श्रद्धा

प्यारे साधक-साधिकाओ!

धर्मप्रज्ञा जाग्रत रहे!

आओ! आज तुम्हें बुद्ध के जीवनकाल की एक घटना सुनाऊं।

वक्कलि नाम का एक विद्वान उपासक भगवान बुद्ध के आश्रम में गया। महापुरुषों के ३२ लक्षणों से परिपूर्ण तथागत के सुंदर तेजस्वी शरीर ने, उनके प्रभावशाली ओजस्वी व्यक्तित्त्व ने, उस भावुक उपासक को सहज ही आकर्षित कर लिया। उन भगवान अंगिरस के अंग-अंग से जो प्रभा-रश्मियां प्रस्फुटित हो रही थीं, उन्होंने वक्कलि को भावाभिभूत कर दिया। उनके अंतर से उमड़ने वाली अपरिमित मैत्री और करुणा तरंगों का गहरा प्रभाव भी था ही। वक्कलि ने चाहा कि वह भगवान की इस अनुपम रूप-राशि का ही दर्शन करता रहे। अतः वह घर से बेघर हो, दाढ़ी-मूंछ मुंड़ाकर, प्रव्रजित हुआ और भिक्षु संघ में सम्मिलित हो गया। केवल इसीलिए कि उसे भगवान का सान्निध्य-सुख अधिक से अधिक प्राप्त हो सके। अब वह भक्ति के आवेश में रस-लोलुप भौंरे की तरह भगवान की रूप-माधुरी के चारों ओर मंडराने लगा। न उसे शील का ध्यान, न समाधि द्वारा चित्त एकाग्रता का अभ्यास और न ही विपश्यना द्वारा प्रज्ञा जाग्रत करने का कोई प्रयास। जब देखो तब, भगवान के सामने बैठा हुआ उनके प्रभा-मंडित चेहरे को अपलक निर्निमेष देखता रहे। करुणामय भगवान तथागत ने देखा कि यह नया भिक्षु भक्ति-भावावेश में इतना अंधा हो गया है कि धर्म का सत्य स्वरूप समझ ही नहीं पा रहा है।

उन्होंने उसे फटकारते हुए कहा- "ये भोले भिक्षु! मेरे इस शरीर को पागलों की तरह क्या देख रहे हो? मेरे इस रूप में, इस काया में क्या रखा है? मेरी यह काया भी भीतर से उतनी ही गंदी है जितनी कि किसी भी अन्य की काया। यदि मुझे देखना है तो मेरे भीतर समाये हुए धर्म को देखो। जो धर्म को देखता है, वही मेरे सच्चे स्वरूप को देखता है। जो सही माने में मुझे देखता है, वह मेरे भीतर समाये हुए सत्य धर्म को ही देखता है, बाह्य शरीर को नहीं।"

यो खो वक्कलि धम्मं पस्सति सो मं पस्सति,
यो मं पस्सति सो धम्मं पस्सति॥

(संयुत्तनिकाय २.१०९)

महाकारुणिक की इस धर्म फटकार से अंध-भक्ति के भावावेश में डूबे हुए वक्कलि भिक्षु के प्रज्ञा-चक्षु खुले। उसे भगवान की यह बात समझ में आयी कि

वस्तुतः वे धर्म के मूर्त स्वरूप ही तो हैं। अतः उनका दर्शन यदि काया-दर्शन तक ही सीमित रहा तो महज पागलपन ही हुआ। उनके दर्शन में सत्य-धर्म का दर्शन होना ही चाहिए, **'दिट्ठ-धम्म-निब्बाण'** का दर्शन होना ही चाहिए। और यह सांदृष्टिक निर्वाण धर्म तो अंतर्मुखी होकर स्वयं अपने ही भीतर देखने के लिए है, बाहर नहीं। बात उसकी समझ में आ गयी। विपश्यना प्रज्ञा द्वारा अपने भीतर का सत्य-धर्म दर्शन किये बिना जीवन भर बुद्ध के चीवर को पकड़े हुए उनके पीछे लगे रहने वाला उनसे कोसों दूर ही है। परंतु उनसे हजार योजन दूर कहीं किसी एकांत में अंतर्मुखी होकर सत्य-धर्म का अपने भीतर ही साक्षात्कार कर लेने वाला बुद्ध के समीप ही है। धर्म का साक्षात्कार ही तो बुद्ध का साक्षात्कार है। धर्म का सान्निध्य ही तो बुद्ध का सान्निध्य है। आखिर बुद्ध क्या है? 'सम्यक संबोधि' का जीता जागता स्वरूप ही तो बुद्ध है।

यह बात समझ में आते ही वक्कलि पर छाया हुआ भक्ति-भावावेश का अंध-टोप दूर हुआ। सत्य-धर्म का आलोक प्रकाशित हुआ। उसने भगवान से विपश्यना साधना का कर्मस्थान सीखा, अंतर्मुखी होने की सरल विधि सीखी और दूर एकांत में जाकर अभ्यास करने लगा। पुराने भक्ति-भावावेश ने बीच-बीच में कुछ अड़चनें पैदा कीं परंतु अंततः वह सच्चा साधक निर्वाण का साक्षात्कार कर कृत-कृत्य हुआ। सभी आस्रवों, क्लेशों, संयोजनों और बंधनों को दूर कर मृत्यु के पूर्व इसी जीवन में विमुक्त अवस्था को प्राप्त हुआ।

तो हम देखते हैं कि अंध-भक्ति, अंध-विश्वास और अंध-श्रद्धा का भयावह भावावेश साधक की सही उन्नति में सदा बाधक ही सिद्ध होता है।

भगवान ने कहा – **"तुम्हेहि किच्चं आतप्पं, अक्खातारो तथागता"** यानी तथागत तो केवल मार्ग आख्यात करने वाले हैं, विधि समझा देने वाले है, आखिर काम तो तुम्हें ही करना पड़ेगा। सारा रास्ता तो तुम्हें स्वयं ही चल कर पार करना होगा। इस यथार्थ से आंख मूंदकर भावुकता-वश हम बुद्ध को अथवा अन्य किसी छोटे बड़े गुरु को तारक मानकर उसके प्रति अंध-श्रद्धा और अंध-भक्ति में डूब कर उसी के आश्रित हो जायँ, साधना-धर्म का अभ्यास छोड़ दें और अपने आपको बिल्कुल असमर्थ और निर्बल समझने लगें तो सचमुच पंगु और निकम्मे ही बन कर रह जाएंगे। धर्म के नाम पर ऐसी भक्ति-भावावेशमयी हीन भावना हमारे लिए कदापि कल्याणकारी नहीं हो सकती। सच्चे कल्याण के लिए हमें अपना आत्मबल जीवित रखना ही होगा। आत्मबल जीवित रखना और मुक्तिपथ पर चलने के लिए अपनी जिम्मेदारियों के प्रति जागरूक रहना अहंमन्यता नहीं है।

विमुक्ति-मार्ग पर चलने के लिए आत्मभाव की अहंमन्यता से बचना नितांत आवश्यक है। अपने भीतर समाए हुए अहंकार-ममंकार को निकाल देना अनिवार्य

है। परंतु अहंकार निकालने के नाम पर अपने मन में हीन भावना भर लेना और उसे दुर्बल और परावलंबित बना लेना, विनाशकारी अहंकार के विरुद्ध उठाया गया एक ऐसा कदम है जो कि हमें इस एक छोर से बिल्कुल दूसरे छोर तक पहुँचाता है। यह दूसरी अति है, जो कि हमारे लिए उतनी ही हानिकारक है। हमें तो बीच का रास्ता अपनाना है, इन उभय अंतों को छोड़ कर कल्याणकारी मध्यम मार्ग अपनाना है, जिसमें कि एक ओर न तो अहंभाव, आत्मभाव के कारण हमारा सिर गूंज उठे और हम अपने को छोड़कर और किसी को कुछ समझें ही नहीं और न दूसरी ओर हममें ऐसी हीन भावना ही पैदा हो जाय, जिससे कि हम पराये आसरे को पड़कर अपने आपको बिल्कुल निकम्मा ही बना लें।

अपने कल्याणमित्र मार्गदर्शक धर्म-गुरु के प्रति नैसर्गिक श्रद्धा, भक्ति और कृतज्ञतापूर्ण विनम्रता बनाए रखना गलत नहीं है। परंतु इसके साथ-साथ हमारे ज्ञान-विवेक की आंखें भी खुली रहनी चाहिए। अपने गुरु के प्रति अंध-श्रद्धा, अंध-भक्ति और अंध-विश्वास में डूब जाना और उसके हर कार्य में, हर बोल में चमत्कार देखना, अलौकिकता देखना, जितना साधकों के लिए हानिप्रद है, उतना ही स्वयं आचार्य के लिए भी है। इस अंधे भावावेश में जहां शिष्य और आचार्य डूबे, वहीं मार्ग का भी पतन हो जाता है। इतिहास साक्षी है– किस प्रकार भगवान की यह कल्याणकारी विपश्यना पद्धति सिद्धियों और चमत्कारों के चक्कर में पड़े हुए धर्म-नेताओं और उनके अंधानुयायियों के कारण इस देश से सर्वथा लुप्त ही हो गई। स्वयं गुरुओं ने गुरु की महिमा गा-गा कर और उनमें अलौकिक शक्तियों की अतिरंजित व्याख्या कर-करके लोगों की अंध-श्रद्धा का पोषण किया जिससे कि गुरुओं का मान-सम्मान बढ़े, उनके लाभ-सत्कार में अभिवृद्धि हो। आचार्यों की यशलिप्सा ने ही इस विशुद्धि-मार्ग को दूषित किया और इस प्रकार भगवान तथागत के बाद चंद सदियों में ही भारतवर्ष से इस कल्याणकारी मार्ग का लोप हो गया। शील, समाधि और प्रज्ञा का यह परम परिशुद्ध धर्म, विपश्यना साधना के सहारे एक लंबे अरसे बाद इस देश में पुनः आया है। इस मार्ग की विशुद्धि कायम रहे, जिससे कि सद्धर्म चिरकाल तक प्रतिष्ठित होकर लोगों को लाभ पहुँचाता रहे। इसके लिए यह नितांत आवश्यक है कि कोई भी साधक-साधिका अपने मार्ग-निर्देशक आचार्य में कभी किसी प्रकार के अलौकिक चमत्कार का आरोपण न करे। उसके प्रति मिथ्या ईश्वरत्व भाव रखकर किसी अंध-श्रद्धा में न डूबे। तभी गुरु-शिष्य की एक स्वस्थ, स्वच्छ, आदर्श धर्ममय परंपरा स्थापित हो सकेगी, जो कि चिरकाल तक बहुजन हिताय, बहुजन सुखाय बनी रहेगी। पूर्व संस्कारों के कारण कहीं-कहीं किसी-किसी विपश्यना साधक में ऐसा अंध-विश्वास जागने लगता है जिसे शीघ्र मिटाना चाहिए।

हम सबका कल्याण इसी बात में है कि हम इस ध्रुव सत्य को समझते रहें कि

स्वयं अपने भीतर जाग्रत हुए अनित्यबोध की इस विपश्यना चेतना से बढ़कर और कोई शरण देने वाला है ही नहीं। झूठी कल्पनाओं और थोथी आशाओं में हम अपने आपको न डूबने दें और सदैव अपने भीतर के इस विपश्यना चैतन्य को ही जगाए रखें।

प्रतिक्षण भीतर ही भीतर जो कुछ अनुभूत हो रहा है, वह अनित्य है, क्षण भंगुर है, नश्वर है, परिवर्तनशील है, ऐसा तो इसका स्वभाव ही है, ऐसी तो इसकी प्रकृति ही है, ऐसा तो इसका धर्म ही है। सूक्ष्मातिसूक्ष्म अष्टकलापों से बना हुआ, परमाणु कणों से बना हुआ, यह शरीर प्रपंच पानी के बुलबुलों की तरह प्रतिक्षण बनता और नष्ट होता रहता है। इन्हीं परमाणु कणों के साथ जुड़ी हुई यह चित्त-संतति भी इसी प्रकार उत्पन्न और नष्ट होती रहती है। शरीर और चित्त की यह मिली जुली जीवनधारा कितनी भंगमान है, किस प्रकार प्रतिक्षण भंग ही हो रही है, इस सच्चाई को विपश्यना की सम्यक दृष्टि द्वारा देखते रहें। यही चित्त-विशोधन का मंगल-मार्ग है। इस समय हमें जिस सत्य के दर्शन हो रहे हैं, उसी के प्रति जागरूक रहना हमारा धर्म है। किसी भावी स्वप्निल स्थिति की मधुर कल्पना और आसक्तिभरी कामना हमारी प्रगति का सबसे बड़ा बाधक है, उससे बचें।

विपश्यना धर्म वर्तमान में जीने का धर्म है। इस समय जो जैसा अनुभूत हो रहा है, वही हमारे काम का है। न भूतकाल जो कि बीत चुका है और न भविष्य जो कि अभी तक आया नहीं। अतः कल्पनाओं और कामनाओं से बचें। थोथी आशाओं और आकांक्षाओं से बचें। निस्सार परावलंबन से बचें अपनी प्रज्ञा स्वयं जगाकर इस क्षण के यथार्थ का दर्शन करते रहें। यही **"अत्तसम्मा पणिधि"** है, सम्यक आत्म-प्रणिधान है, स्वावलंबन है, स्व-स्थित सत्य का आलंबन है, धर्म का आलंबन है, ज्ञान, विवेक, विद्या, आलोक, प्रज्ञा और बोधि का आलंबन है। आओ इसी आलंबन में जीयें!

---o---

धर्म ही रक्षक है

अपने भविष्य की सुरक्षा के लिए चिंतित रहना मनुष्य मन का स्वभाव बन गया है। आने वाले क्षण सुखद हों, योग-क्षेम से परिपूर्ण हों, इस निमित्त मानव भांति-भांति की शरण खोजता है, आश्रय ढूंढ़ता है, सहारा टटोलता है। परंतु धर्म को छोड़कर न कोई ऐसी शरण है, न कोई ऐसा आश्रय है, न कोई ऐसा सहारा है जो कि उसे भविष्य के प्रति निशंक बना दे, निर्भय बना दे, योग-क्षेम से परिपूर्ण कर दे। अतः धर्म की शरण ही एक मात्र शरण है, धर्म का संरक्षण ही एक मात्र

सही संरक्षण है। और धर्म वह जो हमारे भीतर जागे, धर्म वह जिसे हम स्वयं धारण करें। किसी दूसरे के भीतर जागा हुआ धर्म, किसी दूसरे द्वारा धारण किया हुआ धर्म, हमारे किस काम का? वह तो अधिक से अधिक हमें प्रेरणा प्रदान कर सकता है, विधि प्रदान कर सकता है, जिससे कि हम स्वयं अपने भीतर का धर्म जगाएं, अपने भीतर का प्रज्ञा-प्रदीप-प्रज्वलित करें परंतु हमारा वास्तविक लाभ तो स्वयं धर्म धारण करने में ही है। अतः धर्म शरण का सही अभिप्राय आत्म-शरण ही है। तभी तो भगवान ने कहा– **अत्तसम्मा पणिधि च एतं मङ्गलमुत्तमं**। यानी हमारा उत्तम मंगल इसी बात में है कि हम सम्यक प्रकार से अर्थात भली-भांति आत्म-प्रणिधान का अभ्यास करें। किसी भी बाह्य शक्ति के प्रति प्रणिधान का अभ्यास तो हमें केवल मात्र कायर, परावलंबी और असमर्थ ही बना देने वाला साबित होगा। यह आत्म-द्वीप और आत्म-शरण ही है, जो कि सही माने में धर्म-द्वीप और धर्म-शरण है। हर संकट के समय हम अपने भीतर का धर्म जगाएं। अपने भीतर धारण किये हुए धर्म द्वारा एक ऐसा सुरक्षित द्वीप बनाएं जिसमें कि हमारे जीवन की डगमगाती हुई नैया सही संरक्षण पा सके, संकटों से हमारी सुरक्षा हो सके।

हम देखते हैं कि भगवान बुद्ध के जीवनकाल में जब बड़े-बड़े महास्थविर भी रोग-ग्रस्त हो जाते थे, शारीरिक दुर्बलता के कारण मानसिक दुर्बलता के शिकार हो जाते थे, तब उनके साथी उनके समीप धर्म-सूत्रों का विशेषकर बोध्यंग-सूत्र का पाठ करते थे, जिससे कि उनकी धर्म-चेतना जागे, उनके भीतर बोधि-धर्म की प्रज्ञा जागे। इसलिए इन सूत्रों को परित्राण सूत्र भी कहा जाने लगा। रुग्ण साधकों को इन सूत्रों से जो लाभ होता था, उसका प्रमुख कारण उनके भीतर प्रज्ञा धर्म की चेतना जागृत होना ही था। ये सूत्र तो प्रेरणा के साधन मात्र ही हुआ करते थे। विपश्यना साधना द्वारा शरीर के अणु-अणु में जिस उदय-व्यय का बोध जाग उठता है, नाम और रूप के सतत भंगमान स्वरूप का चैतन्य जाग उठता है, वही प्रज्ञाधर्म है, जो कि हमारे सब प्रकार के शारीरिक और मानसिक दुःखों को दूर करता है। प्रज्ञा के इस चैतन्य को जगाने के लिए कभी-कभी अनेक साधक रोगी के आस-पास बैठ कर सामूहिक विपश्यना-साधना करते हैं, जिससे कि रोगी की मंद पड़ी प्रज्ञा-चेतना नया बल प्राप्त करती रहे।

ऐसा लगता है कि कभी पुराने समय में रोगी साधक की विपश्यना-साधना की चेतना जगाने के लिए उनके हाथ में एक सूत का धागा बांधा जाता होगा और उस लंबे धागे का दूसरा छोर अन्य साधक पकड़े रखकर बोध्यंग जैसे परित्राण सूत्रों का पाठ करते होंगे तथा साधना करते होंगे, जिससे कि रोगी की सोयी हुई धर्म चेतना जाग उठती होगी। पड़ोस के बौद्ध देशों में आज भी ऐसे रक्षा-सूत्रों को

बांधकर परित्राण मंत्रों के पाठ की प्रथा कायम है। परंतु कहीं-कहीं तो यह एक निर्जीव रूढ़ि मात्र रह गयी है। एक अंध-विश्वास की परंपरा मात्र रह गयी है। यदि इन रक्षा सूत्रों का उपयोग करने वाले और परित्राण-मंत्रों का पाठ करने वाले सच्चे साधक अपने भीतर विपश्यना प्रज्ञा का चैतन्य जगाकर रोगी के प्रति मंगल मैत्री प्रवाहित करते हैं और यदि वह रोगी भी स्वयं विपश्यना साधक है और इन धर्म-तरंगों से उसके भीतर का प्रज्ञा-चैतन्य जाग उठता है तो निश्चय ही वह धर्म का संरक्षण पाता है इसके बिना तो यह एक निष्प्राण औपचारिकता मात्र ही है। मुख्य बात यही है कि हम अपने भीतर की प्रज्ञा जगाए रखें और इसके लिए समाधि द्वारा अपने चित्त की एकाग्रता पुष्ट रखें और कायिक, वाचिक दुष्कर्मों से बचते हुए अपने शील को अंखडित रखें। शील, समाधि और प्रज्ञा का यह विशुद्ध धर्म हम स्वयं अपने भीतर जितना सुरक्षित रखेंगे, यानी हम जितने-जितने धर्म-विहारी बनेंगे, उतने-उतने ही इस स्वयं पालन किये हुए धर्म द्वारा स्वयं धारण किये हुए धर्म द्वारा, स्वयं सुरक्षित किये हुए धर्म द्वारा अपना सुरक्षण, संरक्षण ही पायेंगे। भगवान ने ठीक ही तो कहा **'धम्मो हवे रक्खति धम्मचारिं'** धर्मचारी की रक्षा धर्म आप ही करता है। तो अपनी सही सुरक्षा के लिए स्वयं सच्चे धर्मचारी बनें, धर्म-विहारी बनें, धर्म-पालक बनें। इसी में हमारा मंगल निहित है, भला निहित है, कल्याण निहित है।

(वर्ष १ बुद्धवर्ष २५१५ श्रावण पूर्णिमा दि. ०५-०८-७१ अंक २)

भवतु सब्ब मङ्गलं!

उद्‌बोधन : वर्तमान क्षण

मेरे प्यारे साधक साधिकाओ!

धर्मप्रज्ञा जाग्रत रहे!

धर्मप्रज्ञा जाग्रत रखकर ही हम वर्तमान क्षण में जीना सीख सकेंगे। यह क्षण जो प्रत्युत्पन्न क्षण है, जो कि अभी-अभी उत्पन्न हुआ है, यही तो हमारे काम का है। जो क्षण बीत गये, उनको हम याद भले कर लें, पर उनमें हम जी नहीं सकते। जो क्षण अभी आये नहीं, उनकी हम कल्पना या कामना भले कर लें, परंतु उनमें हम जी नहीं सकते। हमारे जीने के लिए तो यही क्षण है जो अभी-अभी उत्पन्न हुआ है। अगर हम इस क्षण में जीते हैं, तो ही सही माने में जीते हैं, अन्यथा तो केवल मात्र जीने का बहाना करते हैं, वस्तुतः जीते नहीं। क्योंकि वर्तमान क्षण ही तो यथार्थ है और यथार्थ में जीना ही तो सही जीना है।

यह सच है कि प्रत्युत्पन्न क्षण, यानी अभी-अभी उत्पन्न हुआ क्षण, जरा देर के लिए भी टिकता नहीं। वह कितनी तेजी के साथ अतीत में विलीन होने के लिए भागा चला जा रहा है। परंतु इससे हमें निराश नहीं होना है। प्रत्येक वर्तमान क्षण जिस शीघ्रता के साथ भूतकाल की ओर भाग रहा है, उसी शीघ्रता के साथ आने वाला अगला क्षण उसका स्थान भी तो ले रहा है। भावी क्षण वर्तमान में धँसता चला आ रहा है। वर्तमान क्षण के विलीन होने के पूर्व नवीन क्षण उसका स्थान ले ही लेता है। इस प्रकार वर्तमान क्षण के अस्तित्व का क्रम बना रहता है। जिस द्रुत गति से वर्तमान क्षण उदय होता है, उसी द्रुत गति से लय भी हो जाता है। उदय और लय के बीच स्थिति के लिए भी जरा सा अवकाश नहीं रहता। इसी प्रकार जिस द्रुत गति से वर्तमान क्षण का लय होता है उसी द्रुत गति से उसके साथ जुड़े नए क्षण का उदय हो जाता है। इन दोनों के बीच जरा-सा भी अंतराल नहीं रहता। अगले क्षण से जुड़ते चले जाने के कारण इस क्षण के अस्तित्व का क्रम अनंत हो जाता है। इसीलिए कह सकते हैं कि इस अल्पजीवी लघुतम क्षण में जीना आ जाय तो अनंत में जीना आ जाय, अक्षय में जीना आ जाय। इस नन्हें से क्षण में जीने की कला हासिल करने के लिए ही यह विपश्यना साधना है, जिसमें कि हम इस क्षण उत्पन्न होने वाली स्थिति को बिना भूत और भविष्य के साथ जोड़े हुए उसके यथार्थ स्वरूप में देख सकने का अभ्यास करते हैं। हमारा यह अभ्यास अभी प्रारंभिक ही है और हम वर्तमान की सीमा को लघुतम बनाने का प्रयास कर रहे हैं। जैसे-जैसे यह परिधि संकुचित होती जायगी, वैसे-वैसे निकटतम अतीत और

निकटतम भविष्य के साथ भी हमारे संबंध विच्छेद होते चले जाएंगे और इसी अभ्यास में एक समय आयगा, जबकि हम लघुतम प्रत्युत्पन्न क्षण का साक्षात्कार करना सीख लेंगे। उसी का साक्षात्कार परम सत्य का साक्षात्कार है और वह इस विपश्यना पद्धति से सहज भाव से उपलब्ध हो जाता है। उसकी किंचित मात्र भी कामना या कल्पना उसकी उपलब्धि में बाधा बन जाती है।

यह सत्य है कि उस परम सत्य की उपलब्धि जब भी होगी, तो सहज भाव से ही होगी। परंतु उस स्थिति तक पहुँचने के लिए थोड़ा-बहुत प्रारंभिक अभ्यास तो करना ही पड़ेगा। कुशल तैराक सहज स्वभाव से तैरता है, कुशल ड्राइवर सहज स्वभाव से अपनी गाड़ी चलाता है, परंतु उसे यह सहज स्थिति प्राप्त करने के लिए प्रारंभिक अभ्यास तो करना ही पड़ा था। इसी प्रकार पहुँचा हुआ संत सहज भाव से निर्वाण का साक्षात्कार करता है, परंतु इसके लिए उसे भी कभी प्रारंभिक अभ्यास तो करना ही पड़ा था। कोई बात अनायास ही चमत्कारपूर्वक हो जायगी, अथवा किसी बाह्य शक्ति की दया-दृष्टि से हो जायगी, इस आशा में बैठे रहना अपने आपको धोखा देना है।

आरंभ में तो बिना प्रयत्न किए सामान्य शील पालन भी कठिन होता है। इसके लिए मन पर नियंत्रण और दमन का रास्ता ही अपनाना पड़ता है। यह जानते हुए भी कि हर नियंत्रण और दमन हमारे अंतर्मन में एक ग्रंथि पैदा करता है, जो कि कभी भविष्य में उन्हीं विकारों को प्रजनन करने वाली होती है, जिनसे कि हम मुक्त होना चाहते हैं। परंतु एक बार बाह्य शील भंग होने से बचने मात्र के लिए हमें यह तरीका अपनाना ही पड़ता है, ताकि कुछ समय के लिए दुश्शीलों से छुटकारा मिले, जिससे कि हम मन को देर तक एकाग्र कर सकने का अभ्यास कर सकें। इस प्रकार प्रयत्न द्वारा प्राप्त की हुई चित्त की यह एकाग्रता हमें अन्तर्मुखी हो कर विपश्यना द्वारा यथाभूत दर्शन कर सकने के योग्य बनाती है। जैसे-जैसे इस विपश्यना के अभ्यास में पुष्ट होते जाते हैं, वैसे-वैसे स्वभावतः मनोविकारों से छुटकारा मिलता जाता है और मन अपनी सहज स्वच्छता प्राप्त करने लगता है। मन को अपनी स्वाभाविक स्वच्छता प्राप्त हो जाय तो किसी भी प्रकार के दमन या नियंत्रण की आवश्यकता नहीं रह जाती। फिर तो सहज भाव से शील का पालन करना हमारे स्वभाव का एक अंग बन जायगा। इस सहज स्वभाव को हासिल कर सकने के लिए आरंभ में कोई अभ्यास ही न करे, ऐसा मान बैठना भी समझदारी नहीं है। जिसको समुद्र में तैरने की उत्कंठा हो उसे पहले पहल किसी छोटे से तालाब में तैरना सीखने के लिए पानी में उतरना ही पड़ता है और उसका वह प्रारंभिक अभ्यास कष्टदायी ही होता है। कभी पानी आंखों में, तो कभी कानों में, तो कभी नासिकाओं में और कभी मुँह में भर जाता है, और कभी-कभी तो लगता

है जैसे डूब ही जायगा। परंतु इन तमाम कठिनाइयों का सामना करने वाला व तैरने का इच्छुक शिक्षार्थी अभ्यास करते-करते किसी दिन न केवल उस छोटे से तालाब में, बल्कि खूब चौड़े पाट वाली नदी में भी और अन्ततः समुद्र में भी सहज भाव से तैरने लगता है। अब उसे पानी के ऊपर सिर रखने में कोई प्रयास नहीं करना पड़ता। यही बात प्रत्येक साधक पर लागू होती है। प्रारंभिक अभ्यास की कठिनाइयों में से गुजर जाने के बाद जो स्थिति उपलब्ध होती जाती है, वह सहज साध्य होती है, स्वभाव का अंग बन जाती है। इसलिए विपश्यना-साधना का अभ्यास तो तब तक करते ही रहना होगा, जब तक कि वह सहज सिद्ध स्वभाव न बन जाय।

विपश्यना के अभ्यास द्वारा हम वर्तमान क्षण में जीना सीखते रहें। वर्तमान में जीने का मतलब है– निर्वाण में जीना, मुक्त अवस्था में जीना। भूतकाल की स्मृतियां और भविष्य की कल्पना-कामनाएं हमारे वर्तमान को डुबोए रहती हैं। भूतकाल से पीछा तभी छूटेगा, जबकि चित्त पर से सारे अनुभूत संस्कार दूर हो जायँ। भविष्य से पीछा तभी छूटे जबकि सारी तृष्णाएं समाप्त हो जायँ।

विसङ्खारगतं चित्तं तण्हानं खयमज्झगा।

इसी अवस्था को प्राप्तकर भगवान बुद्ध के मुँह से हर्ष के उद्गार निकले जिन्हें हम उदान कहते हैं। उदान के इन्हीं शब्दों में उन्होंने अपनी मुक्ति का सिंह-नाद करते हुए कहा–

यानी यह चित्त नितांत संस्कार विहीन हो गया। किसी भी बांधने वाले संस्कार का नामलेश तक नहीं रहा और साथ ही साथ तृष्णा का पूर्णतया क्षय हो गया।

हर संस्कार हमारे भूतकाल की उपज है। भूतकाल की स्मृति है। भूतकाल की कड़ी है। अतः वर्तमान को भूतकाल से जोड़ने का काम करता है। वर्तमान क्षण के उत्पन्न होते ही वह भूतकाल के संस्कारों द्वारा दबोच लिया जाता है। बेचारा वर्तमान क्षण लुप्त हो जाता है, उस पर पूर्व संस्कारों का घटाटोप छा जाता है। इसी प्रकार हर तृष्णा आने वाले क्षणों के प्रति हमारी आशा है, तमन्ना है, स्वर्णिम स्वप्निल आकांक्षा है। जो कुछ अब नहीं है उसे पाने के लिए ही तृष्णा भविष्य की ओर आशा-भरी टकटकी लगाये रहती है और इस कारण वर्तमान क्षण के उत्पन्न होते ही उस पर छा जाती है। तुरंत उसका संबंध भविष्य के साथ जोड़ देती है। बेचारा वर्तमान फिर लुप्त हो जाता है। उस पर भविष्य की तृष्णाओं का घना कुहरा छा जाता है। जब तक संस्कार हैं और तृष्णाएं हैं, तब तक भूत से छुटकारा नहीं, भविष्य से छुटकारा नहीं। भूत और भविष्य से मुक्त होना संस्कारों और तृष्णाओं

से मुक्त होना है। वही विशुद्ध वर्तमान क्षण का जीवन है, वही निर्वाण है, वही मुक्त अवस्था है, वही मोक्ष अवस्था है। उसे विपश्यना द्वारा प्राप्त किया जा सकता है।

आओ! इस कल्याणकारी अवस्था को इसी जीवन में प्राप्त करें। विपश्यना के अभ्यास द्वारा पूर्व संस्कारों से पीछा छुड़ाएं। भविष्य के प्रति उत्पन्न होती रहने वाली तृष्णा से पीछा छुड़ाएं! निर्वाण में जीना सीखें! इसी में हमारा हित-सुख है, इसी में हमारा मंगल-कल्याण है!

भवतु सब्ब मङ्गलं!

---o---

धर्म का सर्वहितकारी स्वरूप

मनुष्य एक सामाजिक प्राणी है। समाज से अलग-थलग रहना उसके लिए न उचित है और न ही संभव। समाज में रहते हुए समाज के लिए वह कितना स्वस्थ सहायक बना रह सके, इसी में उसके जीवन की उपादेयता है, सार्थकता है। स्वस्थ व्यक्तियों से ही स्वस्थ समाज का निर्माण होता है। अस्वस्थ व्यक्ति स्वयं भी दु:खी रहता ही है, अपने संपर्क में आने वाले समाज के अन्य लोगों को भी उत्तापित ही करता रहता है। अतः सुखी स्वस्थ समाज का निर्माण करने के लिए व्यक्ति-व्यक्ति को सुख और स्वास्थ्य से भरपूर करना नितांत आवश्यक है। एक-एक व्यक्ति स्वच्छ-चित्त हो, शांत हो तो ही समग्र समाज की शांति बनी रह सकती है। धर्म इस व्यक्तिगत शांति के लिए एक अनुपम साधन है और इस कारण विश्व-शांति का भी एक मात्र साधन यही है।

धर्म का अर्थ संप्रदाय नहीं है, संप्रदाय तो मनुष्य-मनुष्य के बीच, वर्ग-वर्ग के बीच, दीवारें खड़ी करने, विभाजन पैदा करने का काम करता है। जबकि सच्चा धर्म दीवारों को तोड़ता है, विभाजनों को दूर करता है।

सच्चा धर्म मनुष्य के भीतर समाए हुए अहंभाव को अथवा हीनभाव को जड़ से उखाड़ कर फेंकता है। मानव मन की आशंकाएं, उत्तेजनाएं, उद्विग्नताएं दूर करता है और उसे स्वच्छता और निर्मलता के उस धरातल पर प्रतिष्ठित करता है, जहां न अहंकार टिक सकता है और न ही हीनभाव की ग्रन्थियों से ग्रस्त दैन्य पनप सकता है। जीवन में समत्वभाव आता है और हर वस्तु, व्यक्ति और स्थिति को उसके यथार्थ स्वरूप में देख सकने की निर्मल प्रज्ञा जागती है। अतिरंजना और अतिशयोक्तियों में डूबा हुआ भक्ति-भावावेश दूर होता है। ज्ञान, विवेक, बोधि के

अंतर्चक्षु विरज-विमल बन जाते हैं। अंतर्दृष्टि पारदर्शी बन जाती है। अंतर की आंखों के सामने से सारा कुहरा, सारी धुंध, दूर हो जाती है। यह जो हमने सुनी-सुनाई और पढ़ी-पढ़ाई बातों से अपने मन को विकृत कर लिया है, यही पूर्वाग्रहरूपी विकृतियां सत्य दर्शन में बाधा पैदा करती हैं। पूर्वनिश्चित धारणाएं और मान्यताएं हमारी आंखों पर रंगीन चश्मों की तरह चढ़ी रहती हैं और हमें वास्तविक सत्य को अपने ही रंग में देखने के लिए बाध्य करती हैं। धर्म के नाम पर हमने इन बेड़ियों को सुंदर आभूषणों की तरह पहन रखा है। सच्ची मुक्ति के लिए इन बेड़ियों का टूटना नितांत आवश्यक है।

चित्त को राग, द्वेष, मोह, ईर्ष्या मात्सर्य, दुर्भावना, दौर्मनस्य, भय, आशंका, मिथ्या काल्पनिक दृष्टियों, मान्यताओं और रूढ़ियों की जकड़ से मुक्त करने के लिए आवश्यक है कि सारी पूर्व परंपराओं को एक ओर रखकर, भावुकता को दूर हटाकर हम यथार्थ में जीना सीखें। यथार्थ में जीना वर्तमान में जीना है, इस क्षण में जीना है। क्योंकि बीता हुआ क्षण यथार्थ नहीं, वह तो समाप्त हो चुका है। अब तो केवल उसकी याद ही रह सकती है, वह क्षण नहीं। इसी तरह आने वाला क्षण अभी उपस्थित नहीं है, उसकी केवल कल्पना हो सकती है, कामना हो सकती है, उसका यथार्थ दर्शन नहीं हो सकता। वर्तमान में जीने का अर्थ है, इस क्षण में जो कुछ अनुभूत हो रहा है, उसी के प्रति जागरूक होकर जीना। भूतकाल की सुखद या दुःखद स्मृतियां अथवा भविष्यकाल की दुःखद आशंकाएं या सुखद आशाएं हमें वर्तमान से दूर ले जाती रहती हैं और इस प्रकार सच्चे जीवन से विमुख रखती हैं। वर्तमान से विमुख यह थोथा निस्सार जीवन ही हमारे लिए विभिन्न क्लेशों का कारण बनता है, अशांति, असंतोष, अतृप्ति, आकुलता, व्यथा और पीड़ा को ही जन्म देता है। जैसे ही हम इस क्षण का यथाभूत दर्शन करते हुए जीने लगते हैं, वैसे ही क्लेशों से स्वाभाविक मुक्ति मिलने लगती है।

इस देश के एक महापुरुष भगवान तथागत बुद्ध को यही सम्यक संबोधि प्राप्त हुई। इस क्षण में जीना सीखकर चित्त को संस्कारों से विहीन कर, परम परिशुद्ध कर, बंधन-मुक्त हो सकने की कला हासिल हुई। उन्होंने जीवन भर लोगों को इसी कल्याणकारिणी कला का अभ्यास कराया। इसी मंगलमयी विधि का नाम विपश्यना साधना है। साधक इस क्षण जो कुछ अनुभूत कर रहा है, उसी के प्रति जागरूक रहता है। काया के प्रति जागरूक रहते हुए कायानुपश्यना करता है। चित्त में अनुभूत होने वाली समस्त सुखद व दुःखद अथवा असुखद-अदुःखद संवेदनाओ के प्रति जागरूक रहते हुए वेदनानुपश्यना करता है। अपने ही चित्त के प्रति जागरूक रह कर चित्तानुपश्यना करता है। अपने ही चित्त में उठने वाली

विभिन्न अच्छी-बुरी वृत्तियों के प्रति, उनके गुण, धर्म, स्वभाव के प्रति जागरूक रहता हुआ और अंततः काया, वेदना, चित्त वृतियों और चित्त की परिसीमाओं से परे निर्वाण-धर्म का साक्षात्कार करता हुआ धम्मानुपश्यना करता है। इस जागरूकता का अभ्यास उसके चित्त पर पड़े हुए सभी बुरे विकारों और संस्कारों का उच्छेदन करता है। चित्त धीरे-धीरे आसक्तियों से, आस्रवों से, व्यसनों के खिंचाव से, तृष्णाओं और तीव्र लालसाओं के बंधन से, अतीत की सुखद-दुःखद यादों की निरर्थक उलझनों से, भावी अशंकाओं के भय-भीति जन्य मानसिक उत्पीड़न से, भविष्य के सुनहरे स्वप्नों की काल्पनिक उधेड़बुन से विमुक्त होता हुआ, अपनी स्वाभाविक नैसर्गिक स्वच्छता को प्राप्त होता है।

समस्त ऐंठन-अकड़नभरी ग्रन्थियों और खिंचाव-तनावभरी मानसिक पीड़ाओं को दूर करने का यह एक सहज सरल तरीका है, जो कि मानव मात्र के लिए समान रूप से कल्याणकारी है। इसका अभ्यास करने के लिए यह भी अनिवार्य नहीं कि कोई अपने आपको बौद्ध संप्रदाय में दीक्षित कर ही ले। इस विधि के अभ्यास के लिए यह भी अनिवार्य नहीं कि इसके आदि प्रवर्तक भगवान बुद्ध की मूर्ति को नमन किया ही जाय। उसे धूप, दीप, नैवेद्य, आरती से पूजित किया ही जाय। यह भी आवश्यक नहीं कि साधक उस आदि गुरु के रूप या आकार का ध्यान करे ही अथवा उसके नाम या मंत्र का जप करे ही। यह भी नहीं कि उसकी शरण ग्रहण करने के नाम पर ऐसा अंध आत्म समर्पण कर दे कि बिना स्वयं कुछ किये, मात्र उसकी कृपा से ही तर जाने की मिथ्या भ्रांति सिर पर चढ़ जाय। इस विधि से स्वयं लाभान्वित होने के बाद अथवा अन्य लोगों को लाभान्वित होते देखकर इसके पूर्व भी यदि कोई साधक उस महाकारुणिक महा प्रज्ञावान भगवान तथागत के प्रति कृतज्ञता से विभोर होकर उनकी करुणा और प्रज्ञा के प्रति अपनी श्रद्धा प्रकट करे तो कोई दोष भी नहीं है। गुणों के प्रति प्रकट की हुई श्रद्धा उन गुणों को अपने जीवन में धारण करने की प्रेरणा प्रदान करती है और यही श्रद्धा काम की है। इसी प्रकार कृतज्ञता चित्त की एक सद्वृत्ति है। श्रद्धा और कृतज्ञता की भावना चित्त को मृदुल बनाती है, जो कि विपश्यना साधना के इस चित्तविशुद्धिकरण प्रयास में सहायक होती है।

विपश्यना साधना के अभ्यास का आलंबन उस आदि गुरु भगवान बुद्ध का ध्यान करना नहीं है। इसका आलंबन तो स्वयं अपनी ही क्षण-क्षण बदलती हुई मनोस्थिति है, जिसके प्रति साधक को सतत जागरूक रहना पड़ता है। यह अभ्यास प्रकृति के यथार्थ स्वरूप के प्रति जागरूक रहना सिखाता है। प्रकृति के इस यथार्थ, दर्शन का अभ्यास करने में किसी भी वर्ग, संप्रदाय, जाति, देश, काल व बोली भाषा के व्यक्ति के लिए कोई कठिनाई पैदा होती ही नहीं। मानव अपनी

ही मानवीय प्रकृति का स्वयं अध्यन करता है। आत्म-दर्शन करता है। आत्म निरीक्षण करता है। अपने ही भीतर समायी हुई गंदगियों का यथाभूत दर्शन करता है। अपने ही मनोविकारों का यथार्थ अवलोकन करता है। इस प्रकार देखते ही देखते वे मनोविकार दूर होते हैं और साधक एक भला, नेक आदमी बनकर सच्चे मानवीय धर्म में संस्थापित होता है। ऐसा नेक इंसान किसी भी जाति, वर्ग या संप्रदाय का क्यों न हो, सारे मानव समाज का गौरव साबित होगा। स्वयं तो सुख शांति से रहेगा ही, अपने संपर्क में आने वाले अन्य सभी लोगों की सुख शांति बढ़ाने में भी सहायक ही सिद्ध होगा।

सद्धर्म का यह सार्वजनीन, सार्वदेशिक, सार्वकालिक, और सर्वहितकारी स्वरूप अधिक से अधिक लोगों को उपलब्ध हो और उनके हित-सुख का कारण बने, यही मंगल कामना है।

(वर्ष १ बुद्धवर्ष २५१५ भाद्रपद पूर्णिमा दि.०४-०९-७१ अंक ३)

उद्बोधन : वयधम्मा सङ्खारा

मेरे प्यारे साधक-साधिकाओ!

धर्म-प्रज्ञा का चैतन्य सतत जाग्रत रहे!

यह कुशीनगर है। यहीं भगवान तथागत सम्यक संबुद्ध ने महापरिनिर्वाण प्राप्त किया। यही वह स्थान है, जहां महापुरुषों के ३२ लक्षणों से परिपूर्ण उनका वह सुहावना शरीर अग्नि को समर्पित किया गया।

जन्म, जरा, व्याधि, मृत्यु। प्रकृति का कैसा अटल नियम। जन्म लेने वाला कोई भी प्राणी, जरा, व्याधि और मृत्यु से बच नहीं सकता। चाहे वह तथागत सम्यक संबुद्ध ही क्यों न हो। परंतु वह-मृत्यु साधारण मृत्यु नहीं थी। उस मृत्यु द्वारा ही भगवान सम्यक संबुद्ध ने मृत्युराज मार पर नितांत विजय प्राप्त की। वह उनकी अंतिम मृत्यु थी। अब उसके बाद कोई मृत्यु नहीं थी, क्योंकि उसके बाद और कोई जन्म भी तो नहीं था। जहां जन्म निरुद्ध हुआ, वहां जरा, व्याधि और मृत्यु का निरोध तो हो ही गया।

ऐसी पावन धरती पर साधना-शिविर लगाते हुए मन अत्यंत आह्लाद-प्रह्लाद से भर उठा है। यहां की धरती के कण-कण में, यहां की वायु-तरंगों की लहर-लहर में, सद्धर्म के अस्तित्व का एहसास होता है। अणु-अणु में उस महाकारुणिक की करुणा समायी दीखती है, उस प्रेम-पारावार का असीम प्रेम छलकता नजर आता है, उस महान सत्यनिष्ठ की अचल सत्यनिष्ठा झलकती नजर आती है।

करुणा, मैत्री और सत्य, यह त्रिवेणी का पावन संगम ही तो तथागत बुद्ध कहलाता है। इन तीनों के समुच्चय का व्यक्तिकरण ही तो सम्यक संबुद्ध है। बुद्ध माने मूर्तिमंत करुणा। बुद्ध माने मूर्तिमंत मैत्री-प्रेम। बुद्ध माने मूर्तिमंत सत्य। यहां भगवान की यह त्रिमूर्ति बार-बार मन की आंखों के सामने आने लगती है।

उनकी असीम करुणा की एक नन्हीं-सी लहर ने मन-मानस में अँगडाई ली और सारा हृदय करुणरस से परिप्लावित हो उठा, सराबोर हो उठा।

अढ़ाई हजार वर्ष पुराना वह दृश्य आंखों के सामने जाग उठा। भगवान ने अपने शरीर त्यागने की निश्चित तिथि तीन माह पूर्व घोषित की और अब पूर्व निर्धारित स्थान पर शरीर छोड़ने के लिए यात्रा कर रहे हैं। शरीर छोड़ने का दिन आ पहुँचा है। भगवान की यात्रा जारी है। रास्ते में चुंद नामक लुहार ने भगवान को अत्यंत श्रद्धापूर्वक भोजन के लिए आमंत्रित किया। परंतु भोजन भारी था, गरिष्ठ था। अतः तथागत के बूढ़े रोगी शरीर के लिए अपचय साबित हुआ,

कष्टदायक साबित हुआ। उन्हें पेचिस हुई। शरीर अधिक दुर्बल हो गया। मृत्यु शय्या पर लेटे हुए उस करुणामय के मन में एक बात जागी। जब श्रद्धालु चुंद को यह मालूम होगा कि उसके गरिष्ठ भोजन के कारण भगवान को शरीर त्यागना पड़ा तो वह दुःख से व्याकुल हो उठेगा। नासमझ लोग उसे धिक्कारेंगे कि उसने भगवान को कैसा भोजन खिलाया और कितना पाप कमाया। यह धिक्कार सुनकर वह व्यथा-वेदना से और भी पीड़ित हो उठेगा। इस चिंतन मात्र से उन महाकारुणिक का हृदय करुणा-विगलित हो उठा और उन्होंने आनंद से कहा – 'आनंद ध्यान रखना, उस श्रद्धालु उपासक चुंद के मन में किसी प्रकार की दुश्चिंता जागने न पावे। मेरे कारण वह दुःखी होने न पावे। उसे समझाना कि तुम्हारा यह भोजनदान तुम्हारे लिए पाप का नहीं, बल्कि बड़े पुण्य का कारण बना है। जिस भोजन को ग्रहण कर तथागत ने पापी मार पर विजय प्राप्त की और सम्यक संबोधि पायी, सुजाता की खीर का वह भोजन-दान जैसे सुजाता के लिए असीम पुण्य का कारण बना, वैसे ही तुम्हारे इस भोजन को ग्रहणकर तथागत अनुपादिशेष-निर्वाण धातु को प्राप्त हुए हैं, सदा के लिए मृत्युराज मार के चंगुल से मुक्त हुए हैं, अतः तुम्हारा यह भोजन भी सुजाता की खीर से कम पुण्यदायी नहीं है, कम फलदायी नहीं है। आनंद! ऐसा कहकर चुंद के मन की उदासी दूर करना। उसे उत्साहित करना।

धन्य है तथागत की महान करुणा। मृत्यु शय्या पर भी उन्हें कोई चिंता है तो इसी बात की कि उनकी वजह से किसी का मन दुःखी न हो। उनकी असीम करुणा किसी को दुःखी देख ही नहीं सकती थी।

उसी समय की एक अन्य घटना। भगवान के अतुल मैत्री प्रेम की प्रकाश-किरण मानस-पटल पर चमक उठी। भगवान युग्म शाल वृक्षों के नीचे बिछी हुई संघाटी पर अत्यंत रुग्ण अवस्था में लेटे हुए हैं। वैशाखी पूर्णिमा का उदास चांद सारे वातावरण में उदासी बिखेरता हुआ अस्ताचल की ओर लुढ़कता चला जा रहा है। भगवान के परिनिर्वाण का समय समीप आता जा रहा है। श्रद्धालु उपासकों की भीड़ तथागत के अंतिम दर्शन करने के लिए उमड़ रही है। उसी समय सुभद्र नाम का एक नया मुमुक्षु भगवान से धर्मलाभ हासिल करने के लिए आता है परंतु आनंद उसे दूर से ही यह कह कर रोकता है कि भगवान बहुत थके हुए हैं, उन्हें कष्ट न दो। आनंद की आवाज भगवान के कानों में पड़ती है। वह करुणा विह्वल हो उठते हैं। प्यासा अपनी प्यास बुझाने के लिए धर्म गंगा के पास आया है, और तट तक पहुँचने पर भी कोई उसे पानी पीने से रोक रहा है। उसकी लाचारी देखकर धर्म-गंगा स्वयं मचलने लगी। उसमें प्रेम और करुणा का ज्वार उठने लगा। आनंद को टोकते हुए मैत्रीमूर्ति भगवान तथागत ने कहा – 'नहीं

आनंद! सुभद्र को मत रोको। उसे आने दो। वह मुझे कष्ट देने नहीं आया है। सच्चा धर्म-जिज्ञासु है। थोड़े में ही धर्म का रहस्य समझ लेगा। उसे मत रोको, उसे मेरे पास आने दो।'

और इस प्रकार अपने जीवन के अंतिम क्षणों तक भी, अपने कष्टों की जरा भी परवाह न करते हुए, मैत्री के अनंत सागर ने उस धर्म-जिज्ञासु को धर्म-देशना दी ही, सच्चे धर्म का मार्ग सिखाया ही, जो कि उसके हित-सुख का कारण बना। उनके अंतर का अपरिमित मंगल-मैत्री का असीम सागर, जीवन की अंतिम सांस तक भी सभी प्राणियों की अथक सेवा के लिए उद्वेलित होता ही रहा। मंगल-धर्म बांटने में उन्हें थकान कहां?

इससे विमुख होकर उन्हें आराम कहां? विश्राम कहां? विश्रांति कहां?

और तभी मानस-पटल पर उभर उठा उनकी सत्यनिष्ठा का एक और पावन प्रसंग। अंतरमन में गूंज उठे, आखिरी सांस छोड़ने के पहले उनकी अंतिम वाणी के ये अनमोल बोल– **'वयधम्मा सङ्खारा, अप्पमादेन सम्पादेथ**।' हे भिक्षुओ! सुनो, सारे संस्कार व्यय-धर्मा हैं, मरण-धर्मा हैं, नष्ट-धर्मा हैं। जितनी भी संस्कृत यानी बनी हुई वस्तुएं हैं, व्यक्ति हैं, घटनाएं हैं, स्थितियां हैं, वे सब नश्वर हैं, भंगुर हैं, मरणशील हैं, परिवर्तनशील हैं। यही प्रकृति का कठोर सत्य है। प्रमाद से बचते हुए, आलस्य से दूर रहते हुए, सतत सतर्क और जागरूक रहते हुए, प्रकृति के इस सत्य का संपादन करते रहो। इस सत्य में स्थित रहकर अपना कल्याण साधते रहो।'

कैसी थी मानव जगत को भगवान तथागत की यह अनुपम, अनमोल, अंतिम भेंट! कैसी थी यह मूल्यवान विरासत! कैसा था यह अनुत्तर दायाद! कैसा था यह मंगल-धर्म का अनोखा अनमोल उपहार!

उस महान सत्य-निष्ठ ने जीवन भर स्वयं सत्य का संपादन किया और लोगों को भी सत्य-दर्शन के लिए ही प्रेरित, प्रोत्साहित किया। यह सारा ऐंद्रिय जगत, यह नाम और रूप की सम्मिलित जीवनधारा, यह शरीर और मन का मिला-जुला सरित-प्रवाह, कितना क्षणभंगुर है! कितना नश्वर है! कितना परिवर्तनशील है! क्षण-क्षण परिवर्तित होने वाली इस प्रवाह-संतति को प्रतिक्षण निर्विकार, निरासक्त भाव से देखते रहने का नाम ही तो विपश्यना है। यही सत्य का शुद्ध दर्शन है। इसी में विमुक्ति का मंगल समाया हुआ है।

बिना प्रमाद में डूबे हुए हम भी इस सत्य का दर्शन करते रहें और अपने जीवन के अंतिम लक्ष्य का संपादन करते रहें। काया, वेदना, चित्त और धर्म की विपश्यना साधना द्वारा इस सत्य का साक्षात्कार करते रहें। अनित्य, दुःख और

अनात्म का साक्षात्कार करते रहें, प्रज्ञा जाग्रत रखते रहें। विपश्यना साधना की यह जागृति जीवन का अंग बन जाय, स्वभाव का अंग बन जाय! भगवान के ये अंतिम शब्द निरंतर हमारे लिए प्रेरणा का कारण बनते रहें! इससे बढ़कर और क्या उद्बोधन होगा भला!

वयधम्मा सङ्खारा, अप्पमादेन सम्पादेथ! अप्पमादेन सम्पादेथ! अप्पमादेन सम्पादेथ!

(दीघनिकाय २.१७६)

उनके बताए हुए मार्ग पर चलकर हममें भी उनकी सी अनंत करुणा जागे। हममें भी उनकी सी अनंत मैत्री जागे। हममें भी उनकी सी अविचल सत्य-निष्ठा जागे। इसी में हमारा मंगल! इसी में हमारा भला! इसी में हमारा कल्याण! इसी में हमारी स्वस्ति! इसी में हमारी मुक्ति!

---o---

चरथ भिक्खवे चारिकं

वाराणसी राज्य के ऋषिपत्तन मृगदाय नामक स्थान में जिसे कि आज सारनाथ कहते है, भगवान तथागत सम्यक संबुद्ध ने पहले पहल धर्मचक्र प्रवर्तन कर ५ भिक्षुओं को विमुक्ति-रस का पान कराया। वे पांचों भगवान के प्रथम शिष्य कृतकृत्य हुए, अरहंत हुए, जीवन-मुक्त हुए।

तत्पश्चात वाराणसी का यश नामक एक धनवान श्रेष्ठिपुत्र भगवान के संपर्क में आया। वह साहूकार का लड़का अनेक सुख-साधन से संपन्न होते हुए भी मानसिक उद्विग्नता का शिकार था। वैभव-विलास के जीवन से ऊब चुका था। धन-संपदा में उसे कोई शांति नहीं दीखती थी। परंतु भगवान के संपर्क में आने पर, उसने धर्म-साधना का अभ्यास किया तो वह भी वास्तविक सुख-शांति का अधिकारी बन गया। थोड़े समय के ही अभ्यास द्वारा वह भी अरहंत हुआ, जीवन्मुक्त हुआ। उसके चित्त की शांति देखकर उसके चार अन्य धनी घनिष्ठ मित्र भी शांति लाभ के लिए भगवान के पास आये और वे भी कृतार्थ हुए। इस घटना ने श्रेष्ठि-पुत्र यश की सारी मित्र-मंडली में एक सनसनी पैदा कर दी। अपार भौतिक संपदा के उपभोग से ऊबे हुए अशांत, बेचैन, श्रेष्ठि-कुमार भगवान की शरण आने लगे। ऐसे पचास युवकों ने धर्म-साधना का अभ्यास कर अर्हत्व प्राप्त किया और अपना जीवन सफल बनाया।

इन साठ अरहंत भिक्षुओं की मंडली के साथ भगवान तीन महीने वर्षा के दौरान उसी क्षेत्र में विहार करते रहे। साठों अरहंत भिक्षु धर्म-अभ्यास में पूर्णतया

परिपक्व हो गये। तब वर्षावास पूरा होते ही भगवान ने उन्हें आदेश दिया – 'अब एकांत में रहने की आवश्यकता नहीं। अब तो समाज में रहो और उसकी सेवा करो। इसलिए विचरण करो। साठों भिक्षु अलग-अलग स्थानों की यात्रा पर निकल पड़ो। किसी स्थान पर एक साथ दो भिक्षु मत जाओ। जिससे कि अधिक से अधिक स्थानों में सद्धर्म का प्रकाश फैले, अधिक से अधिक लोगों का कल्याण हो। चलते रहो। चलते रहो। धर्म चारिका करते रहो। अनेक लोगों के हित-सुख के लिए, अनेक लोगों के कल्याण-मंगल के लिए लोगों पर अनुकंपा करते हुए सत्य-धर्म का प्रकाशन करते हुए चलते ही रहो। चलते ही रहो।'

अपने भीतर धर्म पक जाने के बाद यह स्वाभाविक ही था कि उन भिक्षुओं के मन में अपरिमित करुणा जागी, मैत्री जागी, लोक-कल्याण की भावना जागी। और अब भगवान से प्रेरणा पाकर वे लोगों के हित के लिए, सुख के लिए, लाभ के लिए, मंगल के लिए, देश भर में धर्म-चारिका करने निकल पड़े। सर्वत्र लोग दुःखी ही दुःखी हैं। शारीरिक पीड़ाओं से उत्पीड़ित हैं। मानसिक उत्तेजनाओं से उत्तापित हैं। उन्हें धर्म का लाभ मिले। वे दुःख से मुक्त हों। वे सच्ची सुख-शांति का रसास्वादन कर सकें। ऐसा धर्म जिसका कि उन्होंने स्वयं अभ्यास किया। ऐसा अभ्यास जिससे कि उन्होंने स्वयं अपने दुःखों का नितांत उन्मूलन कर लिया। वह अभ्यास सभी मनुष्यों के लिए समान रूप से हितकर है। अतः सभी मनुष्यों को सहज सुलभ होना ही चाहिए। सभी लोग दुःखों से संत्रस्त हैं और ऊपर से भिन्न-भिन्न दीखने वाले सभी दुःखों का मूल कारण तो एक ही है। अतृप्ति के परिवेश में अपनी ही तृष्णाओं के प्रति गहरा खिंचाव, गहरा लगाव, गहरी आसक्ति ही तो दुःख है, दुःख की जड़ है। कोई ऐसी विधि हाथ लगे कि जिसके अभ्यास से आसक्तियां टूटें तो जड़ के उन्मूलन होते ही दुःखों का अपने आप खात्मा हो जाय। इन साठ दुःखी लोगों ने अपने कल्याण मित्र से, अपने धर्म-शास्ता से, उन महान कारुणिक भगवान बुद्ध से, यही धर्म-साधन तो सीखा था, जिसके कि अभ्यास से उनकी आसक्तियां टूटीं, उन्हें स्वयं अपने-अपने दुःखों से छुटकारा मिला। वे स्वयं अनासक्त हो जीवन-मुक्त हुए। अब वही सहज सरल विधि दुःख-संतप्त लोगों तक पहुँचाने के लिए ये साठ भिक्षु निकल पड़े। सच ही तो है, उस महान कारुणिक द्वारा बताए हुए पथ का अवलंबन लेकर जो व्यक्ति स्वयं दुःख-विमुक्त होता है, वह इस लोग मंगल-कारिणी करुण भावना से कैसे दूर रह सकता है भला? यह असंभव है कि कोई अपने आपको मुक्त कर ले और फिर उस विमुक्ति-सुख में ही अपना शेष जीवन किसी एकांत निर्जन स्थान में बिताए। स्वयं भगवान ने भी तो ऐसा नहीं किया। सम्यक संबोधि प्राप्त कर केवल सात सप्ताह विमुक्ति-सुख में अकेले बैठे रह सके। परंतु उसके बाद तो लोक-हित के

लिए ऐसी धर्म-चारिका आरंभ की कि जीवन के शेष पैंतालीस वर्षों तक सतत लोकहित में ही निमग्न रहे। जीवन की अंतिम घड़ियों तक भी, बिना विश्राम किये हुए, दु:खी संतप्त लोगों के दु:ख दूर करने के लिए धर्म-गंगा का शीतल जल बांटते ही रहे। ऐसे करुणागार के मार्ग का अवलंबन करने वाला प्रत्येक भिक्षु किसी निर्जन वन में रहकर अपना सारा जीवन कैसे बिता सकता है? उसके लिए तो समाज में ही रहकर, समाज की अथक सेवा में ही आजीवन लीन रहना समीचीन है और यही आदर्श उन प्रारंभिक साठ भिक्षुओं ने अपनाया, जो कि भावी धर्मदूतों के लिए भी प्रकाश-स्तंभ बना।

इन साठ भिक्षुओं को अलग-अलग स्थानों पर धर्मचारिका पर भेजकर स्वयं भगवान भी इसी उद्देश्य से धर्मचारिका पर निकल पड़े। सभी ने मंगल-धर्म को प्रकाशित किया। कैसे प्रकाशित किया? केवल शब्दों द्वारा ही नहीं, बल्कि उन शब्दों के अर्थ और भाव सही प्रकार से समझाते हुए। शब्दों के अर्थ और भाव समझाने का एक मात्र तरीका यही होता है कि वे अर्थ और भाव स्वयं समझाने वाले के जीवन में उतरें। यही उन शब्दों की सही अभिव्यक्ति है, सही अभिव्यंजना है।

ऐसा है यह मंगल-धर्म, जिसे कि आदि में कल्याणकारी, मध्य में कल्याणकारी और अंत में कल्याणकारी कहा गया। ऐसा है यह मंगल-धर्म जिसमें केवल विशुद्धि ही विशुद्धि है, जो कि परम परिशुद्धि की परिपूर्णता है, जिसमें कि अशुद्धि के लिए रंच मात्र भी अवकाश नहीं है, जो कि कल्याण-मंगल का साकार स्वरूप है और सत्य का सार तत्त्व है, जिसमें कही कोई घास-फूस नहीं, कोई छिलका नहीं किंचित मात्र भी मिथ्या कल्पना नहीं, मिथ्या आश्रय नहीं। विरज, विमल, विशुद्ध ही विशुद्ध। जिसमें अंध भावावेश के लिए अथवा कोरे सैद्धान्तिक तर्कों और बुद्धि-विलास के लिए कोई स्थान नहीं। पूर्णतया व्यावहारिक ही व्यावहारिक और व्यावहारिक भी ऐसा कि मानव मात्र के लिए समान रूप से ग्रहणीय, समान रूप से उपादेय। इसके अभ्यास के लिए किसी वर्ग या संप्रदाय में दीक्षित व अनुबद्ध होने तक की भी आवश्यकता नहीं। गौ का दूध जो पीये उसी के लिए पुष्टिकारक। संपूर्णतया संप्रदाय-निरपेक्ष धर्म। दु:खी को दु:ख-विमुक्त बनाने वाला, रोगी को निरोग बनाने वाला, अशांत को शांत बनाने वाला, मैले को निर्मल बनाने वाला, पतित को पावन बनाने वाला, निर्बल को बलवान बनाने वाला, भयभीत को निर्भय बनाने वाला, निर्दयी को दयालु बनाने वाला, दुर्जन को सज्जन बनाने वाला। थोड़े में कहें तो प्रत्येक मानवदेह धारी को सच्चा मानव बनाने वाला।

यही है वह आठ अंगों वाला धर्म मार्ग, जिस पर चलकर बुद्ध सहित ये साठ व्यक्ति नितांत दु:ख विमुक्त हुए, परम परिशुद्ध हुए। यह आठ अंगों वाला पथ जो कि तीन भागों में विभाजित है– शील, समाधि और प्रज्ञा।

शील यानी सदाचार – यानी वाणी और शरीर के दुष्कर्मों से बचना। समाधि यानी चित्त को संयमित करना और प्रज्ञा यानी विपश्यना के अभ्यास द्वारा ऐसी सही दृष्टि प्राप्त करना जिससे कि सारी मोह विमूढ़ता दूर हो जाय और चित्त में समाए हुए राग और द्वेष के सारे संस्कार जड़ से उखड़ जायँ और इस प्रकार निर्मल हुआ चित्त असीम मैत्री और करुणा से भर उठे, जिससे कि साधक न केवल अपना ही कल्याण साधे, बल्कि औरों के भी कल्याण का कारण बने। आत्म-हित और पर-हित का सर्व-जन-हितकारी मंगलमय समन्वय। आत्मोदय और सर्वोदय का कल्याणकारी संगम।

तीन महीने के प्रथम वर्षावास के बाद आज के ही दिन 'चरथ भिक्खवे चारिकं' का यह मंगल घोष इस धरती पर पहले पहल गूंजा था। हमारे लिए भी यह प्रेरणा का कारण बने। सद्धर्म से विशुद्धि प्राप्त कर हमारा चित्त भी मैत्री और करुणा से भरे। यदि इस मार्ग से हमें भी सचमुच लाभ हुआ है तो हम भी अपनी-अपनी शक्ति के अनुसार, अपनी-अपनी सामर्थ्य के अनुसार सर्वजन के हित-सुख के लिए, मंगल-कल्याण के लिए जुट जायँ। धर्म का उद्देश्य केवल आत्म-हित ही नहीं है। केवल आत्मोदय ही नही है आत्महित साधकर पर-हित में लगना, आत्मोदय साधकर सर्वोदय में लगना, यही धर्म की सच्ची प्रेरणा है जो कि हम सब साधकों में जागे। हमारे सत्प्रयत्नों से अधिक से अधिक लोग दु:ख-विमुक्त होकर शांतिलाभी बनें, यही जीवन-लक्ष्य हो। प्रेरणामयी आश्विनी पूर्णिमा का सबके लिए यही पावन संदेश है।

(वर्ष १ बुद्धवर्ष २५१५ आश्विन पूर्णिमा दि. ०३-१०-१९७१ अंक ४)

उद्‌बोधन : प्रकाश-पर्व

मेरे प्यारे साधक, साधिकाओ!

प्रज्ञा की ज्योति जगमगाती रहे!

दीपक का प्रकाश बाहर के अंधेरे को दूर करता है। सचमुच बड़ा उपयोग है इसका। परंतु दीपक का प्रकाश हमारे भीतर के अंधेरे को दूर नहीं कर सकता। बाहर का अंधकार बड़ा अप्रिय है, बड़ा हानिकारक है। परंतु भीतर का अंधकार उससे हजारों गुना अधिक अप्रिय है, अधिक हानिकारक है। हमारा महत कल्याण तो भीतर का अंधकार दूर करने में है।

क्या है यह भीतर का अंधकार? यह जो मूढ़ अवस्था है, मोह अवस्था है, अज्ञान अवस्था है, यही तो अविद्या है, यही तो भीतर का अंधकार है। इसके कारण राग उत्पन्न होता है, और जहां राग है वहां द्वेष तो होगा ही।

यह राग और यह द्वेष ही हमारे मन में अनेक प्रकार के विकार उत्पन्न करते हैं। भय, आशंका, क्रोध, घृणा, ईर्ष्या, मात्सर्य, लोभ, लोलुपता आदि आदि सभी मनोविकार राग और द्वेष की ही उपज हैं। सभी अविद्या के अंधकार में पनपते हैं। जहां भय है, आशंका है, क्रोध है, घृणा है, ईर्ष्या है, मात्सर्य है, लोभ है, लोलुपता है वहां सुख कहां? शांति कहां? चैन कहां? इन मनोविकारों से छुटकारा पाने में ही हमारी मुक्ति है, हमारा मंगल है, हमारा कल्याण है।

इन्हें दूर करने के लिए इनकी जड़ को उखाड़ फेंकना होगा। अविद्या के अंधकार को हटाना होगा और वह होगा प्रज्ञा के प्रकाश से ही, विद्या के विवेक से ही। प्रज्ञा-प्रदीप को सदैव प्रज्वलित रखने के लिए जागरूकता का अभ्यास करते रहना होगा। प्रज्ञा में स्थित रहने के लिए सदा सचेत रहने का अभ्यास करते रहना होगा। दुष्प्रज्ञता की बेहोशी दूर करने के लिए सदा होश ठिकाने रखने होंगे। सदा जागरूक रहना ही ऐसा प्रकाश है जो कि अविद्या के अंधकार को दूर करता है और सारे मनोविकारों की गांठें खोलकर हमें बंधन-मुक्त बनाता है।

बीती हुई बातों की याद में व्याकुल रहना जागरूकता नहीं है। भविष्य की कपोल कल्पनाओं में उलझे रहना जागरूकता नहीं है। जागरूकता है इस क्षण के प्रति सचेत रहने में। इस क्षण के प्रति सचेत रहने का नाम ही विपश्यना है। विपश्यना का अभ्यास जागरूकता का ही अभ्यास है। यह अभ्यास निरंतर चालू रहना ही चाहिए जिससे हमारा अंतर्मन अविद्या के अंधकार से सदा दूर रहे और प्रज्ञा की दीपमालाओं से सदा जगमगाता रहे। प्रज्ञा में स्थिर रह कर यदि हम सच्चे

संत पुरुष बन जायँ तो सदा दीवाली मनती रहे। आठों पहर अंतर्मन प्रज्ञा के प्रकाश से जगमगाता ही रहे। यही तो सच्चा प्रकाश-पर्व है। हमारे मंगल का आदि मूल। हमारे कल्याण का सही कारण।

दीवाली के अवसर पर हम अपना घर आंगन झाड़-बुहार कर स्वच्छ सुंदर बनाते हैं। इसे सजाते हैं, संवारते हैं। शरीर भी रगड़-रगड़ कर धोते हैं। इसे साफ-सुथरा बनाकर वस्त्रों से, आभूषणों से अलंकृत करते हैं। बाहर की यह सफाई-सजाई अच्छी है, काम की भी है। परंतु इससे कहीं ज्यादा अच्छी और कहीं ज्यादा काम की सफाई-सजाई तो हमारे अंतर्मन की है जो कि कूड़े-करकट से, झाड़-झंखाड़ से, धूल-गर्दे से, जाले-जंजालों से भरा पड़ा है। जब तक भीतर की गंदगी दूर न कर ली जाय तब तक केवल बाहर की सफाई-सजाई हमें सच्चा सुख और शांति नहीं दे सकती।

मन की गंदगी क्या है? मन की गंदगी मोह है, मन की गंदगी राग है, मन की गंदगी द्वेष है। मन की ये गंदगियां अन्य अनेक गंदगियों को अपनी ओर खींचती ही रहती है। जब तक मन में राग, द्वेष और मोह के जाले लटक रहे हैं तब तक अनेक मनोविकारों का धूल-धूसर इन पर जमता ही रहेगा। बाहर-बाहर की सफाई मन के भीतर लटकते हुए इन धूलभरे जालों को दूर नहीं कर सकती। मन को स्वच्छ साफ नहीं रख सकती। और जब तक मन स्वच्छ साफ न हो तब तक सच्चे सुख, शांति और समृद्धि की आशा करनी व्यर्थ है।

विपश्यना साधना द्वारा यानी सत्य के प्रति सतत जागरूक रहने के अभ्यास द्वारा मन को स्वच्छ साफ कर लेने के बाद ही उसका सजाव-सिंगार किया जा सकता है। मन की सजावट होती है मैत्री और करुणा के अलंकारों से। सत्य का सहारा लेकर मन को असीम प्रेम और करुणा के भावों से ओत-प्रोत कर लें, यही मन की सच्ची सफाई-सजाई है और इसी में हमारा सच्चा मंगल है।

कहीं ऐसा न हो जाय कि हम बाहरी-बाहरी सफाई-सजाई में ही सन्तोष मान कर रह जायँ। सफाई मन की हो, सजाई मन की हो। मन की यह सफाई-सजाई किसी विशेष त्योहार के दिन ही नहीं बल्कि नित्य प्रति होती रहनी चाहिए। अपने शरीर को रोज ही स्वच्छ साफ रखना चाहिए। अपने घर आंगन को रोज ही साफ सुथरा रखना चाहिए। जितना यह आवश्यक है उससे कही ज्यादा आवश्यक यह है कि अपने मन को भी रोज ही धो-पोंछ कर निर्मल बनाए रखना चाहिए। दिवाली की सजाई रोज ही होनी चाहिए। बाहर और भीतर की स्वच्छता के प्रति हमारा उत्साह कभी मंद नहीं पड़ने पाए। आन्तरिक स्वच्छता और सजावट के लिए विपश्यना की बुहारी मन के जालों को दूर करती ही रहे। मैत्री भावना का अभ्यास

उसे सदा सजाता ही रहे। ऐसी दिवाली हम रोज मनाते ही रहें। इसी में तो हमारा सच्चा कल्याण है, सच्चा मंगल है, सच्चा भला है।

---o---

विजय पर्व

विजय-पर्व मनाने का एक मात्र उद्देश्य यही होना चाहिए कि किसी की विजय को याद कर हम भी विजयी बनने की प्रेरणा प्राप्त करें और प्रयत्नशील होकर स्वयं भी विजयी बनें। किसी की विजय का गुणगान गा लेने मात्र से अथवा जश्न मना लेने मात्र से, खुशियां मना लेने मात्र से हमें क्या मिला? हमारा लाभ तो स्वयं विजयी बनने में है। किसी ने अपने दुश्मनों पर विजय पायी और फलस्वरूप उन दुश्मनों के अत्याचारों से मुक्त होकर सुखी हो गया। इससे हमें सुख कैसे मिला? हम तो तभी सुखी होंगे जबकि स्वयं अपने दुश्मनों का खात्मा कर लेंगे, अपने दुश्मनों के अत्याचारों से मुक्ति पा लेंगे।

भगवान बुद्ध ने अपने दुश्मन पर विजय पायी। उनका दुश्मन था मार यानी मृत्युराज। यह हम सब का भी दुश्मन है। मृत्युराज के चंगुल से निकलना सचमुच बड़ा ही कठिन काम है। राग, रति और तृष्णा उसकी बेटियां है। इन बेटियों के बल पर यह सभी लोगों पर अपना अधिकार जमाए हुए है। सभी प्राणी राग, रति और तृष्णा के आधीन हैं। बार-बार इन वासनाओं के जाल में उलझ कर जन्म लेते हैं और बार-बार मृत्यु के मुँह में पड़ते हैं। भगवान बुद्ध की यही सम्यक संबोधि थी, यही उनकी विमुक्ति थी कि उन्होंने तृष्णा, राग, रति को जड़ से उखाड़ कर फेंक दिया और मृत्युराज को निरुपाय कर दिया; निहत्था, निःशस्त्र, निर्बल कर दिया और परास्त कर दिया। अब बुद्ध के लिए न बार-बार का जन्म रह गया और न बार-बार की मृत्यु रह गयी। वह (मृत्यु) के बंधनों से मुक्त हो गये।

बुद्ध ने मार को परास्त कर दिया, बुद्ध ने मार पर विजय प्राप्त कर ली, इसलिए हम खुशियां मनाएं और बुद्ध के गुणगान गाएं तो इससे हमें क्या मिल जाने वाला है? क्या इससे हम भी मुक्त हो जायँगे? क्या इससे हम भी मृत्यु के चंगुल से छुटकारा पा लेंगे? क्या इससे हम भी अमृत-पद प्राप्त कर लेंगे? यदि ऐसा होता तब तो विजय की खुशियां मनानी अवश्य सार्थक होतीं। परंतु ऐसा होता कहां है? यदि बुद्ध द्वारा मार को जीत लेने पर सारी दुनिया सदा के लिए मृत्यु के चंगुल से छुटकारा पा चुकी होती तब तो यह खुशियां मनाई जानी अवश्य मायने रखती। परंतु ऐसा तो हुआ नहीं, ऐसा कभी होता भी नहीं। सभी लोग मृत्यु के

अधीन है, क्योंकि सभी लोग तृष्णा के अधीन हैं। तो खुशियां किस बात की? अमृत तत्त्व प्राप्त करने के लिए तो एक-एक को स्वयं अपनी लड़ाई लड़नी होगी। स्वयं अपने भीतर समायी हुई तृष्णा को नेस्त-नाबूद करना होगा, उसे जड़ से उखाड़ना होगा। तभी विजय मिलेगी, तभी मुक्ति मिलेगी। बुद्ध की विजय बुद्ध के लिए मुक्तिदायिनी साबित हुई। इसी प्रकार एक-एक व्यक्ति की अपनी विजय ही उसके लिए मुक्तिदायिनी साबित होगी। हां, किसी अन्य की विजय, किसी अन्य की मुक्ति हमारे लिए प्रेरणा का कारण अवश्य बननी चाहिए, हमारे लिए मार्ग निर्देशिका अवश्य बननी चाहिए। हम भी उसी मार्ग को अपनाएं जिसे अपनाकर कोई व्यक्ति विजयी बना, मुक्त बना। हम भी उसी रास्ते पर चल कर विजयी बनें, मुक्त बनें तभी विजय-पर्व मनाने का कोई अर्थ है, कोई लाभ है, कोई मतलब है।

किसी एक व्यक्ति विशेष द्वारा किसी अन्य व्यक्ति पर विजय प्राप्त करने की याद में खुशियां मनाना तो और भी बेमाने है। विजय दशमी के दिन सम्राट अशोक ने कलिंग देश को परास्त किया। वहां के लोगों पर विजय प्राप्त की। भयानक संग्राम में हजारों लोग मारे गये, लाखों अंगहीन हो गये, कितने अनाथ हुए, कितने मांगों का सिंदूर पुछ गया, कितनी गोदें सूनी हो गयीं, कितने घर उजड़ गये, कितने चमन वीरान हो गये। बर्बादी के इस माहौल में अशोक ने कलिंग देश पर विजय पायी। क्या हम इस विजय की खुशियां मनाएं? क्या यह विजय सचमुच विजय थी? इस विजय की महिमा बढ़ाने के लिए और विजेता की गौरव गरिमा स्थापित करने के लिए न जाने कितने कवियों, लेखकों और साहित्यकारों ने कलिंग पर हर प्रकार की दुष्टता का और अशोक पर हर प्रकार की सौजन्यता का गहरा रंग-रोगन चढ़ा दिया होता। परंतु इससे भी यह विजय, विजय नहीं होती। यह तो अशोक की पराजय थी। वह अपनी लालसाओं का गुलाम था। एषणाओं का दास था, तृष्णाओं का बंदी था। उनको वह जीत कहां सका? जीतता तो इतनी भयानक बर्बादी करता ही कैसे?

उसकी सच्ची विजय तो इस बात में हुई कि इस विनाश-लीला ने उसकी आंखें खोल दी। संत पुरुष अरहंत मोग्गलिपुत्त तिस्स के संपर्क में आकर इस विजय-दशमी के दिन ही उसे अपनी भूलों का बोध हुआ। फलतः हिंसा के मार्ग का परित्याग कर उसने शांति-पथ चुना। यही उसकी विजय थी। उसने अपने आपको जीता, अपने मन को जीता, अपने मन में समाए हुए दुर्गुणों को परास्त किया। अब चण्ड-अशोक धम्म-अशोक बन गया। देवताओं सहित सभी प्राणियों को प्यारा लगने वाला, "देवानांप्रिय अशोक" बन गया। युद्ध की विकराल ज्वालाएं बुझ गयीं। शांति की चांदनी शीतलता बरसाने लगी। सारे देश में प्रेम, करुणा और

जन-सेवा की पावन गंगा लहराने लगी। चारों ओर सुख-शांति और समृद्धि का साम्राज्य छा गया। यही अशोक की सच्ची विजय थी।

ऐसी विजय हमें भी प्राप्त हो। हम भी अपने मन में समाए हुए सभी दुर्गुणों की आग बुझा सकें, अपने अंतर्मानस को निर्मल शांति-लहरियों से उर्मिल कर सकें। यही जीत हमारी सच्ची जीत होगी। बाहर के दुश्मनों को जीतना कोई जीत नहीं है। हिंसा के बल से एक को जीत भी लेंगे तो दूसरा अधिक बलवान व्यक्ति अपना सिर उठाएगा और हमें डरायगा। जय-पराजय का यह चक्र हमें सदा अशांत ही रखेगा। हम सदा अपने से अधिक बलवान से भयभीत ही रहेंगे। निर्भयता हमसे कोसों दूर रहेगी। ऐसी अवस्था में हम भला अपने आपको विजयी कैसे कह सकेंगे? भगवान ने कितना ठीक कहा हजार बार हजार युद्ध भूमियों पर हजार-हजार योद्धाओं को अकेला परास्त कर देने वाला भी विजयी कहलाने योग्य नहीं है। सच्चा विजयी तो वही है जो कि अपने आपको जीत चुका है। बाहरी दुश्मनों को जीतने वाला सदा बैर, विग्रह और अशांति ही बढ़ाता है। वह सुख से नहीं सो सकता। सुख से तो वही सो सकता है जो कि बाहरी हार और जीत से ऊपर उठ गया है। बाहरी हार और जीत से वही ऊपर उठ सकता है जो कि अपने भीतरी दुश्मनों को जीत चुका है, जो अपने मन को जीत चुका है, मनोविकारों को जीत चुका है।

सचमुच जिसने अपना मन जीत लिया उसने जग जीत लिया। जो अभी तक अपने मानसिक व्यसनों का गुलाम है, वह चक्रवर्ती सम्राट होकर भी पराजित ही है। अतः दूसरे को जीत कर हमें क्या मिलेगा? जीतना ही है तो अपने आपको जीतें। यही सच्ची जीत है। यदि किसी दूसरे को जीतना ही चाहते है तो अपने निश्छल प्यार से जीतें, असीम करुणा से जीतें, अपरिमित मैत्री से जीतें, डंडे से नहीं, बंदूक से नहीं। डंडे और बंदूक की जीत जीत नहीं होती। हर डंडे के मुकाबिले में कोई न कोई बड़ा डंडा तैयार होता रहता है। हर बंदूक के मुकाविले में कोई न कोई बड़ी बंदूक तैयार होती रहती है। इस स्पर्धा में जीत कहां? परंतु जिसे प्यार से जीत लें, मैत्री और करुणा से जीत लें वह जीत फिर हार में नहीं बदल सकती। कोई उससे बड़ी मैत्री पैदा कर के उस विजय को पुष्ट ही करेगा। उसके नष्ट होने की कतई आशंका नहीं।

अंगुलिमाल एक बड़ा खौफनाक डाकू था। मनुष्य की देह में पूरा पिशाच। कौशल देश का राजा प्रसेनजित उस राक्षस के बोझ से पृथ्वी का भार हल्का करना चाहता था। वह उसे मारने में सफल नहीं हुआ। यदि अपने विपुल सैन्य बल से वह अंगुलिमाल को मार भी देता तो क्या इससे समस्या का समाधान हो जाता? किसी को मार देने से न मरने वाले का उद्धार होता है, न अन्य लोगों का। असली उद्धार तो उसको बदल देने में है। उसको दानव से मानव बना देने में है। उसकी पैशाचिक

वृत्तियां नष्ट कर देने में है। और यह काम असीम मैत्री और करुणा से ही हो सकता है। डंडों से नहीं, बंदूक की नलियों से नहीं। जो काम राजा प्रसेनजित की सेना की तलवारें नहीं कर सकीं वही तथागत की असीम मैत्री ने कर दिखाया। भगवान ने अपनी अपरिमित मैत्री और करुणा के बल पर ही उस भूले भटके व्यक्ति को सही मार्ग पर स्थापित किया। उसे सदा के लिए जीत लिया। धर्म का अभ्यास कर वह अरहंत हो गया। जीवन-मुक्त हो गया। उसके भीतर समायी हुई सारी पाप-वृत्तियां दूर हो गयीं। अब वह धरती पर भार नहीं रहा। लोगों के त्रास का कारण नहीं रहा। अब तो वह सन्त पुरुष शुद्ध-चित्त से लोगों की सेवा में लग गया। सही माने में उसका भी उद्धार हुआ और जनता का भी उद्धार हुआ। ऐसा उद्धार डंडे के बल पर कभी नहीं हुआ करता। हिंसा से हिंसा पर विजय नहीं पायी जा सकती। बैर से बैर पर विजय नहीं पायी जा सकती। अहिंसा और मैत्री से ही हिंसा और बैर को जीता जा सकता है। उनका शमन किया जा सकता है। यही सनातन धर्म है, यही प्रकृति का अटूट नियम है। धर्म के इस गूढ़ रहस्य को हम भी समझें और हत्याओं के बजाय प्यार और करुणा द्वारा किसी बुरे की बुराई को जीतने का प्रयत्न करते रहे। यह प्रयत्न तभी सफल हो सकता है जबकि हम पहले अपने आप को पूरी तरह जीत लें, अपने अंतर्मन की गंदगियों को दूर करके उसे स्वच्छ और निर्मल बना लें। ऐसा निर्मल हुआ अंतर्मन ही मैत्री और करुणा से परिपूर्ण हो सकेगा। तभी वह औरों को भी प्रेरित प्रभावित कर सकेगा। जब तक ऐसा न होने लगे तब तक अपने आपको ही जीतने में लगे रहें, अपने आपको ही स्वच्छ और निर्मल करने में लगे रहें।

व्यावहारिक जीवन में हमें कभी-कभी किसी पागल व्यक्ति का सामना करना पड़ जाता है, तो उसके साथ कठोरता का बर्ताव करना जरूरी हो जाता है। ऐसे समय अवश्य कठोरता बरतें। परंतु बरतें उसके पागलपन के प्रति। उस पागल के प्रति तो हमारा मन करुणा से ही भरा हो। ठीक वैसे ही जैसे कि डाक्टर फोड़े के प्रति कठोरता बरतता हुआ उसे चीरता है, परंतु रोगी के प्रति तो उसके मन में करुणा ही करुणा समायी होती है।

विपश्यना के सतत अभ्यास द्वारा आत्मविजयी बनें, तृष्णा को जड़ से उखाड़ फेंकें, आसक्तियों के बंधन से मुक्त हो जायँ और इस प्रकार सही अर्थ में विजय पर्व मनाना सीखें। इसी में हमारा मंगल है, कल्याण है, भला है। यही हमारी सच्ची विजय है। इसे ही प्राप्तकर हम स्वयं सुखलाभी हों तथा औरों के भी सुख-वर्धन का कारण बनें।

(वर्ष १ बुद्धवर्ष २५१५ कार्तिक पूर्णिमा दि.०१-११-७१ अंक ५)

उद्‍बोधन : धर्मप्रज्ञा

मेरे प्यारे साधक-साधिकाओ!

धर्म-प्रज्ञा जाग्रत रहे!

धर्मप्रज्ञा के जाग्रत रहने में ही सच्ची सुख-शांति समायी हुई है। यह दुष्प्रज्ञता ही है जो हमारे दु:ख-दारिद्र्य का पहाड़ खड़ा कर देती है।

प्रज्ञा जाग्रत रहने का अर्थ है, सचेत रहना, सजग रहना, सावधान रहना, होश में रहना, जो बात जैसी है उसको वैसे ही देखना, समझना। और दुष्प्रज्ञता का अर्थ है ऐसा न होना। यानी अचेत रहना, बेहोश रहना, असावधान रहना, जो बात जैसी है, उसको वैसी न देख समझकर उसके विपरीत ही देखना, समझना। यही दुष्प्रज्ञता हमारे लिए अनेक प्रकार के दु:ख पैदा करती है, हमें सच्चे सुख से दूर रखती है, हमारी शांति भंग करती है, हमें बेचैन बनाती है।

आओ, समझें कि ऐसा क्यों हो जाता है? कैसे हो जाता है?

हमारे मन में कोई नन्हीं सी कामना जागती है, आकांक्षा जागती है, इच्छा जागती है, तमन्ना जागती है और धीरे-धीरे अनजान अवस्था में ही वह गहरी लालसा का रूप धारण कर लेती है। हम इस लालसा के प्रति गहरे आसक्त होते जाते हैं, इससे बंधते व चिपकते जाते हैं। जितने-जितने गहरे आसक्त होते हैं, उतने-उतने ही उस तृष्णा-विशेष को पूरी करने के लिए बेचैन हो उठते हैं, व्यग्र और व्याकुल हो उठते हैं। इस अशांत अवस्था में हम मन, वचन और शरीर से ऐसे कामों में अन्धा-धुंध जुट जाते हैं, जिनसे कि हमारी समझ में हमारी वह तृष्णा, वह लालसा पूरी हो सकेगी। जितनी देर वह लालसा पूरी नहीं होती, उतनी देर अंतर्मन में रह-रह कर ज्वार से उठते रहते हैं। उस लालसा की पूर्ति के अभाव में एक मानसिक तनाव पैदा होने लगता है, जो कि अनजान अवस्था में बढ़ते ही जाता है। इस तरह का हर तनाव मन की शांति भंग करता है, सरलता नष्ट करता है। इस तनाव व खिंचाव के मारे मन पर गांठें बँधती जाती हैं। हम अपनी इस सही स्थिति को समझ भी नहीं पाते कि किस प्रकार भीतर ही भीतर सरल स्वच्छ चित्त को गांठ-गठीला बनाते चले जा रहे हैं।

इस मानसिक तनाव और ग्रंथियों का असर धीमे-धीमे हमारे शरीर पर भी पड़ने लगता है। हमारे शरीर की मांसपेशियों में, रक्तवाहिनी नाड़ियों में सूक्ष्म स्नायु-तन्तुओं में, सूक्ष्म से सूक्ष्म रेशे-रेशे में तथा समस्त जीवकोषों में तनाव व खिंचाव आने लगता है। गांठें बंधने लगती हैं। शरीर की सहज-सरल शिथिलता नष्ट होने लगती है। मन और तन दोनों मूंज की रस्सी की तरह अकड़े रहने लगते हैं।

हमें लगता है कि हमारे मन की वह एक तमन्ना पूरी होते ही यह सारा खिंचाव अपने आप दूर हो जायगा और हमें बड़ा सुख मिलेगा, शांति मिलेगी। मन आह्लाद-प्रह्लाद से भर उठेगा। यह सच है कि हर कामना की पूर्ति पर थोड़ी देर के लिए ऐसी स्थिति अवश्य आती है जो कि हमारे मानसिक तनाव को और शारीरिक कसाव को ढीला कर देती है और हमें बड़ा अच्छा लगने लगता है। परंतु हमारा दुर्भाग्य है कि ऐसी स्थिति देर तक बनी नहीं रहती। हमारा मन किसी एक चाह के प्रति निरंतर लालायित रहने के अभ्यास में इस कदर स्वभाव-ग्रस्त हो गया है कि उस एक लालसा की पूर्ति होते ही वह अपनी स्वभावगत लालसा को किसी अन्य आधारबिंदु पर केन्द्रित कर देता है। मतलब यह है कि जैसे ही एक लालसा पूरी होती है, मन उससे किसी दूसरी बड़ी लालसा की पूर्ति के लिए लालायित हो उठता है। एक तृष्णा पूरी हो तो उससे बड़ी तृष्णा अपना सिर उठाने लगती है और तृष्णाओं का यह अटूट क्रम एक के बाद एक नए और बड़े आलंबन की ओर मुँह बाए आगे बढ़ता ही रहता है। जिस लालसा की पूर्ति हो चुकी है, उसके प्रति हमारा आकर्षण समाप्त होने लगता है, क्योंकि उससे बड़ी किसी अन्य लालसा के प्रति मन आसक्त होने लगता है। इसलिए जो प्राप्त हुआ, उसका सुख संतोष हम भोग ही नहीं पाते। जो अप्राप्त है, उसके लिए तरसने लगते हैं। जीवन का अधिकांश समय बिना पूरी हुई लालसाओं की इस तरस में ही बीतता चला जाता है। जो कुछ है, उसका सुख नहीं और जो कुछ नहीं है, उसी के लिए व्याकुल बने रहते हैं। भाव का संतोष सुख पाते नहीं। अभाव का दारिद्र्य दुःख सिर पर चढ़ाए रहते हैं। हमारी यह राग-रंजित अवस्था हमें कदापि शांति नहीं दे सकती। क्योंकि तृष्णाओं की कोई सीमा नहीं, इसलिए सारी तृष्णाएं कभी पूरी हो नहीं सकती। एक के बाद एक पूरी हुई तृष्णा हमारे मन को बोझिल बनाए ही रखती है। अपनी एक से एक बढ़ती हुई तृष्णाओं के प्रति हमारी यह गहरी आसक्ति हमारे अंतर्मन में एक ऐसा अटूट तनाव पैदा करती रहती है जिससे कि हमें दिन तो दिन, रात को भी चैन नहीं मिलती। या तो नींद आती ही नहीं और यदि आयी भी तो इस अभावग्रस्त अचेतन मन का भारी बोझ बना ही रहता है। नींद से उठ कर भी हम ताजगी और हल्कापन महसूस नहीं कर पाते। इस प्रकार इन सीमाहीन तमन्नाओं की लालसा हमें रात-दिन बेचैन बनाए रखती है, व्याकुल बनाए रखती है, अधीर बनाए रखती है। मन और शरीर को अनगिनत ग्रंथियों में उलझाए रखती है।

ऐसा हो नहीं सकता कि हमारी सारी तमन्नाएं सहज भाव से पूरी होती ही चली जायँ। क्योंकि जैसे हमारी तमन्नाएं हैं, वैसे ही औरों की भी तो तमन्नाएं हैं ही। और बहुधा हमारी तमन्नाएं औरों की तमन्नाओं से टकराती हैं। यदि हमारी तमन्ना पूरी हो तो किसी अन्य की तमन्ना टूटती है। किसी अन्य की तमन्ना पूरी हो तो

हमारी टूटती है। ऐसी अवस्था में हमारी तमन्नाओं की पूर्ति के रास्ते में जहां भी कोई अवरोध पैदा होता है, वहीं हमें झुंझलाहट होती है, गुस्सा आता है, हमारा आन्तरिक तनाव कई गुना बढ़ जाता है। शरीर और मन की ग्रंथियां और अधिक उलझ जाती हैं। भीतर की गांठें घुलमा गांठें बनती चली जाती हैं। हम अधिक चिड़चिड़े होने लगते हैं। हमारी शांति अधिक भंग होती है। सच्चाई को जाने बिना हम अपने दुःखों का कारण औरों पर आरोपित करने लगते हैं। मन में द्वेष, दौर्मनस्य भरते रहते हैं। राग-रंजित चित्त में जो गांठें बंधती हैं और उनके द्वारा जो मानसिक व शारीरिक तनाव पैदा होता है, वह इस द्वेष दूषित अवस्था में कई गुना अधिक बढ़ जाता है। मन का उत्तेजन और उत्तापन तीव्र हो उठता है। अशांति और बेचैनी ज्यादा बढ़ने लगती है। प्रतिक्षण अपने मकसद की पूर्ति न हो सकने की आशंकाएं हमारी व्याकुलता बढ़ाती रहती हैं। और इस प्रकार हमारे मन और तन दोनों अस्वस्थ हो उठते हैं। जीवन का वास्तविक सुख हमसे कोसों दूर रहता है।

जीवन के सारे भौतिक सुख-साधन, सारा वैभव-विलास, सारी ऐश्वर्य-संपदा हमें फीकी लगने लगती है। क्योंकि हम हमेशा जो हैं, उससे किसी अन्य ऊंची स्थिति की खोज में पागल रहते हैं। जीवन सतत अभावग्रस्त बना रहता है। इस अभाव की पूर्ति में बाधास्वरूप आने वाले हर व्यक्ति, वस्तु, घटना व स्थिति के प्रति चित्त दुर्मन बना रहता है। मनचाही बात होती नहीं, इसकी पीड़ा तो होती ही है। दूसरी ओर अनचाही होती रहती है, यह उस पीड़ा की आग में पेट्रोल छिड़कने का काम करती है। मनचाही स्थिति को हम अपनी ओर खींचने का प्रयास करते हैं और अनचाही स्थिति को दूर ढकेलने का। इस खिंचाव और इस दुराव के कारण, इस राग और इस द्वेष के कारण जो आन्तरिक संघर्ष चलता रहता है, वही हमारा दुःख है। जहां यह संघर्ष समाप्त हुआ, वहीं खिंचाव तनाव दूर हुए, दुःख-दर्द दूर हुए और सही सुख तथा सही शांति मिलने लगी।

जैसे द्वेष की उत्पत्ति राग से होती है, वैसे ही राग की उत्पत्ति मोह-मूढ़ता से होती है। यह मोह-मूढता क्या है? यह हमारे चित्त की वह अज्ञान अवस्था है, जिससे कि हम किसी भी व्यक्ति, वस्तु अथवा स्थिति को और साथ ही साथ अपने आपको चिरस्थायी मानकर उसके प्रति आसक्त हुए चले जाते हैं। विपश्यना साधना द्वारा जब चित्त एकाग्र होकर अपने इस बेचैन अंतर्मन का स्वयं दर्शन करता है तो उसे यह सारा खेल समझ में आने लगता है। वह अपने ही समान सारी बाह्य वस्तुओं को, व्यक्तियों को और स्थितियों को अनित्य महसूस करने लगता है। उनके प्रति नित्यभाव की मिथ्या दृष्टि दूर होती है। उनके नश्वर, भंगुर और परिवर्तनशील स्वभाव को सही-सही समझने लगता है। इस प्रकार सही बात को सही रूप में देखने समझने वाली जो प्रज्ञा जागती है, वह हमें उन भंगुर

आलंबनों के प्रति आसक्त होने से, चिपकने से, बचाती है। राग के प्रति जहां यह चिपकाव टूटता है, वहीं राग से उत्पन्न होने वाले दुःख दूर हो जाते हैं। और जब राग के प्रति चिपकाव टूटता है तो द्वेष-दूषित होने का कोई कारण ही नहीं रह जाता। अतः द्वेष के कारण पैदा होने वाले दुःखों से छुटकारा मिल जाता है। इसी प्रकार राग और द्वेष के कारण उत्पन्न होने वाले भय, आशंका, घृणा, दुर्भावना, क्रोध, दौर्मनस्यता, ईर्ष्या, मात्सर्य आदि-आदि सभी प्रकार के मनोविकारों से छुटकारा मिल जाता है। और इनके कारण उत्पन्न होने वाले सभी दुःखों से भी छुटकारा मिल जाता है। जहां दुःखों की जड़ उखड़ी वहीं सारे दुःख उखड़े। जहां दुष्प्रज्ञता उखड़ी, वहां उससे उत्पन्न हाने वाले राग और द्वेष तथा तज्जनित अनेकानेक मनोविकारों का आवेश रुक गया। इसीलिए आवश्यक है कि दुःख से आत्यंतिक विमुक्ति पाने के लिए हम उसकी जड़ को उखाड़ फेंकें। मोह-मूढ़ता को समूल नष्ट करें। प्रतिक्षण विद्या जागती रहे, प्रज्ञा जागती रहे, बोधि धर्म जागता रहे। बेहोशी में पड़कर राग की आसक्तियों में न उलझने पाये। इसी में हमारी वास्तविक सुख-शांति समायी हुई है। इसी में हमारा मंगल-कल्याण समाया हुआ है।

(वर्ष १ बुद्धवर्ष २५१५ मार्गशीर्ष पूर्णिमा दि.०२-१२-७१ अंक ६)

भवतु सब्ब मङ्गलं!

उद्बोधन : सही श्रद्धांजलि

मेरे प्यारे साधक-साधिकाओ!

धर्मप्रज्ञा जागृत रहे!

किसी भी महापुरुष के प्रति सच्ची श्रद्धा प्रकट करने का एक मात्र सही तरीका यही है कि हम स्वयं उनके गुणों को अपने जीवन में धारण करें और अपनी योग्यता, क्षमता, शक्ति और सामर्थ्य के अनुसार उनके जीवन-आदर्शों को अधिक से अधिक लोगों तक पहुँचाने का भरसक प्रयत्न करें। परम पूज्य गुरुदेव ऊ बा खिन के जीवन का एक मात्र लक्ष्य यही था कि भगवान तथागत की यह कल्याणकारी विपश्यना विधि जो कि उन्हें बरमा की आचार्य परंपरा से प्राप्त हुई थी, उसका लाभ दुनिया के अधिक से अधिक लोग उठाएं। हम उनके इस लक्ष्य की पूर्ति में किंचित भी योगदान दे सकें, तो उनके प्रति सच्ची श्रद्धा प्रकट करेंगे।

इस दिशा में पहली आवश्यकता यह है कि हम स्वयं इस विधि से भलीभांति लाभन्वित हों। परंतु ऐसा होना किसी की दया-अनुकंपा पर अवलंबित नहीं रहता, बल्कि स्वयं अपने अभ्यास पर ही अवलंबित रहता है। बताने वाला तो केवल मार्ग बता देता हैं, भले अत्यंत मैत्री और करुण चित्त से बताए। परंतु उस मार्ग पर चलना तो हमें ही पड़ता है। स्वयं चल-चल कर ही हम अपने लक्ष्य को प्राप्त कर सकते हैं। भगवान बुद्ध ने बार-बार यही कहा कि मै तो केवल मार्ग-निर्देशक हूं, अपने हित-लाभ के लिए इस मार्ग पर चलना तो तुम्हें ही पड़ेगा। अतः परम पूज्य गुरुदेव ऊ बा खिन ने अत्यंत करुणापूर्वक हमारे लिए यह जो पुरातन मार्ग आख्यात किया, उसका सही लाभ तो हम स्वयं अपने अभ्यास द्वारा ही हासिल कर सकते हैं।

पूज्य गुरुदेव के प्रति हमारी सच्ची श्रद्धांजलि इसी बात में है कि हम परिश्रम और लगन के साथ इस विपश्यना विधि का अभ्यास करते हुए, अपने चित को क्लेश-मलों से दूर कर स्वच्छ-निर्मल बनाएं, निश्चल-निर्भय बनाएं और उसमें कर्तव्य-परायणता, सत्य-परायणता, धर्म-परायणता, निष्काम सेवा-परायणता के साथ-साथ असीम मैत्री और करुणा के सद्गुण भरें। तभी हम आत्महित और परहित के मंगल उद्देश्यों की पूर्ति कर सकेंगे। तभी हम परम पूज्य गुरुदेव ऊ बा खिन के जीवन-उद्देश्यों को सफल बना सकने में अपना योग-दान दे सकेंगे। तभी हम गुरु-ऋण से यत्किंचित मुक्त हो सकेंगे। अतः आओ! प्रमाद से

मुक्त रहकर हम अपनी लक्ष्य-सिद्धि में लग जायँ। निरंतर अभ्यास अध्यवसाय में लग जायँ। इसी में हमारा और जगत का मंगल-कल्याण समाया हुआ है।

भवतु सब्ब मङ्गलं!

---०---

गुरुदेव ऊ बा खिन

१९ जनवरी परम पूज्य गुरुदेव ऊ बा खिन का स्मृति-दिवस है। एक वर्ष पूर्व इसी दिन बर्मा के इस संत गृहस्थ ने ७२ वर्ष की अवस्था में अपना शरीर छोड़ा। आओ! इस अवसर पर उस महापुरुष के गुण-धर्मों का स्मरण कर अपने जीवन के लिए प्रेरणा प्राप्त करें।

गुरुदेव ऊ बा खिन की सबसे बड़ी विशेषता थी कर्मठता। उनका ७२ वर्ष का लंबा जीवन अथक कर्ममय ही बीता। उनका सारा जीवन कठिन श्रम और उस श्रम के मीठे फलों से ही भरा हुआ था। एक अत्यन्त अभावग्रस्त गरीब मां बाप के यहां जन्म लेकर भी उन्होंने अपनी कर्म-निष्ठा के बल पर ही ऐसी स्थिति प्राप्त की जिससे कि सारा जीवन सुख-संतोष से भरा रहा। विद्यार्थी जीवन में भी अत्यन्त कुशाग्र तथा परिश्रमी होने के कारण ही वे हर कक्षा में प्रथम स्थान प्राप्त करते रहे। मैट्रिक की परीक्षा बहुत ऊंचे अंकों से पास की और सरकारी छात्रवृत्ति भी हासिल की। परंतु घर की आर्थिक स्थिति इतनी गई गुज़री थी कि हजार चाहते हुए भी कालेज की शिक्षा नहीं ही प्राप्त कर सके। मजबूर होकर किसी सरकारी दफ्तर में एक निम्न श्रेणी के क्लर्क की नौकरी से जीवन-चर्या आरंभ की। परंतु अपनी नेक-नीयती, मेहनत और कर्तव्य-निष्ठा के बल पर ही स्वाधीन बर्मा के प्रथम एकाउंटेंट-जनरल बने; जब कि उनके स्कूली जीवन के अन्य अनेक सहपाठी विश्वविद्यालय की ऊंची से ऊंची शिक्षाएं प्राप्त करके भी और आई. सी. एस. अथवा बी. सी. एस. की परीक्षा में उत्तीर्ण होकर भी अब तक किसी विभाग के अध्यक्ष नहीं बन पाए थे। उनकी तुलना में यह केवल मैट्रिक पढ़े हुए होने पर भी न केवल एक ही विभाग के अध्यक्ष वने, बल्कि सरकारी सेवा काल में कुछ वर्ष तो ऐसे बीते जब कि एक साथ चार-चार सरकारी विभागों के अध्यक्ष पद पर आसीन रहे और साथ ही साथ न जाने कितनी सलाहकार समितियों के सदस्य भी बने रहे। ये सारे पद केवल नाम के लिए नहीं थे। एक-एक पद किसी भी अच्छे से अच्छे प्रशासक को दिन रात व्यस्त रखने के लिए पर्याप्त था। परंतु यह ऊ बा खिन ही

थे, जो कि एक साथ इतने पदों के उत्तरदायित्व को बिना थके मुस्कराते हुए निभा सकते थे। जिन्होंने उन्हें अहर्निश काम में संलग्न देखा है, वे ही विश्वास कर सकते हैं कि कोई एक व्यक्ति इतना काम कैसे कर सकता है। इन जिम्मेदारियों को उन्होंने इस तरह सफलतापूर्वक निभाया कि उनके कार्यकाल में प्रत्येक विभाग में उपलब्धियों के जो कीर्तिमान स्थापित हुए, वे अब तक बेजोड़ ही हैं। यही कारण था कि ५५ वर्ष की अवस्था में सरकारी सेवा से अवकाश प्राप्त कर लेने के बाद भी सरकार ने उन्हें आगामी १२ वर्षों तक सेवा में लगाए ही रखा। ६७ वर्ष की अवस्था में जब सेवा-मुक्त हुए भी तो सरकारी अनिच्छा से ही। इतनी लंबी शासन सेवा न केवल बर्मा के लिए, बल्कि संभवतः विश्व भर की सभी सरकारों के लिए अनूठी बात ही है। अपने दायित्व में अनवरत लगे रहना और आलस्य को पास न फटकने देना, यह पूज्य गुरुदेव का सबसे बड़ा गुण था।

उनकी दूसरी बड़ी विशेषता थी सत्य-निष्ठा। ईमानदारी उनके स्वाभाव का अंग बन गयी थी। वह जिन सरकारी पदों पर थे, उन पर आसीन होकर कोई भी भ्रष्टाचार से मुक्त न रह सका। वे ऐसी काजल की कोठरियां थीं, जिनमें रहकर ऊ बा खिन जैसा सत्यनिष्ठ व्यक्ति ही बेदाग रह सका। वह न केवल स्वयं भ्रष्टाचार से मुक्त रहे, बल्कि अपने अन्य अनेक साथियों, सहयोगियों और सहकारियों को भी मुक्त रह सकने योग्य बना सके। सरकारी दायित्व निभाने में वह जहां एक ओर धन-वैभव के अथवा पद-प्रतिष्ठा के प्रलोभन से अडोल रहे, वहां दूसरी ओर राजनैतिक नेताओं और मंत्रियों के भय व आतंक के दबाव में आकर कोई भी गलत फैसला करने से भी बचते रहे। उनकी निर्भयता न केवल ऊ नू और ऊ बा श्वे की नागरी सरकार के समय, बल्कि जनरल नेविन की सैनिक सरकार के समय भी वैसी ही दृढ़ रही। निडर रह कर सदैव सत्य और न्याय का ही पक्ष लेते रहे। बड़ी से बड़ी कामना-सिद्धि के लिए भी झूठ का सहारा लेना उनके स्वभाव के विरुद्ध था।

सरकारी सेवा से निवृत्त होने के बाद उनकी यह बहुत बड़ी धर्म-कामना थी कि वे विदेशों में जाकर इस मंगलमय विपश्यना मार्ग का प्रचार प्रसार करें, जिससे कि संतप्त मानवता सच्ची सुख-शांति प्राप्त कर सके। परंतु सरकार उन्हें विदेश जाने के लिए पास-पोर्ट दे नहीं सकती थी क्योंकि वह अपने नियमों से बँधी थी। किन्हीं विशेष कारणों को लेकर ही पास पोर्ट दिए जा सकते थे। अतः संबंधित विभाग का एक उच्च अधिकारी उन्हें यह सलाह देने आया कि आप अपने आवेदन पत्र में यह लिख दीजिए कि मैं अपने जीवनयापन के लिए बाहर विदेश

में किसी के यहां नौकरी करने जा रहा हूं। इस पर आप को पास-पोर्ट तुरंत दे दिया जायगा। परंतु यह तो सर्वथा असत्य था और असत्य का सहारा लेना अन्य किसी को भले मंजूर हो, ऊ बा खिन को नितांत अस्वीकार्य ही था। भले वे धर्म-सेवा के लिए बाहर जाने के लिए अंतिम घड़ी तक तरसते ही रहे, परंतु असत्य का सहारा तो नहीं ही लिया।

१९४२ के फरवरी या मार्च महीने की बात है। जापानी सेना रंगून और टौंगू को जीत कर उत्तर बर्मा की ओर बढ़ी चली आ रही थी। अंग्रेजी सरकार तेजी से बर्मा छोड़कर भारत की ओर पलायन कर रही थी। ऊ बा खिन उन दिनों बर्मा रेलवे के अकाउंट्स अफसर थे और मांडले में ही थे। एक दिन जापानियों ने मांडले पर जोरदार बमबारी की, जिसमें स्टेशन सहित रेलवे का कार्यालय भी नष्ट हो गया। रेलवे के सभी बड़े विदेशी अधिकारी मांडले छोड़कर मेमियो तथा लाश्यो की ओर भाग खड़े हुए। लाश्यो से हवाई जहाज द्वारा भारत की ओर निकल भागने की योजना थी। ऊ बा खिन मांडले में ही रहे। उन्हें तो भारत जाना नहीं था। बमबारी के बाद जब कुछ देर के लिए शांति हुई तो रेलवे के नष्ट-भ्रष्ट कार्यालय का निरीक्षण करने गए। देखा कि आग से जली सामग्रियों के बीच कार्यालय की तिजोरी सुरक्षित पड़ी है। चाबी उनके पास थी। कूड़े के ढेर को अलग कर किसी प्रकार तिजोरी खोली और उसमें से रेलवे के खजाने का रुपया निकाला। परंतु यह सरकारी धरोहर थी। उसे भागती हुई सरकार को लौटाना आवश्यक था। ऊ बा खिन जानते थे कि उस प्रकार बदलते हुए राज्य की अस्त व्यस्त स्थिति में कौन पूछेगा कि कौन सी रकम कहां गई और फिर भागा हुआ मालिक तो पूछने भी कहां आयगा? तो भी ऊ बा खिन उसमें से एक छदाम भी अपने पास रखने की कल्पना तक नहीं कर सकते थे। ऐसी थी उनकी सत्य-निष्ठा। घर पर उनकी छोटी बच्ची बीमार पड़ी थी। उसके लिए दवा-दारू की सख्त आवश्यकता थी। परंतु ऊ बा खिन के अन्तःकरण में उनका फर्ज आवाज दे रहा था। उन्होंने बिलखते हुए परिवार को छोड़कर तुरंत जीप द्वारा मेमियो की ओर प्रस्थान किया और अपने से बड़े अधिकारी को सारा खजाना सौंप कर ही संतोष की सांस लेते हुए परिवार की देख भाल के लिए मांडले लौटे। इस प्रकार की घटनाओं से उनका सारा जीवन भरा पड़ा है।

करुणा और मैत्री के तो वे मानो साक्षात अवतार ही थे। सरकारी जिम्मेदारियो में इस कदर व्यस्त रहने के बावजूद उनके मन में अधिक से अधिक लोगों की धर्म-सेवा करने का उत्साह देखते ही बनता था। इतने व्यस्त जीवन में

भी वे हर महीने साधना शिविर लगाने के लिए आवश्यक समय निकाल ही लेते थे। कोई दुःखी संतप्त व्यक्ति उनके पास धर्म सीखने आए तो वे अपनी हजार असुविधाओं का भी ख्याल न कर अवहेलना करके उसे धर्म अवश्य सिखाते थे। कभी कभी तो केवल एक-दो साधकों के लिए ही शिविर लगा लेते थे और उनके लिए भी उतना ही कड़ा श्रम करते थे। प्रत्येक साधक-साधिका के प्रति उनके मन में असीम वात्सल्य उमड़ता रहता था। सभी उन्हें अपने औरस पुत्र-पुत्री जैसे लगते थे। मृत्यु के कुल ३ दिन पूर्व तक उन्होंने एक शिविर संचालन का कार्य पूरा किया और मृत्यु के पहले दिन तक भी इक्के-दुक्के साधकों को धर्म सिखाते ही रहे। प्रत्येक साधक के प्रति तो उनकी असीम करुणा-मैत्री उमड़ती ही रहती थी, समस्त प्राणियों के प्रति भी उनके मन में उतना ही असीम प्यार भरा हुआ था। जो आश्रम में रहे हैं वे ही जानते हैं कि उनकी असीम मैत्री भावना के कारण वहां के सांप बिच्छुओं तक ने अपना हिंसाभाव त्याग दिया था। सभी प्राणी उनकी असीम मैत्री से प्रभावित थे। आश्रम का कण-कण उनके प्रेम रस से सराबोर था। आश्रम के पेड़ पौधों की भी कितने प्यार से सेवा करते थे। आश्रम के फूल-फूल में, पत्ते-पत्ते में उनके अंतर का प्यार छलकता रहता था। यह उनकी मैत्री तरंगों का ही प्रभाव था कि उस तपोभूमि के फलों का रस-मिठास भी अनूठा, फूलों का रंग-रूप भी अनूठा और उनकी सुरभि-सुगंध भी अनूठी ही होती थी।

एक वर्ष अनहोनी बात हुई। बर्मा जैसे धान्यबहुल देश में अकाल की सी स्थिति पैदा हो गई। उपज कम हुई। सरकार को चावल की राशनिंग करनी पड़ी। जनता इस स्थिति से अत्यंत व्याकुल हुई। उस समय अपने दुःखी देश-वासियों के प्रति गुरुदेव की करुणा असीम हो उठी। न केवल होठों पर बल्कि उनके रोम-रोम पर यही ध्वनि समायी रहती थी – **"फीतो भवतु लोको च राजा भवतु धम्मिको।"** इसके कुछ समय बाद ही भारत में अकाल पड़ा। लगातार २ वर्ष तक यही स्थिति रही। उनकी करुणा फिर सजीव हो उठी। उन्होंने आश्रम के एक छोर पर शुभ्र हिमालय के उत्तुंग शिखरों की एक प्रतिकृति बनवा रखी थी। रोज उसके समीप खड़े होकर ध्यान करते और समग्र भारत के प्रति अपनी मंगल कामना भेजते। कहते – "मैं न जाने कितनी बार भारत में जन्मा हूं और इस पावन हिम प्रदेश में ध्यान भावना के लिए वर्षों रहा हूं। आज उस देश के लोग संत्रस्त है, उन्हें सुख शांति मिले। सभी लोग धर्म-विहारी बनें"। कभी-कभी कहते "मुझे भारत तो अवश्य ही जाना है। बर्मा पर भारत का आध्यात्मिक ऋण है, उसे भारत को लौटाना है। मुझे प्राप्त हुई यह अनमोल विपश्यना पद्धति भारत की ही धरोहर है।

मुझे उसे लौटाना है। अपनी यह खोई हुई निधि वापस पाकर भारत धन्य हो उठेगा। न जाने इस समय उस देश में पुण्य-पारमिता वाले कितने लोग पके पकाए तैयार बैठे हैं। उन्हें सद्धर्म की थोड़ी सी भी चेतावनी जाग्रत कर देगी और वे तुरंत धर्म के मार्ग पर आरूढ़ होकर अपना कल्याण साध लेंगे।

वे स्वयं तो भारत नहीं आ सके, परंतु उनके आदेशानुसार उनके धर्म-पुत्र द्वारा जब यहां लोगों को विपश्यना दी जाने लगी तब उनकी प्रसन्नता की कोई सीमा नहीं थी। उनके संदेशो में अपरिमित मंगल-मैत्री छलकी पड़ती थी।

इस पुण्य दिवस पर उस महापुरुष के गुणों का स्मरण कर हम भी प्रेरणा पाएं और अपने जीवन में उनकी-सी कर्तव्य-निष्ठा, सत्य-निष्ठा, निष्काम सेवा-भावना, मैत्री और करुणा भरने का प्रयास करें। यहीं कल्याणकर है, यही मंगलकर है, यही श्रेयस्कर है।

(वर्ष १ बुद्धवर्ष २५१५ पौष पूर्णिमा दि. ३१-१२-७१ अंक ७)

उद्‌बोधन : निर्लिप्त जीवन

मेरे प्यारे साधक साधिकाओ!

धर्म-प्रज्ञा जाग्रत रहे!

धर्म-प्रज्ञा जाग्रत रहेगी तो मोह मूढ़ता दूर हटती जायगी। मोह-मूढ़ता दूर हटेगी तो राग से मुक्ति मिलेगी। राग से मुक्ति मिलेगी तो द्वेष से मुक्ति मिलेगी। राग और द्वेष से मुक्ति मिलते ही उनसे उत्पन्न होने वाले अन्य सभी मनोविकारों से मुक्ति मिल ही गयी। मनोविकारों से मुक्ति मिली तो दु:ख से मुक्ति मिली, बंधनों से मुक्ति मिली।

राग-द्वेष तो जहां कहीं भी हो, दु:ख के विधायक ही हैं। बंधन बांधने वाले ही हैं। और तो और विपश्यना साधना के क्षेत्र में भी राग द्वेष जागे तो पांव में बेड़ियां पड़ जायँ, प्रगति के पथ पर दीवारें खड़ी हो जायँ।

विपश्यना– साधना का काम तो राग और द्वेष को समाप्त कर देना है। राग-द्वेष जागते रहें तो विपश्यना-साधना कहां हुई?

विपश्यना-साधना के क्षेत्र में राग-द्वेष कैसे जागते हैं? विपश्यना-साधना के गहरे अभ्यास के लिए शरीर के अणु-अणु में उत्पत्ति और व्यय की संवेदना जागनी आवश्यक है। परंतु ऐसी संवेदना न जाग रही हो, अथवा अधूरी जाग रही हो तो ऐसी मनचाही संवेदना प्राप्त करने के लिए मन छटपटाने लगे, इस अनचाही स्थिति को दूर करने के लिए आकुल-व्याकुल होने लगे, और जब कभी ऐसी संवेदना प्राप्त हो जाय तब उसे ही सब कुछ मानकर खुशी से नाचने लगे तो यही राग-रंजन है, यही द्वेष-दूषण है। इस प्रकार राग-रंजित और द्वेष-दूषित हुआ साधक साधना में आगे बढ़ नहीं सकता।

निर्लिप्त रहकर, जो जैसा है उसे वैसा ही देखते रहने का नाम ही तो विपश्यना साधना है। राग-रंजित हो गए या द्वेष-दूषित हो गए तो निर्लिप्ति कहां रही?

निर्लिप्त हो जाने का मतलब निष्क्रिय हो जाना नही हैं। काम तो करते ही रहना होगा। अभ्यास तो चालू रखना ही होगा। निरंतर अभ्यास द्वारा ही तो समाधि पुष्ट होगी, चित्त एकाग्र होगा, कुशाग्र होगा, तीव्र संवेदनशील होगा। और तब अपने आप अविद्या का मोटा परदा फटेगा और सारे शरीर में सूक्ष्म से सूक्ष्म संवेदना अनुभूत होने ही लगेगी। अत: आवश्यक है कि अभ्यास की निरंतरता बनाए रखें। लोभ-लालसा से बचते हुए, द्वेष-दौर्मनस्य से बचते हुए, आलस्य-प्रमाद से बचते हुए, उद्विग्नता-उत्तेजना से बचते हुए, शंका-संदेह से बचते हुए,

उत्साहपूर्वक अभ्यास करते ही रहें।

साधको! हमारा कल्याण इसी में है कि मोह से बचें, राग से बचें, द्वेष से बचें। मोह राग और द्वेष से बचे रहकर अन्य मनोविकारो से बचें। निर्विकार कर्म में ही दु:खद बंधनों से छुटकारा है। इसी में सबका मंगल समाया है।

---o---

तृष्णा की गुलामी और मुक्ति

तृष्णा एक जहर है। हमारे जीवन-पात्र में भरा हुआ मीठा मादक जहर। मीठा है इसलिए स्वाद के मारे हम इसे निरंतर पीते रहते हैं। मादक है इसलिए इसे पीकर हम मदहोश हुए रहते हैं और यह भी नहीं समझ पाते कि हम जहर पी रहे हैं। जहर है इसलिए इसे पीकर हम प्रतिक्षण मृत्यु के चंगुल में ही उलझे रहते हैं। नए-नए जन्म लेते हैं, परंतु हर जन्म मृत्यु के पोषण के लिए ही होता हैं। हर जीवन की दौड़ मृत्यु के लिए ही होती है। हर जन्म की चरम परिणति मृत्यु में ही होती है।

तृष्णा हमारे जीवन-नासूर की पीप है जो सतत प्रवहमान है। प्रतिक्षण इस फोड़े में से गंदे स्राव की तरह रिस-रिस कर बहती ही रहती है। इस आस्रव के कारण जीवन-वृक्ष सदा हरा रहता है। कभी सूखने नहीं पाता। हम इसकी पीड़ा से मुक्त नहीं हो पाते।

तृष्णा हमारे जीवन-कोढ़ की खाज है। इसे खुजला खुजलाकर हम इस कोढ़ को बढ़ाते रहते है। खुजलाने का मजा कोढ़ के कष्ट पर हावी हुआ रहता है।

तृष्णा जीवन का कफन है। मृत्यु की चादर है। इसे हम सुंदर दुशाले की तरह ओढ़े हुए इसके सौन्दर्य पर मुग्ध रहते हैं।

तृष्णा एक प्यास है जो कभी तृप्त नहीं हो सकती। सारे विश्व का एन्द्रिय-रस भी इस तृष्णा को बुझा नहीं सकता।

तृष्णा एक भूख है जो कभी मिटती नहीं। दुनियाभर का वैभव-भोग भी इस भूख को शांत नहीं कर सकता।

तृष्णा क्षितिज पकड़ने की ऐसी दौड़ है, जो कभी पूरी हो नहीं सकती।

तृष्णा एक ऐसा मृग-जाल है, जिसे भली-भांति न समझने के कारण इसमें से निकलने का प्रयत्न हमें अधिक उलझाता ही रहता है।

तृष्णा रबड़ की गेंद है। इसे जितने जोर से नीचे की ओर फेंकते हैं, यह उतनी ही तेजी से ऊपर की ओर उछल कर आती है। इसका जितना दमन करते है, यह उतनी ही विस्फोटक बनती जाती है।

तृष्णा को समझो। तृष्णा की गुलामी को समझो। यह जीवन की नैसर्गिक भूख से अलग है। दोनों का भेद जान लेना कल्याणकारी है।

भूख लगे तो शरीर पोषण के लिए आवश्यक आहार ग्रहण करना नैसर्गिक है। परंतु पेट भरा हो तो भी जीभ के स्वाद के लिए खट्टे, मीठे, तीखे, चरपरे, रसभरे व्यंजन खाते रहना तृष्णा की गुलामी है। हिंसक पशु अपनी भूख मिटाने के लिए शिकार करता है। परंतु पेट भर जाने पर किसी जीव को मारने की बात सोचता भी नहीं। भरे पेट कुछ और खाने की बात सोचता भी नहीं। यह नैसर्गिक है, प्राकृतिक है। परंतु कामना के गुलाम मनुष्य का पेट भरा हो तो भी जीभ के स्वाद के लिए नए-नए व्यंजन खाते रहने से वह नहीं अघाता। बिना भूख के भी समय-असमय कुछ न कुछ चरते रहना तृष्णा की गुलामी है।

प्यास लगे तो स्वच्छ, शीतल जल ग्रहण करना नैसर्गिक है। परंतु स्वाद के मारे बिना प्यास के ही भिन्न-भिन्न प्रकार के स्वादिष्ट पेय पीते रहना तृष्णा की गुलामी है।

सर्दी-गर्मी और वर्षा से, कीट-पतंगों और मक्खी-मच्छरों से शरीर को बचाने के लिए तथा आवश्यक वस्त्र धारण करना स्वाभाविक है। परंतु स्पर्धा के वशीभूत होकर मात्र अहं-पोषण के लिए, अपने कबाट को नित्य नए फैशन वाले चमकीले-भड़कीले वस्त्र आभूषणों से भरे रखना और ऐश्वर्य-प्रदर्शन की होड़ में उनका इस्तेमाल करना तृष्णा की गुलामी है।

धूप तथा कंकड़-काटों से बचने के लिए पांव में जूते पहनना स्वाभाविक आवश्यकता है। परंतु एक जोड़ी जूते होते हुए भी विभिन्न डिजाइनों के जूतों, चप्पलों का ढेर जमा रखना और महज वैभव-प्रदर्शन के लिए उन्हें पहनना, तृष्णा की गुलामी है।

जनसेवा में लगना नैसर्गिक गुण है। परंतु जनसेवा के नाम पर किसी सभा-सोसाइटी या सत्ता के पद पर आसीन होने के लिए व्याकुल रहना और पद प्राप्त हो जाय तो उससे चिपके रहने के लिए व्यग्र-व्यथित रहना तृष्णा की गुलामी है।

विवाह-शादी के अवसर पर नवदंपति के लिए बड़े-बुजुर्गों, बंधु-बांधवों, मित्र-स्नेहियों की मंगल-कामना अपेक्षित है। परंतु ऐसे अवसर पर वैभव-प्रदर्शन की होड़, तृष्णा की गुलामी है।

इसी मापदण्ड से अपने जीवन की नैसर्गिक आवश्यकता पूर्ति को तृष्णा की गुलामी से अलग करके देखते-समझते रहो। दोनों एक नहीं हैं, जुदा-जुदा हैं।

तृष्णा की गुलामी को नैसर्गिक आवश्यकताओं का झूंठा जामा पहनाना अपने आप को धोखा देना है। रूप, शब्द, रस, गंध, और मनोविकल्प रूपी ऐन्द्रिय

विषयों के उपभोग के लिए पागलों की तरह दौड़ना नैसर्गिक आवश्यकता की पूर्ति कदापि नहीं हैं।

प्रत्येक तृष्णा के उत्पन्न होने पर मन और तन पर एक विशिष्ट प्रकार का अत्यंत सूक्ष्म स्पंदन होने लगता है, जिसकी संवेदना चेतन मन को भले न हो, परंतु अचेतन मन को होती रहती है। जब तक अभीष्ट की प्राप्ति न हो जाय तब तक यह स्पंदन-संवेदन चलता ही रहता है। जब-जब अभीष्ट के प्रति आतुरता-अधीरता बढ़ती है, तब-तब यह स्पंदन भी अधिक तीव्र हो उठता है। तृष्णा के साथ-साथ जन्म लेने और जीवित रहने वाला यह स्पंदन अप्रिय होता है, क्योंकि स्नायु-तंतुओं पर तनाव पैदा करता है, गांठे बांधता है। परंतु इस तनाव और इन ग्रंथियों के बावजूद इस अप्रिय संवेदना में एक प्रकार की सम्मोहन शक्ति होती है जिससे कि अचेतन मन धीरे-धीरे इसमें डूबे रहने का आदी हो जाता है। यह एक अटूट व्यसन की तरह मन से चिपक जाता है। कभी-कभी यह तनाव बहुत ही तीव्र हो उठता है तो हम अपना मानसिक संतुलन खो बैठते हैं और विक्षिप्त हो जाते हैं। परंतु ऐसा न हो तो भी निरन्तर बने रहने वाले इस तनाव का बुरा असर हमें बेचैन तो बनाए ही रखता है। तृष्णा का यह जहर हमें मर्मान्तिक पीड़ा पहुँचाते रहता है। परंतु फिर भी मीठा होता है, मादक होता है, इसलिए तनाव और कसाव से परिपूर्ण होते हुए भी कुटेव की तरह हमारा पीछा नहीं छोड़ता।

जब कभी किसी कामना की पूर्ति हो जाती है तो यह विशेष प्रकार का स्पंदन-संवेदन थोड़ी देर के लिए रुक जाता है। उस समय हमारे अंतर्मन पर एक अन्य प्रकार के स्फुरण-सिहरन की संवेदना होने लगती है, जो कि हमें सुखद लगती है, प्रिय लगती है, रोचक लगती है। परंतु यह दीर्घजीवी नहीं होती। उत्पन्न होने के थोड़े समय पश्चात ही यह बासी पड़ने लगती है। इसका आकर्षण मंद पड़ने लगता है। इसके द्वारा प्रतीत होने वाले सुख-संतोष विलीन होने लगते हैं। और धीरे-धीरे इस स्फुरणा का संवेदन पूर्णतया रुक जाता है और तब कामना-तृष्णा वाला पूर्ववर्ती स्पंदन-संवेदन पुनः जाग पड़ता है। क्योंकि यह संवेदन तो एक व्यसन की तरह पीछे लग ही चुका होता है, इसे निरन्तर चालू रखने के लिए अन्तर्मन अपने लिए कोई न कोई नया अभीष्ट खोज लेता है। नया आलंबन प्राप्त कर लेता है। और इस प्रकार यह फोड़ा रिसता ही रहता है, चूता ही रहता है। यह आग सुलगती ही रहती है, धधकती ही रहती है। किसी न किसी रूप में हम इस नासूर के प्रति नित्य नया भाव पैदा करते ही रहते हैं। इस आग के लिए नित्य नया जलावन पैदा करते ही रहते है। कभी रूप का, कभी रस का, कभी गंध का, कभी शब्द का, कभी स्प्रष्टव्य का कभी मनोविकल्प का। यही तृष्णा के प्रति आसक्ति है। तृष्णा के सहजात उस सूक्ष्म स्पंदन के प्रति आसक्ति है जो कि हमारा पीछा नहीं छोड़ती।

इस प्रकार कामना और तृष्णा के घोड़े सरपट दौड़ते ही रहते हैं। किसी एक

अभीष्ट की सिद्धि पर जो अल्पकालिक सुखद स्फुरणा हुई थी, उसकी याद में इन घोड़ों की गति और तेज होती ही रहती है।

कामना-पूर्ति में जहां कोई अड़चन पैदा होती है, वहीं द्वेष-शोक जाग उठते हैं। अभीष्ट सिद्धि नहीं होगी, इस आशंका की पीड़ा जाग उठती है। अभीष्ठ सिद्धि हो जाने पर वह कहीं छूट तो नहीं जायगी, इस भय की चिंता जाग उठती है। दुःख, शोक, आशंका, भय, ये सारे के सारे विकार तृष्णा की ही उपज हैं। इन दर्दनाक मनोविकारों से मुक्ति पाने के लिए तृष्णा-कामना से विमुक्त होना अनिवार्य है, अपरिहार्य है?

भगवान ने कितना ठीक कहाः–

तण्हाय जायती सोको, तण्हाय जायती भयं।
तण्हाय विप्पमुत्तस्स, नत्थि सोको कुतो भयं?

(धम्मपद गाथा २१६)

तृष्णा से ही शोक उत्पन्न होता है। तृष्णा से ही भय उत्पन्न होता है। तृष्णा से मुक्त हो जाय तो शोक ही न रहे, फिर भय कहां रहे?

और तृष्णा से विमुक्त होने का सहज, सरल तरीका है– **विपश्यना भावना**। अपने चित्त में समायी हुई तृष्णा को, कामना को न दबाएं, न उपेक्षित करें, बल्कि साक्षीभाव से देखें। कामना-तृप्ति पर प्राप्त हुए क्षणिक सुख से पागल न हो जाय, बल्कि उसे साक्षीभाव से देखें। अतृप्ति के कारण भविष्य के प्रति जो आशंका और भय उत्पन्न होते हैं, उनसे आकुल-व्याकुल और भयभीत न हो जायँ, बल्कि उन्हें साक्षीभाव से देखें। इसी प्रकार इन मनोविकारों से उत्पन्न होने वाले स्पंदन, सिहरन, थिरकन, फुरकन, स्फुरण, कंपन, धूजन, जलन, उत्पीड़न आदि आदि विभिन्न संवेदनाओं से प्रभावित हुए बिना, इन्हें साक्षीभाव से देखें। इन्हें अचेतन से चेतन मन तक लाकर साक्षीभाव से देखते ही इनका रेचन हो जाता है, उन्मूलन हो जाता है। इनकी जकड़ ढीली पड़ जाती है। इनके क्षण-क्षण परिवर्तित अनित्य स्वभाव को प्रज्ञा-दृष्टि द्वारा देख लेना ही साक्षीभाव से देखना है; यथाभूत देखना है। यही विपश्यना भावना है, विदर्शना भावना है। यही स्थितप्रज्ञता और अनासक्ति का सहज सरल क्रियात्मक अभ्यास है। तृष्णा की गुलामी से नितांत विमुक्ति पाने का यही कल्याणपथ है, यही मंगल-मार्ग है।

(वर्ष १ बुद्धवर्ष २५१५ माघ पूर्णिमा दि. ३०-०१-७२ अंक ८)

उद्‌बोधन : ब्रह्मविहार

मेरे प्यारे साधक साधिकाओ!

अपरिमित ब्रह्मविहारों का अभ्यास करना चाहिए।

अपरिमित मैत्री ब्रह्मविहार का अभ्यास करना चाहिए। अपरिमित करुणा ब्रह्मविहार का अभ्यास करना चाहिए। अपरिमित मुदिता ब्रह्मविहार का अभ्यास करना चाहिए। अपरिमित उपेक्षा ब्रह्मविहार का अभ्यास करना चाहिए। चारों अपरिमित ब्रह्मविहारों का अभ्यास करना चाहिए।

चारों अपरिमित ब्रह्मविहारों के अभ्यास का एक सरल तरीका है– महाफलदायी त्रिकालिक त्रिविध परिशुद्ध दान।

दान कैसे त्रिकालिक परिशुद्ध होता है?

जब दायक का चित्त दान देने के पूर्व, दान देते समय और दान देने के पश्चात असीम प्रीति-प्रमोद से ओत-प्रोत रहता है तब दान त्रिकालिक परिशुद्ध होता है।

दान कैसे त्रिविध परिशुद्ध होता है? जब दान देने वाला शुद्ध शील संपन्न हो; जब दान लेने वाला शुद्ध शील संपन्न हो; जब जो कुछ दान दिया जा रहा है, वह परिमाण में चाहे थोड़ा हो या बहुत; कीमत में भी चाहे थोड़ा हो या बहुत, परंतु हो शुद्ध; यानी अपनी मेहनत की, ईमानदारी की, सम्यक आजीविका की कमाई का हो, तो दान त्रिविध परिशुद्ध होता है।

त्रिकालिक त्रिविध परिशुद्ध दान महाफलदायी होता है।

ऐसा दान ब्रह्मविहार के अभ्यास का कारण कैसे बन जाता है?

तब बन जाता है जब कि दान में दी गयी वस्तु अथवा स्थान अथवा सहूलियत किसी व्यक्ति विशेष के लिए ही न हो, बल्कि समस्त भिक्षु-संघ के लिए हो, समस्त श्रावक-संघ के लिए हो, समस्त साधक-संघ के लिए हो। सार्वजनीन हो। सबके हित-सुख के लिए हो।

ऐसे दान के कारण दायक का चित्त यह सोचकर अपरिमित मैत्री से भर जाता है कि मेरे इस दान से अनगिनत लोग सुख लाभी हो रहे हैं या होंगे; धर्मलाभी हो रहे है या होंगे। उसका चित्त अपरिमित करुणा से भर जाता है कि संसार मे कितने लोग दुखियारे हैं जिन्हें कि इस दान से दुःखविमुक्ति मिलेगी सुखलाभ मिलेगा, धर्मलाभ मिलेगा।

उसका चित्त अपरिमित मुदिता से भर जाता है कि अहो! मेरे इस दान से कितने लोग सुखलाभी धर्मलाभी हो कर प्रसन्न हो रहे हैं, मुदित हो रहे हैं।

उसका चित्त अपरिमित उपेक्षा से भर जाता है कि मेरे इस दान की कोई प्रशंसा करे या निंदा करे, मुझे इससे यश मिले या अपयश मिले, मुझे सरोकार नहीं है। अपनी निज-प्रशंसा या यश-अपयश के लिए मेरा यह दान नहीं हैं। शुद्ध धर्म चेतना से दिया हुआ यह दान तो मात्र परहित के लिए ही है।

इस प्रकार साधको! परिशुद्ध दान द्वारा चारों ब्रह्मविहारों का अभ्यास किया जाता है।

साधको! अपरिमित ब्रह्मविहारों का अभ्यास करना चाहिए।

अपरिमित ब्रह्मविहारों का अभ्यास हमारे लिए असीम मंगलदायी है, कल्याणदायी है।

---o---

दान-कथा

विगत १९ जनवरी को परम पूज्य गुरुदेव ऊ बा खिन की प्रथम पुण्य-तिथि के अवसर पर, बोधगया की पावन धरती पर वृहद्दान-यज्ञ का आयोजन किया गया। सभी दानों में श्रेष्ठतम, प्रणीततम, महत्तम दान तो धर्म-दान ही होता है। अतः दो विशालकाय धर्म-यज्ञों का संचालन किया गया जिनसे देश-विदेश के सैकड़ों लोग धर्मलाभी हुए। साथ ही साथ आमिष-दान यानी भौतिक-दान का भी आयोजन किया गया। भोजन, वस्त्र, मुद्रा एवं अन्य आवश्यक वस्तुओं का भी दान दिया गया। इस दान-यज्ञ में समस्त भारत के अनेक वयोवृद्ध बुजुर्ग भिक्षु पधारे, श्रमण-ब्राह्मण पधारे और उन्होंने श्रद्धालु दायकों को दान के अपूर्व पुण्य का शुभ अवसर प्रदान किया। सुदूर आसाम से, कलकत्ते से, नागपुर से, लुंबिनी से, काठमाण्डू से, इटावा से, वाराणसी से, नालंदा से पधारे हुए विद्वान तपस्वी स्थविरों महास्थविरों ने दान ग्रहण करने की अनुकंपा की। ऐसे-ऐसे महाश्रमण जिन्होंने कि धर्म समझने और समझाने में, पालन करने और कराने में ही अपना सारा जीवन लगा दिया है। दान के पात्र अच्छे हों तो पुण्य अधिक फलदायी होता है। वैसे ही जैसे कि भूमि उर्वरा हो तो बोया हुआ बीज अच्छे फल देता है।

इसके अतिरिक्त बोधगया की विपन्न प्रजा में से सैकड़ों लोगों को भोजन-दान दिया गया। अनेकों को वस्त्र-दान दिया गया।

अनेक साधकों ने इस बृहद्दान-यज्ञ में धर्म चेतना से भाग लिया। दान की शुद्धता इसी में है कि वह धर्म-चेतना से दिया जाय। यही दान का महाफल है जो कि हमारे रोगी चित्त को निरोगी बनाता है। कृपणता, कठोरता, कटुता, स्वार्थपरता, संकुचितता और नीरसता से भरे हुए चित्त को उदार, मृदुल, कोमल, सौम्य, विशाल, परमार्थी और सरस बनाता है। यही तो चित्त की स्वस्थता है।

दान देना गृहस्थों का बुनियादी धर्म है। इस देश की प्राचीनतम धार्मिक परंपरा में सदा से दान का विशिष्ट महत्त्व रहा है। अतीत काल में सभी धन संपन्न गृहस्थ बृहद्दान-यज्ञों का आयोजन करते रहे हैं। पुरातन युग के सद्गृहस्थ, ऋषि-महर्षि जैसे– अट्ठक, वामक, वामदेव, विश्वामित्र यमदग्नि, अङ्गिरा, भारद्वाज, वशिष्ट, काश्यप आदि सभी दान के महायज्ञ रचाते रहे हैं। पूर्वकाल में महाराज वैस्सन्तर और पश्चात्काल में महाराज हर्ष जैसे महादानी सर्वस्व दान का उच्च आदर्श स्थापित करते रहे हैं। उनकी दानचेतना बड़ी उदात्त होती थी। सबकी दानचेतना वैसी ही उदात्त होनी चाहिए, निर्मल होनी चाहिए। समाज की विशिष्ट रचना-व्यवस्था के कारण प्रजा का धन राजाओं और धनपतियों के पास संगृहीत होता रहता है। यह धन एक जगह संगृहीत ही रहे तो रुके हुए जल के समान सड़ने लगता है। सारे राष्ट्र को अस्वस्थ बनाता है। बहते नीर की तरह आता रहे और जाता रहे तो इसकी निर्मलता बनी रहती है। यही समझकर, दान देने वाला, अनुचित परिग्रह के दोष से बचने के लिए, अपने संगृहीत धन को राष्ट्र का धन मान कर "संविभाग" के हेतु दान देता था ताकि इस एकत्र हुए धन का सब लोग बांट कर उपभोग कर सकें। यह साम्य बुद्धि सामाजिक समृद्धि का संतुलन बनाये रखती थी और उसे विषम होने से बचाती रहती थी। संपन्न दाता अपनी धर्म-बुद्धि और कर्त्तव्य-बुद्धि से ही समय-समय पर धन का "संविभाग" करता रहता था। बदले में कुछ पाने की इच्छा से नहीं। औरों को हीन मान कर अपने अहंभाव की पुष्टि के लिए नहीं। यही दान की श्रेष्ठता थी। यही दान की शुद्धता थी।

"विचेय्य दानं दातब्बं, यत्थ दिन्नं महप्फलं ।"

(पेतवत्थु ३२९)

धर्म बुद्धि द्वारा भली भांति सोच समझ कर दिया गया शुद्ध दान महाफलदायी होता है। तो हम भी धर्मबुद्धि द्वारा सोच समझ कर ही दान देना सीखें।

दान दो प्रकार के होते हैं।

१. **वट्टमूलक दान** यानी भवचक्र में उलझाए रखने वाला दान।

२. **विवट्टमूलक दान** यानी भवचक्र से बाहर निकाल देने वाला दान। सही धर्म-चेतना वाला व्यक्ति भवचक्र से छुटकारा दिलाने वाला दान ही देता है, भवचक्र में बांधनेवाला नहीं।

जैसे अन्य सभी कर्म वेसे ही दान कर्म भी चित्त की चेतना से ही अच्छा बुरा आंका जाता है। चित्त की जैसी चेतना होती है वैसा ही कर्मबीज होता है। और उसी के अनुरूप प्रकृति फल पैदा करती रहती है। भवचक्र को काटने वाला विवट्टमूलक चित्त राग विहीन होता है, द्वेष विहीन होता है, मोह विहीन होता है। ऐसे चित्त से दिया गया दान ही विवट्टमूलक दान होता है। लोकचक्र को छिन्न-भिन्न करने वाला होता है। ऐसा दान देते हुए हम अपना किंचित भी स्वार्थ नहीं देखते। दान पाने वाले का हित सुख देख कर मुदित होते हैं। जब हम औरों के मोद से मुदित होते हैं तो हमारा चित्त निर्मल होता है, मृदुल होता है, स्वार्थपरक संकुचितता और कठोरता से मुक्त होता है।

लेकिन दान देते हुए जब हम स्वहित के लिए किसी फल की कामना करते हैं तो वह रागरंजित चित्त वट्टमूलक ही होता है, भवचक्र बनाने वाला ही होता है। ऐसी चेतना से दिया गया दान भवचक्र बढ़ाने वाला ही होता है। दान के फलस्वरूप लौकिक सुख-वैभव की कामना करें, कीर्तिपथ की कामना करें, मान-सम्मान की कामना करें, लाभ-सत्कार की कामना करें, स्वर्ग-अपवर्ग की कामना करें, तो इन कामनाओं से अभिभूत हुआ चित्त बंधनयुक्त ही होता है, बंधनमुक्त नहीं। इस दान का फल बांधने वाला ही होता है, खोलने वाला नहीं।

अतः रागरंजित चित्त से दान देना बुरा है। परंतु उससे भी बुरा है द्वेष-दूषित चित्त से दान देना। वह तो हमारे लिए और भी अनर्थ का कारण बन जाता है। धर्म के नाम पर पाप कमाने वाली क्रिया हो जाती है। दिया गया धन तो खोते ही हैं, परंतु साथ-साथ अकुशल चित्त के आधार पर किया गया कर्म हमारे अमंगल और अकुशल का हेतु बनता है।

उदाहरणों से समझें कि हम द्वेष-चित्त से दान कैसे देते हैं?

एक भिखमंगा मेरे दरवाजे पर खड़ा होकर पुकार रहा है – "बाबा! पैसा दे। बाबा! पैसा दे।" मैं उसकी इस बार-बार की पुकार से झल्ला कर उसकी ओर पांच पैसे का सिक्का फेंकता हूँ कि बला टले। उस समय मेरा चित्त क्रोध और घृणा से भरा होता है।

कुछ भाई किसी स्कूल, अस्पताल या आश्रम बनाने के लिए चंदा जमा करने मेरी दुकान पर आए हैं। उन्हें देखते ही मैं तमतमा उठा और बड़बड़ाने लगा – "चंदा चंदा। जब देखो तब चंदा। दो मुनीमजी, इन्हें पांच रुपए और पिंड

छुड़वाओ।" वह रुपए दिलवाते हुए मेरा मन आक्रोश से भरा है। अप्रिय चंदावालों से शीघ्र छुटकारा पाने के लिए व्याकुल है।

किसी मंत्री या राजनेता ने मुझे अपने घर या दफ्तर बुला कर कह दिया है कि अमुक चंदे में इतने रुपए देने होंगे। मुझे उस चंदे में जरा भी रुचि नहीं है। परंतु भय से भीत हूँ। न दूंगा तो अगला कोटा परमिट, लाइसेंस नहीं मिलेगा। मुझे किसी जांच में उलझा कर मेरा व्यापार चौपट कर दिया जायगा। इस डर से दान देता हूं।

मेरे कल्याण मित्र ने कहला भेजा है कि इस काम में तुम्हें इतना दान देना चाहिए। मैं देना तो नहीं चाहता, परंतु लिहाज संकोच के मारे देता हूं।

मेरे अन्य भाइयों ने किसी काम में दान दिया है। मुझे उसमें दान देने की इच्छा जरा भी नहीं है। परंतु नहीं दूंगा तो मेरी प्रतिष्ठा को धक्का लगेगा। लोक निंदा होगी। इस भय से दान देता हूं।

मेरे प्रतिद्वंद्वी ने किसी क्षेत्र में इतना दान दिया है जिससे उसकी कीर्ति बढ़ी है। इससे मेरे मन में ईर्ष्या उत्पन्न हुई। उसका गर्व भंजन करने के लिए और उसे नीचा दिखाने के लिए, अंहकार से चूर होकर मैं उससे अधिक दान देता हूं।

इस प्रकार क्रोध, झुँझलाहट, चिड़चिड़ाहट, घृणा, भय, लिहाज, संकोच, प्रतिस्पर्धा, ईर्ष्या, वैमनस्य, दर्प, अभिमान आदि दौर्मनस्यता पूर्ण चेतना से मैं दान देता हूं और देने के बाद उसे याद कर के पश्चाताप करता हूं, मन मलीन करता हूं तो ऐसी दुर्मन चेतना का दान मेरे लिए केवल अहितकारी ही नहीं होता, बल्कि मेरे अमंगल अहित का भी कारण बनता है।

धर्म चेतना से किए गए सभी कर्म मंगलकारी हैं। अधर्म चेतना से किए गए सभी कर्म अमंगलकारी हैं। अतः धर्मचेतना से दिया गया दान मंगलकारी है। अधर्म चेतना से दिया गया दान अमंगलकारी है। इसलिये सदा धर्म चेतना से ही दान दें। धर्म चेतना से दिए गए दान में चित्त त्याग भाव से भरा होता है। परहित परसुख के मोद भाव से भरा होता है। त्रैकालिक प्रसन्नता से भरा रहता है।

दान देने के पूर्व मन में ऐसे ही मोदकारी भाव जागते रहते हैं कि मैं दान दूंगा! मेरे दान से कितनों का भला होगा! कितनों का कल्याण होगा! दान देते भी मन इन मुदित भावों से ओतप्रोत रहता है कि मैं दान दे रहा हूं! गृहस्थ धर्म का पालन कर रहा हूं' मेरे इस दान से ग्रहीता का यह हित सुख होगा! अन्य अनेकों का भी यह हितसुख होगा! दान देने के पश्चात भी मेरा मन बार-बार इन्हीं शुभ भावों से उर्मिल होते रहता है कि अहो! मैंने उत्तम भोजन का दान दिया जिसे खाकर, उत्तम वस्त्र का दान दिया जिसे पहन कर, उत्तम दवा का दान दिया जिसे

ग्रहणकर, ग्रहीता शरीर और मन से स्वस्थ सबल होगा और शील समाधि-प्रज्ञा का अभ्यास कर अपना मंगल साधेगा और अनेकों के मंगल का कारण बनेगा! मैंने इस कुटिया का दान दिया जिसमें रह कर साधक शील, समाधि, प्रज्ञा का अभ्यास करेगा, शमथ और विपश्यना साधना भावना का अभ्यास कर निर्वाण रस की सुख-शांति का आस्वादन करेगा और अनेकों की सुखशांति का कारण बनेगा। मेरे दान का ग्रहीता कोई जीवन्मुक्त अरहंत हो अथवा अरहंत-पथ का अनुगामी कोई धर्मभावी संत पुरुष भी हो तो मेरा मन असीम आह्लाद-प्रह्लाद से भर उठेगा – अहो! मेरा सौभाग्य है मेरे दान से ऐसा संत पुरुष कुछ काल तक और सबल स्वस्थ रह जीयेगा और इससे कितनों का कल्याण होगा! इसने मेरा दान स्वीकार कर मुझ पर असीम अनुकंपा ही की है!

इस प्रकार देने के पूर्व भी, देते हुए भी और देने के पश्चात भी दायक अपने चित्त को निर्मल प्रसन्नता से भरता है और उसे मंजुल-मृदुल बनाता है।

पुब्बेव दाना सुमनो, ददं चित्तं पसादये।
दत्वा अत्तमनो होति, एसा यञ्ञस्स सम्पदा॥

(अङ्गुत्तरनिकाय ६/३७, छळङ्गदानसुत्तं, पेतवत्थु ३०५)

दान देने वाला देने के पूर्व सुमन होता है, देते हुए चित्त को प्रसन्न प्रसाद रस से भरता है और देने के बाद चित्त मुदित करता है। ऐसी है धर्मचेतना वाले दान-यज्ञ की सुख-संपदा!

(वर्ष १ बुद्धवर्ष २५१५ फाल्गुन पूर्णिमा दि. २९-०२-७२ अंक ९)

उद्‌बोधन : शीलवान बनें

प्यारे साधक-साधिकाओ!

आओ हम शीलवान बनें!

शीलवान बनें, जिससे कि स्वयं भी सुख-शांति का उपभोग कर सकें और औरों की सुख-शांति भी अभंग रख सकें। शील टूटते ही हमारी भी शांति भंग होती है, औरों की भी शांति भंग होती है, हमारा भी हित-सुख दूर होता है, औरों का भी हित-सुख दूर होता है। आत्महित और परहित साधन का नाम ही शील है। आत्म-अहित और पर-अहित ही तो शील-भंजन है।

हम किसी की हत्या करते हैं, हम परायी वस्तु चुराते हैं, छीनते हैं, हम व्यभिचार करते हैं, हम झूठ, छल, कपट की वाणी बोलते हैं, कड़वी, विषैली निंदाजनक और निरर्थक वाणी बोलते है, तो पर-पीड़न तो करते ही हैं, साथ-साथ स्वयं भी हिंसा, क्रोध, रोष, लोभ, ईर्ष्या, द्वेष, काम-लोलुपता, वासना, छलना, प्रवंचना और कटुता-कड़ुवाहट की गंदगियों से अपना मन-मानस भर लेते हैं, अपने मन की निर्मलता खो बैठते हैं, अपनी सुख-शांति और चैन नष्ट कर लेते हैं। इसी प्रकार मादक पदार्थों का सेवन करके हम पराधीन बन जाते हैं, गुलामी की जंजीरों में जकड़ जाते हैं और प्रमत्त अवस्था में अपना तथा औरों का, सबका अहित ही करते हैं।

प्रत्येक शील का भंग होना अपने और पराये सब के लिए हानिप्रद ही है। परहित का मंगलभाव अभी तक मन में स्थापित नहीं हुआ तो कम से कम आत्महित के लिए ही सही, स्वार्थसिद्धि के लिए ही सही, शीलवान बनना सीखें।

अपना स्वार्थ साधना बुरा नहीं है, बशर्ते कि हम अपना सही स्वार्थ समझें तो सही-सही स्वार्थ वही है, जिसमें परार्थ भी सिद्ध होता है। अपने लिए सच्चा सुख वही है, जिससे औरों का सुख भी कायम रहता है। अपने लिए सच्ची शांति वही है, जिससे औरों की शांति भी अभंग रहती है।

औरों की सुख-शांति भंग करके, औरों का हित-सुख नष्ट करके हम अपने लिए सुख-शांति हासिल करना चाहें, अपना हित-सुख साधना चाहें तो हमने सच्चाई को देखा-समझा ही नहीं। अपनी आंखों पर पट्टी बांध ली और गुमराह हो गए।

साधको! अपनी सच्ची सुख-शांति और अपने सच्चे हित-सुख के लिए अन्य सबों की सुख-शांति और अन्य सबों का हित-सुख सुरक्षित रखना सीखें।

यही शील-सदाचार है। इसी में आत्म-मंगल और सर्व-मंगल समाया हुआ है। इसी में आत्महित और सर्वहित समाया हुआ है।

साधको! सतत सचेत और जागरूक रहकर शीलवान बनने का अभ्यास करें। यही धर्म का पहला कदम है, जो कि मुक्ति-मोक्ष की लंबी यात्रा के अंतिम लक्ष्य तक पहुँचाता है। लंबी से लंबी यात्रा के लिए भी पहला कदम ही महत्त्वपूर्ण है। यह पहला कदम ही हमें यात्रा के अंतिम छोर तक पहुँचाने का कारण बनता है। पहला ही कदम न उठे तो मंजिले-मकसद हमसे सदा दूर ही रहेगा।

तो आओ साधको! इस मंगलमयी धर्म-यात्रा का पहला कदम दृढ़ता के साथ उठाएं, शीलवान बनें, शीलवान बनें, शीलवान बनें!

---o---

शील-कथा

हम अपने कथन और लेखन में बार-बार धर्म शब्द का प्रयोग करते हैं। इससे साधक किसी मिथ्या भ्रांति में न पड़ जायँ। धर्म का अर्थ कोई संप्रदाय विशेष नहीं है। धर्म का अर्थ एक ऐसा सुख-शांतिमय जीवन-आदर्श है जो कि न केवल अपने लिए, बल्कि समस्त मानव समाज या यों कहें कि समस्त प्राणी समाज के लिए सुख-शांति और कल्याण का साधन है। धर्म की शुद्धता इसी बात में है कि वह किसी व्यक्ति-विशेष, वर्ग-विशेष, जाति-विशेष, समूह-विशेष, राष्ट्र-विशेष या देश-विशेष तक सीमित न हो जाय। ऐसा होने पर धर्म सत्य-धर्म नहीं रहेगा, सद्धर्म नहीं रहेगा। वह एक संप्रदाय हो जायगा। शुद्ध सद्धर्म की विशेषता यही है कि वह मानव मात्र के लिए समान रूप से सहज-ग्राह्य भी होता है और कल्याणकारी भी। जहां सद्धर्म है वहां मानव मानव में विभाजन नहीं किया जा सकता, किसी को धर्म का अधिकारी और किसी को धर्म से वंचित नहीं रखा जा सकता। सद्धर्म में किसी विधान का अंधानुकरण नहीं होता। इसके द्वारा तो प्रत्येक मनुष्य अपनी तथा परायी भलाई-बुराई समझता है और सबके भले के लिए शांतिमय जीवन जीने की एक कला सीखता है। वह कैसे काया और वाणी के दुष्कर्मों से दूर रहकर शीलवान और सदाचारी बने? कैसे अपने कल्याण का मार्ग प्रशस्त करे? कैसे औरों की सुख-शांति बनाए रखने में सहायक हो सके? शील और सदाचार कायम रखने के लिए कैसे मन को वश में रखना सीख सके? कैसे समाधिजन्य चित्त-एकाग्रता प्राप्त कर सके? कैसे अन्तर्मुखी होकर अपनी प्रज्ञा जाग्रत कर सके? मनोविकारों का निरंतर नियंत्रण और दमन करते रहने के

बजाय अथवा उन्हें उच्छृंखलताभरी खुली छूट देते रहने के बजाय कैसे प्रज्ञा द्वारा उनका पूर्णतया सहज-शमन कर सके? रेचन कर सके? चित्त को अपनी सहज-शुद्धता में प्रतिष्ठित कर सके? कैसे मुक्ति-विमोक्षरस का आस्वादन कर सके? कैसे परमपद निर्वाण का साक्षात्कार कर सके?

यह शील, यह समाधि, यह प्रज्ञा और यह विमुक्ति किसी व्यक्ति-विशेष अथवा वर्ग-विशेष अथवा संप्रदाय-विशेष की ही बपौती कैसे हो सकती है? यह तो सर्व-सुलभ है। जो भी शील का पालन करे, समाधि द्वारा चित्त-निग्रह का अभ्यास करे और प्रज्ञा द्वारा चित्त-विशोधन करे, वही मुक्ति-रस का पान कर सकता है। शील, समाधि, प्रज्ञा और तज्जन्य विमुक्ति ही शुद्ध-धर्म है, यही सद्धर्म है।

इस शील, इस समाधि और इस प्रज्ञा के अभ्यास द्वारा शुद्ध धर्ममय जीवन जीने का अभ्यास करने के लिए यह आवश्यक नहीं कि मानव पहले अपने आप को किसी संप्रदाय-विशेष में दीक्षित कर ले और तभी वह शांति-सुख का अधिकारी हो। नहीं, ऐसा है ही नहीं। किसी भी जाति, वर्ग, संप्रदाय, देश, काल और बोली-भाषा का व्यक्ति जब चाहे तब शील, समाधि और प्रज्ञाधर्म का अभ्यास कर सकता है और सुखी, शांत जीवन व्यतीत करता हुआ अपना लोक और परलोक सुधार सकता है, अपना और अपने साथी प्राणियों का हित-सुख साधता हुआ उत्तरोत्तर आध्यात्मिक उन्नति कर सकता है।

शील इस कल्याणकारी मार्ग का प्रथम चरण है। शील इस शुद्ध आध्यात्मिक जीवन की नींव है, आधारशिला है। बिना शील-संपन्न हुए कोई व्यक्ति सम्यक समाधि प्राप्त कर ले, यह संभव नहीं और बिना शील-समाधि में प्रतिष्ठित हुए किसी की अंतर्प्रज्ञा जाग जाय और वह अपने मन के सारे विकारों को धो डाले, यह भी संभव नहीं। अतः शील इस कल्याणकारी शुद्ध धर्मकाया का प्राण-स्वरूप ही है।

आओ! समझें यह शील क्या है?

काया और वाणी के दुष्कर्मों से विरत रहते हुए **मूर्खतापूर्ण दुराचारी जीवन से दूर रहना** और **समझदारी पूर्ण सदाचारमय जीवन बिताना ही शील है**। दुराचारमय जीवन व्यक्ति-व्यक्ति में, समाज-समाज में दुर्भावना, द्वेष, द्रोह और विग्रह पैदा करता है, जबकि सदाचारमय जीवन सुख-शांति, सद्भावना और मैत्री पैदा करता है। पहला **सापद और सदोष जीवन है**, जबकि दूसरा **निरापद और निर्दोष**। पहले में अपने लिए तथा अन्य सबों के लिए असीम दुःख का प्रजनन और संवर्धन है, जबकि दूसरे में इसका शमन और निर्मूलन है। अतः आओ! अब एक-एक करके

पांचों शीलों को इसी आत्महित और सर्वहितकारिता की कसौटी पर कस कर देखें।

१. हिंसा से विरत रहने में मैत्री और करुणा के मंगल भावों का विकास होता है, जबकि उसमें निरत रहने से क्रोध, द्वेष, द्रोह और दुर्भावना का ही पोषण होता है। यह शील मनुष्य का मनुष्य के प्रति ही नहीं, बल्कि पशुओं और इतर प्राणियों के प्रति भी सौमनस्यता का भाव पैदा करने वाला है। इस शील द्वारा हम 'जीवो जीवस्य भोजनम्' के "मारो या मरो" वाले जंगली कानून से दूर होते हैं। सब प्राणियों को आत्मवत मानते हुए **'अत्तनो उपमं कत्वा'** वाली सच्चाई को ग्रहण करते हैं। 'जीओ और जीने दो' के मैत्रीपूर्ण वातावरण को तैयार करते हैं। प्राणियों का सुख-संवर्धन करते हैं।

२. अदिन्नादान से विरत रहकर हम अतिलोभजन्य दुर्जनता से बचते हैं। लुक-छिपकर चोरी करना ही अदिन्नादान नहीं हैं, बलपूर्वक डाके डालना ही अदिन्नादान नहीं है, बल्कि लोभ-लोलुप होकर अधर्मपूर्वक मिथ्या आजीविका के साधनों द्वारा धन-संग्रह करना और जनता को निर्धन-दुःखी बनाना भी अदिन्नादान ही है, चोरी ही है, स्तेय ही है। इस शील द्वारा हम अंधी स्वार्थान्धता से बचकर परदुःखकातरतापूर्ण करुणा के भावों का पोषण करते हैं। सब के हित न्यायोचित जीवनयापन के लिए अनुकूल वातावरण तैयार होने में मदद करते हैं।

३. काम संबंधी दुराचरण से विरत रहकर हम अपने भीतर समायी हुई दुर्दमनीय पाशविक वासनाओं का दमन कर आत्म-संयम का अभ्यास करते हैं। पारिवारिक और सामाजिक व्यवस्था के संतुलन और सबके सुखद स्वास्थ्य की सुरक्षा में मदद करते हैं।

४. वाचिक दुष्चरित से विरत रहकर हम वाणी का संयमन सीखते हैं। झूठ बोलना' कड़ुवा बोलना, निंदा-चुगली करना, निरर्थक बोलना छोड़ते हैं और इस प्रकार स्वयं बेचैन होने से बचते हैं। औरों की हानि नहीं करते। औरों का जी नहीं दुखाते। सच्ची, सीधी, मीठी और कल्याणकारी वाणी बोलकर स्वयं शांत-सुखी रहते हैं।

५. मादक पदार्थों से विरत रहकर हम न केवल अपने आप को इन पदार्थों का गुलाम होने से बचाते हैं, बल्कि इनके वशीभूत होकर प्रमत्त अवस्था में औरों की सुख-शांति भंग करने के पागलपन से भी बचते हैं

इस प्रकार हम देखते है कि सभी शील आत्महित और परहित के लिये ही हैं। कोई हत्यारा, लोभी, व्यभिचारी, झूठा और मद्यप व्यक्ति अपनी इद्रियों को भला कैसे वश में रख सकता है? कैसे अपने मन को स्थिर-शांत कर सकता है? कैसे प्रज्ञा जाग्रत कर मन में उत्पन्न होने वाले विभिन्न विनाशकारी विकारों से मुक्त

हो सकता है? कैसे परमपद निर्वाण का साक्षात्कार कर सकता है? कैसे असीम मैत्री, करुणा, मुदिता और उपेक्षा के सर्वमाङ्गल्यमय विहारों का जीवन जी सकता है? और जो इस प्रकार स्वयं अपना हित-साधन नहीं कर सकता वह औरों का हित साधन कैसे करेगा? वह तो औरों का भी अहित ही करेगा।

इस शुद्ध धर्मपथ की यात्रा आरंभ करते हुए जब हम शीलपालन का अभ्यास करते हैं तो किसी संप्रदायविशेष की कोई थोथी निष्प्राण रीति-रिवाज पूरी नहीं करते, किसी पुस्तक-विशेष के विधि-विधानमय निर्जीव कर्मकांड का अनुष्ठान नहीं करते, किसी मत-प्रवर्तक की, व्यक्ति-विशेष की, स्तुति-प्रार्थना, पूजा-अर्चना में नहीं उलझते; किसी मिथ्या अंधविश्वास में पड़कर बिना जाने समझे किसी रुढ़ि-परंपरा के शिकार नहीं होते, किसी लकीर के अंधे फकीर नहीं होते। बल्कि एक जीवन जीना सीखते हैं और वह भी भलीभांति सोच समझकर, आत्मकल्याण और परकल्याण के मंगलभावों से स्वतः प्रेरित होकर सार्वजनीन हित-सुख और मंगल-स्वस्ति के भावों से अनुप्राणित हो कर। स्पष्ट है कि यह तो एक ऐसी जीवन-पद्धति है, स्वस्थ आचरण-संहिता है जो किसी अन्य के द्वारा हम पर थोपी नहीं जाती, जिसे हम भयाक्रांत होकर स्वीकारने के लिए मजबूर नहीं होते। इसका पालन करते हुए अन्तर्मन में किसी प्रकार की दूषित ग्रंथियां नहीं बनाते। बल्कि स्वस्थ चित्त से स्वस्थ व्यक्ति और स्वस्थ समाज का निर्माण करते हैं।

ऐसा है यह शील! ऐसा है यह शुद्ध-धर्म का प्रथम चरण! ऐसा है यह सद्धर्म। का आदि में कल्याणकारी स्वरूप! सब के लिए समान रूप से ग्रहण-योग्य! सब के लिए समानरूप से मंगलमय!!

(वर्ष १ बुद्धवर्ष २५१५ चैत्र पूर्णिमा दि.२९-०३-७२ अंक १०)

उद्बोधन : मन का संवर

मेरे प्यारे साधक-साधिकाओ!

मनको संयमित करना सीखो!

संयमित मन ही हमारे असीम मंगल का कारण होता है। मन असंयमित रहे, हमारे वश में न रहे तो हम सारे मंगलों से वंचित रह जाते हैं। विभिन्न प्रकार के अमंगलों के शिकार होते हैं।

भगवान ने सच ही कहा है कि शत्रु शत्रु की उतनी बड़ी हानि नहीं कर सकता, जितनी हानि हमारा असंयत मन हमारी करता है। मां-बाप और प्रिय बन्धुजन भी हमारा उतना भला नहीं कर सकते, जितना भला कि हमारा संयत मन करता है।

तो मन को संयत करें। मन को संयत करने से ही हमारे सारे दुःख दूर होंगे।

साधको! इन्द्रियों को संयत करना बड़ा अच्छा है **'चक्खुना संवरो साधु'**

चक्षु इंद्रिय को संयमित करना बड़ा अच्छा है, आखों से देखने को संयमित रखना बड़ा भला है।

'साधु सोतेन संवरो'

श्रोत इंद्रिय को संयमित रखना बड़ा अच्छा है, कानों से सुनने को संयमित रखना बड़ा भला है।

'घानेन संवरो साधु'

घ्राण इंद्रिय को संयमित रखना बड़ा अच्छा है, नाक से सूंघने को संयमित रखना बड़ा भला है।

'साधु जिव्हाय संवरो'

जिह्वा इंद्रिय को संयमित रखना बहुत अच्छा है, जीभ से चखने को संयमित रखना बहुत भला है।

'कायेन संवरो साधु'

काय इंद्रिय को संयमित रखना बड़ा अच्छा है, शरीर से स्पर्श को संयमित रखना बड़ा भला है।

'साधु वाचाय संवरो'

वाणी को संयमित रखना बड़ा अच्छा है, बोलने में संयम रखना बड़ा भला है।

'मनसा संवरो साधु'

मन इंद्रिय को संयमित रखना बड़ा अच्छा है, मानसिक कर्मों पर संयम रखना बड़ा भला है।

जैसे-जैसे मन संयमित होता जायगा, मानसिक कर्म सुधरते जायेंगे, वैसे-वैसे कायिक और वाचिक कर्म स्वतः सुधरते जायेंगे अपने आप सुधरते जायेंगे। जैसे-जैसे मन संयमित होते जायगा, वैसे-वैसे आंख, कान, नाक, जीभ और काय-स्पर्श की सभी इंद्रियां स्वतः संयमित होती जायेंगी। अपने आप सुधरती जायेंगी। इन सबका संयमित होना सचमुच बहुत ही भला है–**'साधु सब्बत्थ संवरो'**। इन सब को संयमित रखकर ही कोई व्यक्ति तमाम दुःखों से मुक्त हो सकता है– **'सब्ब दुक्खा पमुच्चति'**।

(धम्मपद- ३६० और ३६६)

इसलिए साधको, आओ! मन को संयमित रखना सीखें! संयमित मन ही हमारे लिए सुख का आगार है, मंगल का भंडार है, मुक्ति का आधार है।

---o---

समाधि कथा

मन किसी भी आलंबन पर टिक जायगा तो ध्यानस्थ हो ही जायगा, एकाग्र हो ही जायगा, अचंचल हो ही जायगा परंतु चित्त की एकाग्रता मात्र ही सम्यक समाधि नहीं है, उत्तम समाधि नहीं है। सम्यक समाधि के लिए चित्त का कुशल होना आवश्यक है, निष्पाप होना आवश्यक है। कुशल चित्त की एकाग्रता का नाम ही समाधि है– **"कुसलचित्तेकग्गता समाधि"**।

चित्त का समाधान ही तो समाधि है। समाधान माने समता में आधान, समता में स्थापित। विषम आलंबन चित्त को समता में स्थापित नहीं कर सकता। वह तो चित्त के संतुलन को बिगाड़ेगा ही। इसीलिए कुशल चित्त की एकाग्रता को ही समाधान मानना चाहिए, सही समाधि मानना चाहिए।

रागमय चित्त कुशल नहीं है, द्वेषमय चित्त कुशल नहीं है, मोहमय चित्त कुशल नहीं है। जहां राग, द्वेष अथवा मोह का आलंबन लेकर चित्त को एकाग्र किया जायगा, वहां एकाग्रता तो आ जायगी, परंतु समाधि नहीं आयगी, समाधान नहीं आयगा। ऐसी एकाग्रता सम्यक नहीं है शुद्ध नहीं है। उस एकाग्रता में हमारा कल्याण निहित नहीं है। राग, द्वेष और मोह पर आलंबित एकाग्रता

अकुशल चित्त की तल्लीनता है, जो कि कल्याणकारी कैसे हो सकती है?

चूहे के बिल पर अपना सारा ध्यान लगाए हुए बिल्ली पूर्णतया एकाग्रचित हो जाती है, वह अपने आलंबन पर ध्यानस्थ हो जाती है। मछली की खोज में तालाब के किनारे एक टांग पर खड़ा हुआ बगुला पानी की ओर ध्यान लगाए पूर्णतया एकाग्रचित्त हो जाता है, उसे और किसी बात की सुध-बुध नहीं रहती। यह चूहे और मछली के प्रति राग से लिप्त हुए मन का एकाग्र होना है, जो कि सम्यक समाधि नहीं है। ऐसी कोई भी समाधि सम्यक नहीं, शुद्ध नहीं।

इसी प्रकार अपने दुश्मन की ताक में छिपकर बैठा हुआ सैनिक दुश्मन की खाई पर ध्यान लगाए हुए पूर्णतया एकाग्रचित्त है। जैसे ही दुश्मन का सिर खाई से ऊपर उठे, वह उसे गोली मार दे। इसी प्रकार किसी हिंसक पशु की ताक में पूरा ध्यान लगाए हुए एक शिकारी अपनी दोनली बंदूक संभाले बैठा है। उसका चित्त पूर्णतया एकाग्र है। जैसे ही शिकार दिखा, कि गोली दागी। इस प्रकार द्वेषमयी हिंसा से दूषित चित्त एकाग्र तो है, परंतु वह कुशल चित्त नहीं है। अतः ऐसे चित्त की एकाग्रता सम्यक समाधि नही, शुद्ध समाधि नहीं।

किसी मादक पदार्थ का सेवन कर गहरे नशे में डूबा हुआ व्यक्ति उस नशे में ही तल्लीन हो गया है, चित्त की एकाग्रता प्राप्त कर ली है। वह प्रगाढ़ निद्रा में सोए हुए के समान प्रसुप्त है। उसे बाहर-भीतर का कोई होश नहीं। इसी प्रकार वह व्यक्ति एल. एस. डी. जैसे रसायन का प्रयोग करके किसी मरीचिका या विपल्लास के दर्शन करता है और उसमें पूर्णतया तल्लीन हो जाता है। इन दोनों ही अवस्था में वह चित्त की समता खोता है, संतुलन नष्ट करता है। चित्त की विषमता पर आधारित मोह-विमूढ़ित एकाग्रता चित्त का समाधान नहीं है, सम्यक समाधि नहीं है, शुद्ध समाधि नहीं है।

शुद्ध समाधि के लिए किसी प्रकार का भावावेशमय आलंबन भी उपयुक्त नहीं। इससे चित्त की शुद्ध समता नष्ट होगी, उसका संतुलन बिगड़ेगा, चित्त रागजन्य आसक्तियों में डूबेगा, भावुकता में तल्लीन होगा। एकाग्रता तो आयगी, पर शुद्धता दूर रहेगी।

चित्त की एकाग्रता के लिए आलंबन ऐसा होना चाहिए जो हमें न प्रिय लगने वाला हो, न अप्रिय। जिसके प्रति हमारे मन में न राग जागे और न द्वेष तथा साथ ही ऐसा भी हो जो हमें किसी प्रकार की मोह-निद्रा में डुबाने से बचाए, आत्म-सम्मोहन और पर द्वारा सम्मोहन किए जाने से बचाए, प्रसुप्ति-कारक ध्यानों से बचाए, चित्त को सतत जागरूक रख सकने में सहायक हो।

बाह्य जगत के स्थूल ऐन्द्रिय सुख तो हमें खूब तल्लीनता दिलाते ही हैं

बल्कि अध्यात्म के नाम पर चलने वाले सूक्ष्म ऐन्द्रिय सुख भी तल्लीनता दिलाते हैं। परंतु यह तल्लीनता बांधने वाली ही होती है, मुक्त करने वाली नहीं। अतीन्द्रिय सुख के नाम पर प्राप्त हुई सभी ध्यान समाधियां बांधने वाली ही होती हैं। आंख बंद रखने पर भी किसी प्रिय मनोरम रूप, रंग, आकार, प्रकाश आदि का दीखना और इसमें चित्त का एकाग्र होना, किसी श्रुति-मधुर शब्द, नाद आदि में चित्त का एकाग्र होना किसी घ्राण-मधुर गंध, सौरभ आदि में चित्त का एकाग्र होना, किसी जिह्वा-मधुर रस के आस्वादन में चित्त का एकाग्र होना, किसी काया-स्पर्शजन्य सुखद-पुलक-सिहरन में चित्त का एकाग्र होना, दिव्य अनुभूतियों के नाम पर सूक्ष्म स्तर का राग-रंजन ही है, मोह-बंधन ही है। मुक्ति की ओर ले जाने वाली सम्यक समाधि नहीं। सम्यक-समाधि के लिए शुद्ध आलंबन के आधार पर चित्त एकाग्रता का अभ्यास करने वाले किसी साधक को भी इस प्रकार की अतीन्द्रिय अनुभूतियां हो जानी स्वाभाविक ही हैं। परंतु इन्हें पथ पर आने वाले मील के पत्थरों की तरह त्याग कर आगे बढ़ना होगा। कहीं इन्हीं को आलंबन मानकर रुक गए तो फिर राग-रंजन में उलझ जायँगे। चित्त-विमुक्ति की अंतिम स्थिति तक पहुँच नहीं पायेंगे। अतः सतर्क रहना होगा कि किसी भी स्तर पर कोई भी ऐसा आलंबन न पकड़ बैठें जो कि हमारे पैरों की बेड़ी बन जाय, राह-रोधक दीवार बन जाय।

शुद्ध समाधि के लिए उपयुक्त आलंबन खोजते हुए हमें यह बात भी ध्यान में रखनी होगी कि कहीं वह आलंबन साधक को किसी संप्रदाय-विशेष के दायरे में बंदी तो नहीं बनाने लगा, कहीं वह आलंबन किसी संप्रदाय-विशेष का कोई रूपमय, रंगमय, शब्दमय, प्रतीक विशेष तो नहीं है, जिसे कि ग्रहण करने में अन्य लोगों को कठिनाई हो, हिचक हो। यह जो शील, समाधि, प्रज्ञा और विमुक्ति का मार्ग है, यह तो सर्वथा सार्वजनीन है, सार्वकालिक है, सार्वदेशिक है। अतः इस मार्ग पर चलते हुए चित्त की एकाग्रता के लिए जो भी आलंबन चुना जाय, वह भी सार्वजनीन ही हो, सार्वकालिक ही हो, सार्वदेशिक ही हो, सर्वजन सुलभ हो, सर्वजन ग्रहणीय हो।

उपरोक्त अनिवार्यताओं की पूर्ति करने वाले अनेक आलंबन लिए जा सकते हैं। हमने अपने ही आश्वास-प्रश्वास को आलंबन के रूप में चुना है। आश्वास-प्रश्वास भी बिल्कुल शुद्ध। शुद्ध इस माने में कि इसके साथ कोई शब्द नहीं जुड़े, कोई नाम नहीं जुड़े, कोई जाप नहीं जुड़े, कोई रूप, कोई आकार नहीं जुड़े। मात्र श्वास के आगमन-निगमन पर सतत जागरूकता का अभ्यास और श्वास भी नैसर्गिक श्वास, स्वाभाविक श्वास। लंबा है तो लंबा, ओछा है तो ओछा, गहरा है तो गहरा, उथला है तो उथला, स्थूल है तो स्थूल, सूक्ष्म है तो सूक्ष्म। नैसर्गिक श्वास को आलंबन बनाते हुए यह बात समझ लेनी होगी कि हम

श्वास की कसरत नहीं कर रहे हैं। अगर कोई कसरत है भी तो वह मन की ही है। श्वास तो मात्र आलंबन है। अतः आलंबन जितना स्वाभाविक होगा, उतना ही अच्छा। उसमें की गई छेड़-छाड़ कृत्रिमता पैदा करेगी, जो कि नैसर्गिक सत्य दर्शन में बाधा पैदा करेगी। हम निसर्ग से अभिमुख न हो कर पराङ्गमुख हो जायँगे, विमुख हो जायँगे।

आखिर इस चित्त की एकाग्रता का अभ्यास किसलिए कर रहे हैं? महज इसीलिए कि एकाग्र हुआ चित्त इतना सूक्ष्म और तीक्ष्ण हो जाय कि अंतिम परमार्थ सत्य को जिन आवरणों ने ढक रखा है, उनको बींध सके, चीर सके और अध्यात्म को निरावरण करके प्रज्ञाचक्षु द्वारा आत्म-साक्षात्कार कर सकने में, सत्य साक्षात्कार कर सकने में सहायक सिद्ध हो सके। ऐसी अवस्था में आलंबन को जितना कम कृत्रिम बनायेंगे और उसे जितना अधिक नैसर्गिक बने रहने देंगें, उतना ही अंधी गलियों में भटकने से बचेंगे, ऋजु राज-पथ पर आरूढ़ रहेंगे।

नैसर्गिक आश्वास-प्रश्वास का आलंबन हमने इसलिए भी अपनाया कि हमारी श्वास की गति का मन के विकारों से गहरा नैसर्गिक संबंध हैं। हम देखते हैं कि जब हमारा मन किन्ही दूषित विकारों से विकृत हो उठता है, क्रोध से, भय से, वासना से, ईर्ष्या से, अथवा अन्य किसी भी दूषित विकार से यह आक्रांत हो उठता है तो उस समय हमारे श्वास की गति स्वभावतः तीव्र और स्थूल हो जाती है। जैसे-जैसे मन पर से ये विकार दूर होते जाते हैं, वैसे-वैसे श्वास की गति और सूक्ष्म होने लगती है। समाधि के पश्चात हमें प्रज्ञा के क्षेत्र में उतरते हुए अपने ही मनोविकारों का यथाभूत निरीक्षण करना होगा और उनके बंधनों से मुक्त होना होगा। ऐसी अवस्था में नैसर्गिक श्वास के इस यथाभूत आवागमन का आलंबन अत्यंत उपादेय है। साधना के अगले चरण में यह हमारा सहायक ही होगा।

स्थूल श्वास का निरीक्षण करते-करते हम देखेंगे कि जैसे-जैसे चित्त एकाग्र हुआ, वैसे-वैसे उसकी नैसर्गिक सूक्ष्मता में भी अभिवृद्धि होने लगी। कभी-कभी तो सांस सूक्ष्म बाल की तरह क्षीण-काय हो जायगा और जैसे बाहर निकलेगा वैसे ही भीतर की ओर मुड़ जायगा। कभी कभी स्वतः कुंभक की स्थिति तक पहुँच जायगा। अतः स्पष्ट है कि हमारा यह आलंबन स्थूलता से सूक्ष्मता की ओर ले जाने वाला है। आगे का जो अज्ञात, अनदेखा क्षेत्र हमें देखना है, वह तो इस स्थिति से भी अधिक सूक्ष्म है, इस कारण से भी श्वास-प्रश्वास का आलंबन सही आलंबन है, सार्थक आलंबन है। भीतर ही भीतर जो अनंत ऊर्मियों का सागर लहरा रहा है, भीतर ही भीतर जो आंतरिक संवेदनाओं की सरिता प्रवाहित हो रही है, भीतर ही भीतर शरीर के अणु अणु में जो असंख्य स्पंदनों का निरंतर नर्तन हो

रहा है, हमें उसका दर्शन करना है। अपने सतत प्रवहमान स्वरूप का दर्शन करना है। परंतु यह सब कुछ तो अत्यंत सूक्ष्म अवस्था में चल रहा है। यहां तक पहुँचने के लिए पहले अपने गतिमान श्वास के इस स्थूल परंतु अविराम प्रवाह का निरीक्षण आरंभ करना होगा।

जो कुछ भीतर हो रहा है, वह अनायास हो रहा है। शरीर और मन का यह स्वतः संचालित अविरल प्रवाह है। अंतर्जगत की सृष्टि-प्रलय वाली इस अनायास गतिमान स्थिति का निरीक्षण कर सकने के लिए एक ऐसा आलंबन चाहिए जो कि सायास और अनायास दोनों प्रकार से गतिमान होता हो, ताकि उसकी सायास गति को देख-समझ कर तुरंत उसकी अनायास गति के निरीक्षण का अभ्यास आरंभ कर दें। और यह सांस ही शरीर की एक ऐसी गति है, जिसका संचालन तीव्र या मंद, सायास सप्रयास भी किया जा सकता है और जो कि अनायास अप्रयत्न भी गतिमान है ही। सायास से अनायास तक पहुँचने के लिए, ज्ञात से अज्ञात तक पहुँचने के लिए, नदी के जाने पहचाने इस पार से, अनजाने अनदेखे उस पार तक पहुँचने के लिए हमारा श्वास ही एक पुल का काम कर सकता हैं। इसलिए भी इसका आलंबन उपादेय है।

शील, समाधि, प्रज्ञा और विमुक्ति का यह मार्ग जिसका कि हमने अभ्यास आरंभ किया है, हमें साधना क्षेत्र की उन गहराइयों तक पहुँचाता है, जहां कि हम सहजभाव से परमार्थ सत्य का साक्षात्कार कर सकें। इसके लिए हमें इस क्षण के यथाभूत सांदृष्टिक सत्य के निरीक्षण से अभ्यास आरंभ करना होगा क्योंकि अंतिम परमार्थ सत्य इस क्षण का सत्य है, बीते हुए क्षणों का नहीं, आने वाले क्षणों का नहीं। बीते हुए क्षणों की तो केवल याद हो सकती है, आने वाले क्षणों की केवल कामना, कल्पना हो सकती है। साक्षात्कार तो वर्तमान क्षण का ही हो सकता है, अतीत के क्षणों का नहीं, अनागत के क्षणों का नहीं। अतः परम सत्य के साक्षात्कार के लिए वर्तमान क्षण में जीने का अभ्यास करना होगा। वर्तमान क्षण का जो स्थूल सांदृष्टिक सत्य है, उसी का सावधानीपूर्वक निरीक्षण करते-करते सूक्ष्म सत्यों का अनावरण होगा और सूक्ष्मतम स्थिति के भी परे इस क्षण के परम सत्य का साक्षात्कार हो सकेगा। इसके लिए नन्हें से नन्हें आगत क्षण में जी सकने का अभ्यास ही हमारी सारी साधना का ऋजु-राजपथ है। इस क्षण में जीने का अभ्यास करने के लिए इस क्षण होने वाली शरीर की इस स्थूल घटना के प्रति यानी आने वाली सांस की अथवा जाने वाली सांस की जानकारी के प्रति जागरूकता बनाए रखना सीखें। ऐसा अभ्यास करते हुए मन पर अतीत की कोई कटु-मधुर यादें बादलों की तरह छाने न पाएं। इसी प्रकार अनागत की कोई कटु-मधुर आशंका या कामना छाने न पाए। शुद्ध सांस की जानकारी, यथाभूत

सांस के आवागमन की ही जानकारी मात्र बनी रहे। अतीत या अनागत की कटु-मधुर यादें आशंकाएं, कामनाएं, राग पैदा करती हैं, द्वेष पैदा करती हैं, क्योंकि वे प्रिय होती हैं अथवा अप्रिय होती हैं। जैसे-जैसे भूत-भविष्य से संबंधित इन राग द्वेषमयी यादों और कल्पनाओं से मुक्त होकर चित्त वर्तमान की इस सांस लेने या छोड़ने वाली घटना पर स्थित होता है, वैसे-वैसे राग-द्वेष से छुटकारा पाता है और जागरूक हैं इसलिए मोह से छुटकारा पाता है। सांस की गति का निरीक्षण करने में हमारे मन में उसके प्रति न कोई प्रिय भाव जागता है, न अप्रिय। न उसके प्रति आकर्षण होता है, न विकर्षण; न राग होता है, न द्वेष।

शरीर की इस नैसर्गिक घटना को महज एक तमाशबीन की तरह देखना सीखते हैं। भूत और भविष्य के बंधनों से मुक्त होकर, राग और द्वेष की जकड़न से बाहर निकल कर, इस क्षण में जीने का प्रथम प्रयास आरंभ करते हैं। डगमग कदमों पर चलना सीखने वाले शिशु का सा यह प्रयास और इस दिशा में किया गया निरन्तर अभ्यास हमें एक दिन सुदृढ़, सबल और अडिग कदमों से अपनी यात्रा पूरी कर सकने योग्य बनाता है।

बिना सम्यक समाधि पुष्ट हुए हम इस क्षण की गहराइयों में उतर नहीं सकते। हम प्रज्ञा के क्षेत्र में पदार्पण कर नहीं सकते। समाधि को सम्यकतया पुष्ट करने के लिए ही चित्त को इस क्षण का प्रत्यक्ष, यथार्थ, सांदृष्टिक, कल्पना-विहीन, निर्दोष आलंबन दें, जो कि यह सांस के आवागमन की जानकारी का आलंबन है। इसी के सहारे इस क्षण में जीना सीखते हुए राग-विहीन द्वेष-विहीन, मोह-विहीन कुशल चित्त की एकाग्रता को पुष्ट करें। काया और वाणी के दुष्चरितों से बच सकने की क्षमता पुष्ट करें, प्रज्ञा में पुष्ट होकर दूषित चित्त-विकारों का उन्मूलन करते हुए मानसिक दुष्कर्मों से विरत रह सकने की क्षमता को पुष्ट करें।

इस प्रकार उपलब्ध हुई शुद्ध समाधि मंगल प्रदायिनी है। आओ! श्वास के आवागमन के प्रति सजगता का अभ्यास करते हुए समाधि को पुष्ट करें। समाधि के पुष्ट होने से शील भी पुष्ट होगा तथा शील और समाधि के पुष्ट हो जाने से प्रज्ञा भी पुष्ट हो सकेगी। शील, समाधि, प्रज्ञा की पुष्टि में ही तो विमुक्ति है। विकारों से विमुक्ति! दुःखों से विमुक्ति! अविद्या-अज्ञान से विमुक्ति!

सचमुच समाधि का पथ मंगल का पथ है! कल्याण का पथ है! शांति-सुख का पथ है! विमुक्ति का पथ है!

(वर्ष १ बुद्धवर्ष २५१५ वैशाख(प्रथम) पूर्णिमा दि. २८-०४-७२ अंक ११)

उद्‌बोधन : मोह-मूढ़ता

मेरे प्यारे साथी साधक-साधिकाओ!

आओ, मोह के बधंन से छूटें!

मोह के बंधनों से छूटने का अर्थ है, इस जीवन के दुःख बंधनों से छूटना। मोह के बंधनों से छूटने का अर्थ है आगामी जन्म मरण के दुःख बधंनों से छूटना। यह मोह ही है जो कि हमें दुःख से बांधे रखता है, इस जीवन में भी और अनेक भावी जीवनों में भी।

मोह क्या है? मोह मूढ़ता है, मूर्खता है, अज्ञान अवस्था है, अविद्या की स्थिति है। मोह अवस्था में ही हम नए-नए संस्कारों का सृजन करते रहते हैं, मन को नए-नए विकारों से विकृत करते रहते हैं। हमें होश ही नहीं रहता कि हम क्या कर रहे हैं? कैसे अपने आपको राग के बंधनों में जकड़ रहे हैं? द्वेष के बंधनों में जकड़ रहे हैं? कैसे अनजान अवस्था में इन बंधनों की गांठे उलझाते ही जा रहे हैं?

यदि मोह दूर हो, यानी हमें होश रहे, सावधानी रहे, सचेतनता रहे, जागरूकता रहे तो हम अपने चित्त पर नए संस्कारों की गहरी लकीरें पड़ने ही क्यों दें? अपने आप को राग और द्वेष के बन्धनों में बंधने ही क्यों दें? यह ज्ञानपूर्ण जागरूकता ही है, जिसका नाम प्रज्ञा है और जो मोह को जड़ से उखाड़ फेंकती है।

प्रज्ञा को जाग्रत करने के लिए और उसे पुष्ट बनाए रखने के लिए हम विपश्यना का अभ्यास करते रहें, सावधान रहने का अभ्यास करते रहें!

यतं चरे– चलें तो भी सावधानीपूर्वक चलें।

यतं तिट्ठे– खड़े हों तो भी सावधानीपूर्वक खड़े हों।

यतं अच्छे– बैठें तो भी सावधानीपूर्वक बैठें।

यतं सये– लेटें तो भी सावधानीपूर्वक लेटें।

सोते, जागते, उठते, बैठते हर स्थिति में सावधान रहें, सचेत रहें। हमारा कोई काम असावधानी में हो ही नहीं, बेहोशी में हो ही नहीं, गफलत में हो ही नहीं।

‘पच्चवेक्खित्वा पच्चवेक्खित्वा कायेन कम्मं कत्तब्बं’

ध्यानपूर्वक भलीभांति देखते-देखते ही काया के कर्म करें।

'पच्चवेक्खित्वा पच्चवेक्खित्वा वाचाय कम्मं कत्तब्बं'

ध्यानपूर्वक भलीभांति देखते-देखते ही वाणी के कर्म करें।

'पच्चवेक्खित्वा पच्चवेक्खित्वा मनसा कम्मं कत्तब्बं'

(मज्झिमनिकाय २.८५)

ध्यानपूर्वक भलीभांति देखते-देखते ही मन के कार्य करें।

इस प्रकार कायिक, वाचिक और मानसिक कर्मों के प्रति सावधान रहें, सचेत रहें, जागरूक रहें। अपने द्वारा किए गए प्रत्येक काम का प्रत्यवेक्षण करते रहें। हमारी जागरूकता ज्ञान से परिपूर्ण हो। यानी सावधानी के साथ-साथ यह जानकारी भी बनी रहे कि सभी विषय स्वभाव से अनित्य हैं, और जो – अनित्य है वह दुःख है, वह अनात्म है यानी वह 'मैं' नहीं, 'मेरा' नहीं, मेरी आत्मा नहीं। अतः उसके साथ कोई लगाव नहीं, कोई दुराव नहीं, कोई चिपकाव नहीं, कोई छिटकाव नहीं। सारी स्थितियों की जानकारी भी और साथ ही साथ उसके प्रति निःसंगभाव भी, निर्लिप्तभाव भी निरासक्तभाव भी। यही विपश्यना है, यही मोहनाशिनी प्रज्ञा है।

आओ, इस प्रज्ञा को जगाएं! आओ, इस प्रज्ञा को पुष्ट करें! आओ, मोह को तोड़ें। मोह को जड़ से उखाड़ फेंके!

साधकों! मोह नष्ट होने में ही हमारा कल्याण निहित है, मंगल निहित है, निर्वाण निहित है।

---o---

प्रज्ञा-कथा

प्रज्ञा क्या है? भली प्रकार जानने का नाम ही प्रज्ञा है। ऊपरी-ऊपरी दिखाऊ स्तर की सच्चाई को ही जान लेना प्रज्ञा नहीं है, प्रत्युत उस ऊपरी सत्य की गहराइयों में पैठकर भीतरी अंतिम सत्य जान लेना प्रज्ञा है। जैसे कोई अबोध बालक जवाहरातों को रंग-बिरंगे आकर्षक पत्थरों के टुकड़ों के रूप में देखता है, परंतु एक अनुभवी जौहरी अपनी पैनी दृष्टि द्वारा एक-एक रत्न के भीतर सदोषता-निर्दोषता को देखते हुए उसकी उचित परख करता है, वैसे ही प्रज्ञावान व्यक्ति जो स्थिति सामने आती है, उसका केवल ऊपरी-ऊपरी अवलोकन ही नहीं

करता, बल्कि अपनी बींधती हुई प्रज्ञा-दृष्टि द्वारा गहराइयों में उतरकर परमार्थ सत्य का साक्षात्कार करता है। यों हर स्थिति को भली प्रकार से समग्र रूप में जान लेना ही प्रज्ञा है।

यह जानना भी तीन प्रकार का होता है। अतः प्रज्ञा भी तीन प्रकार की होती हैं: –

१. श्रुतमयी प्रज्ञा – वह प्रज्ञा जो सुनकर या पढ़कर प्राप्त हुई हो।

२. चिंतनमयी प्रज्ञा – सुन-पढ़कर जो प्रज्ञा प्राप्त हुई, उसे विचार-विनिमय द्वारा, चिंतन-मनन द्वारा, तर्क-वितर्क द्वारा अपनी बुद्धि-तुला पर तोलकर न्याय-संगत और युक्ति-संगत समझते हुए पुष्ट कर लेना ही चिंतनमयी प्रज्ञा है।

उपरोक्त दोनों प्रकार की प्रज्ञाएं सर्वथा निरर्थक हैं, ऐसा तो नहीं कहा जा सकता। परंतु यह सब पराया ज्ञान होने के कारण बहुधा बुद्धि-विलास बनकर ही रह जाता है। इनके द्वारा हमें जीवन में वास्तविक लाभ नहीं मिलता। वास्तविक लाभ मिलता है इस तीसरी प्रज्ञा से जो कि भावनामयी प्रज्ञा है।

३. भावनामयी प्रज्ञा– यानी वह प्रज्ञा जो हमारी अनुभूतियों के बलपर हमारे भीतर ही प्रकटित और प्रस्फुटित हुई है। यह हमारा अपना साक्षात्कार है और इसलिए सही माने में कल्याणकारिणी है।

भावनामयी प्रज्ञा के लिए आवश्यक है कि शील धारण कर सम्यक समाधि उपलब्ध कर लें। सम्यक समाधि में समाहित हुआ चित्त ही यथाभूत सत्य को जान सकता है, उसके दर्शन कर सकता है– **"समाहितो यथाभूतं जानाति पस्सति!"**

(अङ्गुत्तरनिकाय ३.२)

इस यथाभूत देखने को ही विपश्यना यानी विशेषरूप से देखना कहते हैं। सामान्यतया हम केवल ऊपरी-ऊपरी दिखाऊ सत्य को ही देखकर रह जाते हैं, जैसे कि वह अबोध बालक रत्नों की ऊपरी रंगीनी और चमक-दमक को ही देखता है। जौहरी की बींधती हुई पैनी दृष्टि की तरह भीतरी सच्चाई को देख सकना ही विशेषरूप से देखना है और यही विपश्यना है, यही भावनामयी प्रज्ञा है। यहां भावना का अर्थ भावुकता या भावावेश नहीं है। भावना का अर्थ है– बढ़ाना, फैलाना, विकसित करना, यानी स्वयं अपने अनुभवों द्वारा प्राप्त हुई प्रज्ञा को विपश्यना के अभ्यास द्वारा बढ़ाते रहना।

ऊपरी-ऊपरी सत्य को जान लेना सरल है, परंतु भीतरी सच्चाई का साक्षात्कार करने के लिए अन्तर्मुखी होना आवश्यक है। अन्तर्मुखी होकर हम अपनी जानकारी प्राप्त करें, आत्म-निरीक्षण करें, आत्म-दर्शन करें,

आत्म-साक्षात्कार करें, अपने आप को देखें, जानें, समझें।

काया की गति-विधि पर पूरा ध्यान रखते हुए कायानुपश्यना की जाती है। सांस के आवागमन का निरीक्षण भी कायानुपश्यना ही है। सांस का निरीक्षण करते-करते शरीर के अंग प्रत्यंग का निरीक्षण करना आरंभ किया जाता है और धीरे-धीरे अभ्यास द्वारा शरीर के अंग-अंग में स्थूल व सूक्ष्म संवेदनाओं की अनुभूतियां होने लगती हैं, जो कि कभी सुखद, कभी दुःखद, कभी असुखद अदुःखद होती ही रहती हैं। द्रष्टाभाव से इन वेदनाओं को निरखते रहकर वेदनानुपश्यना की जाती हैं। समय-समय पर उत्पन्न होने वाले विभिन्न प्रकार के चित्तों का निरीक्षण करते हुए चित्तानुपश्यना की जाती है। भिन्न-भिन्न प्रकार की चित्तवृत्तियों यानी चित्त में उत्पन्न होने वाले विकारों का निरीक्षण करते हुए धम्मानुपश्यना की जाती है।

इन चारों विपश्यनाओं में हम वेदनानुपश्यना को अधिक महत्त्व देते हैं, क्योंकि इसका संबंध थोड़ा बहुत अन्य तीनों से भी रहता ही है। 'वेदना' काया के आधार पर ही अनुभूत की जाती है। वह चित्त द्वारा ही अनुभूत की जाती है। प्रत्येक चित्त-विकार एक सूक्ष्म संवेदना से संबंधित होता है। इस कारण वेदनानुपश्यना का अपना विशिष्ट महत्त्व है। इस एक की पुष्टि से चारों की पुष्टि होती चली जाती है।

इस प्रकार अर्न्तविपश्यनाओं द्वारा स्वयं अपनी अनुभूतियों से इस सत्य का साक्षात्कार किया जाता है कि यह शरीर अष्टकलापों का, सूक्ष्म परमाणुकणों का पुंज मात्र है और अनित्यता, परिवर्तनशीलता उसका स्वभाव हैं। पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु– इन चारों महाभूतों से बने ये परमाणुकण शरीर के भीतर अपने गुण, धर्म, स्वभाव का प्रतिक्षण प्रदर्शन करते ही रहते हैं। बींधती हुई तीव्र समाधि के बल पर ही इस परिवर्तनशील शरीर-धारा के प्रवाह का निरीक्षण किया जाता है और इसी प्रकार सतत परिवर्तनशील चित्तधारा का भी। दोनों का अनित्य स्वभाव और दोनों का दुःख-स्वभाव स्वयं अनुभूत होता है और तब उनका अनात्म स्वभाव भी स्वयं स्पष्ट होने लगता है। दोनों की निस्सारता स्पष्ट महसूस होती है। तन और मन की इस मिली जुली प्रवाहमान धारा में स्थायी, स्थिर, शास्वत, ध्रुव ऐसा कुछ भी तो नही है, जिसे "मैं" कह सकें, जिसे "मेरा" कह सकें, जिस पर अपना आधिपत्य स्थापित कर सकें, जिससे अपना तादात्म्य स्थापित कर सकें। इस प्रकार नाम और रूप की जीवनधारा को निरासक्त होकर, निर्लिप्त होकर, निःसंग होकर देख सकने का अभ्यास आरंभ होता है। जैसे-जैसे सूक्ष्म अनुभूतियों की गहराइयों में उतरते जाते हैं, वैसे-वैसे यह निर्लिप्तता भी पुष्ट होती जाती है।

जब तक आसक्ति है, तब तक आलंबन का यथाभूत दर्शन नहीं कर सकते। विपश्यना प्रज्ञा द्वारा जैसे-जैसे आसक्ति टूटती है, वैसे-वैसे हम सभी आभ्यंतरिक आलंबनों का यथाभूत यथातथ्य, यथास्वभाव, यथालक्षण दर्शन करने लगते हैं जैसे कोई अंधेरे घर में दीपक लेकर प्रवेश करे तो वहां का अंधकार दूर होता है, प्रकाश उत्पन्न होता है और उस प्रकाश में वहां की सब वस्तुएं साफ-साफ दीखने लगती हैं। इसी प्रकार प्रज्ञा के उत्पन्न होने से अविद्या का अंधकार दूर होता है; विद्या का उजाला जाग उठता है और उस ज्ञानालोक में आर्य-सत्यों का प्रकटीकरण होता है, परमार्थ सत्यों का साक्षात्कार होता है।

हम अपने अध्यात्म की गहराइयों में उतरकर दुःख सत्य का साक्षात्कार करते हैं। सदा अतृप्त और असंतुष्ट रहने वाला यह मन किस प्रकार तृष्णा की प्यास से निरंतर व्याकुल ही रहता है। यह प्यास भी कैसी न बुझने वाली प्यास है! ऐसा बिना पैंदे का गहरा कुंआ, जिसे भरने के सारे प्रयास निष्फल होते रहते हैं। अपनी तृष्णाओं, अहमन्यताओ और दृष्टियों के प्रति बढ़ा हुआ उपादान, चिपकाव, आसक्त-भाव हमें किस प्रकार निरन्तर व्यथित, व्याकुल और व्यग्र बनाता ही रहता है! हमारे दुःखों और उन सभी दुःखों के मूलभूत कारण का साक्षात्कार होने पर उसके निवारण का मार्ग भी स्पष्ट होता है। शील, समाधि और प्रज्ञा का यह पावन मार्ग किस प्रकार दुःख उत्पन्न करने वाली इन आसक्तियों को नष्ट कर हमें दुःख-विमुक्त बनाता है। इसी मार्ग का अभ्यास करते-करते नितांत दुःख-विमुक्ति-स्वरूप निर्वाण का भी साक्षात्कार हो जाता है।

इस प्रकार जैसे-जैसे विपश्यना के अभ्यास द्वारा प्रज्ञा पुष्ट होती जाती है, वैसे-वैसे मोह मूढ़ता, माया मरीचिका, भ्रम, भ्रांति, धोखा, विपल्लास सभी दूर हटते जाते हैं। सारी स्थिति अपने आप स्पष्ट होती जाती है। मन में किसी प्रकार की शंकाएं, कुशंकाएं नहीं रहने पातीं। प्रज्ञा पुष्ट होती है, तो शील-सदाचार शुद्ध होता है, विकारों से विहीन होकर चित्त विशुद्ध होता है, दृष्टि विशुद्ध होती है और इस कल्याणकारी विशुद्धि मार्ग पर आगे बढ़ते हुए हम शुद्ध आर्यत्व प्राप्त करते हैं। मुक्ति-सुख का आस्वादन करते हैं।

विपश्यना प्रज्ञा का अपना एक सुख है, जो अन्य सभी सुखों से उन्नत है। चाहे हम स्थूल ऐन्द्रिय सुखों में लिप्त हों अथवा अतीन्द्रिय रूप, शब्द आदि के आलंबनों द्वारा आत्म-सम्मोहन-जन्य किसी प्रकार की आनंदानुभूति में लिप्त हों, दोनों ही अवस्था सच्चे सुख की अवस्था नहीं। क्योंकि जब ये सुख समाप्त होते हैं, तो गहरा दुःख साथ लाते हैं। और चूंकि दोनों ही अनित्य हैं, इसलिए परिवर्तनशील हैं इसलिए समाप्त होते हैं। समाप्त होते ही मन फिर उन्हें पाने के

लिए छटपटाने लगता है, तृष्णा से व्याकुल होने लगता है। वास्तविक सुख तो वह है जो सदा एकरस बना रह सके। वह सुख निर्लिप्ति का ही सुख है। जब हम निर्लिप्त होकर देखने के अभ्यासी हो जाते हैं, तब हमारा आलंबन भले बदलता रहे, हमारे देखने में कोई अंतर नहीं पड़ता। न तो हम ऐन्द्रिय अथवा अतीन्द्रिय सुखों के आगमन पर नाचने लगते हैं और न ही उनके निर्गमन पर रोने लगते हैं। दोनों ही स्थितियों का एक तमाशबीन की तरह तमाशा देखते हैं। अपने अन्तर्मन की गहराइयों में उतरकर सूक्ष्म से सूक्ष्म स्थिति की भी परिवर्तनशीलता का निरीक्षण करते-करते इस अनित्यता की गहन सच्चाई के प्रति सम्यक दृष्टि जागती है, जो कि हमें इस परिवर्तन से प्रभावित होने से बचाती हैं। हम एक जैसी निर्लिप्त और निस्पृह दृष्टि से प्रत्येक बदलती हुई स्थिति को देखते हैं और उसका सुख लेते हैं। जो कुछ सांदृष्टिक है, आखों के सामने है, उसे निर्विकारभाव से देखते रहने का सुख निराला है, अनोखा है, अतुलनीय है। यही सच्चा सुख-विहार है। इसे ही **'दिट्ठधम्म' सुख विहार** कहा गया है।

निरन्तर अतृप्ति और असंतृप्ति-जन्य तृष्णाओं में झुलसते रहने के बजाय आओ हम विपश्यना के अभ्यास द्वारा अपनी भावनामयी प्रज्ञा विकसित करें और तृष्णा की गहन आसक्तियों से विमुक्त होकर स्थितप्रज्ञ व अनासक्त बनें, 'जीवन्मुक्त' बनें और अपना सच्चा मंगल साधें! कल्याण साधें!

(वर्ष १ बुद्धवर्ष २५१६ वैशाख पूर्णिमा दि. २८-०५-७२ अंक १२)

पत्रिका संग्रह भाग १

(जुलाई १९७२ से जून १९७३ तक)

उद्बोधन : लोक-चक्र क्या है?

मेरे प्यारे साथी साधक-साधिकाओ!

धर्म-चक्र जाग्रत करो!

यह जो हमारे भीतर ही भीतर प्रतिक्षण लोक-चक्र चल रहा है इससे छुटकारा पाने के लिए धर्म-चक्र जाग्रत करो। लोक-चक्र ही हमारे समस्त दुःखों का मूल है। धर्म-चक्र इन सभी दुःखों का निरोधक है।

लोक-चक्र क्या है? लोक-चक्र मोह है, मूढ़ता है। लोक-चक्र अज्ञान है, अविवेक है, अविद्या है जिसके कारण हम निरंतर राग और द्वेष की चक्की में पिसते ही रहते है। यह जो हमारी छः इंद्रियां हैं– आंख है, नाक है, कान है, जिह्वा है, शरीर की त्वचा है और मन है, और यह जो इंद्रियों के ६ विषय हैं– रूप है, गंध है, शब्द है, रस है, स्प्रष्टव्य है और कल्पनाएं हैं; इनका परस्पर संस्पर्श होते ही रहता है। आंख का रूप से संस्पर्श होता है, नाक का गंध से संस्पर्श होता है, कान का शब्द से संस्पर्श होता है, जिह्वा का रस से संस्पर्श होता है, काया का किसी भी स्प्रष्टव्य पदार्थ से संस्पर्श होता है, मन का कल्पना से संस्पर्श होता है। ऐसा कोई भी संस्पर्श होते ही तत्काल हमारे चित्त में कोई न कोई संवेदना जागती है। यदि वह संवेदना हमें प्रिय लगी तो हम तत्संबंधित विषय से चिपकाव पैदा कर लेते हैं यानी राग पैदा कर लेते हैं। यदि यह संवेदना अप्रिय लगी तो तत्संबंधित विषय से दुराव पैदा कर लेते हैं यानी द्वेष पैदा कर लेते हैं। चाहे राग उत्पन्न हो, चाहे द्वेष, दोनों ही हमारे मन में तनाव-खिंचाव पैदा करते हैं, उत्तेजना पैदा करते हैं। यहीं लोक-चक्र का आरंभ हो जाता है। अपनी नासमझी से ही हम यह उत्तेजना पैदा कर लेते हैं जो कि दूषित भव-चक्र के रूप में बढ़ने लगती है और गहरी आसक्तियों में परिवर्तित होकर हमें व्याकुल, व्यथित बनाती रहती है और हमारा दुःख-संसार बढ़ाती रहती है। इसी भव-चक्र को काटने के लिए हमारे भीतर धर्म-चक्र जागते रहना बहुत जरूरी है। यदि हमारे भीतर धर्म-चक्र जागता है तो विवेक जागता है, विद्या जागती है, होश जागता है और जैसे ही इंद्रियों और विषयों के संस्पर्श से चित्त में कोई संवेदना पैदा होती हो – प्रिय संवेदना या अप्रिय संवेदना, सुखद संवेदना या दुःखद संवेदना – वैसे ही पागलों की तरह उन-उन विषयों के प्रति राग-रंजित और द्वेष-दूषित भाव जगाने के बजाय उनके नश्वर निस्सार स्वभाव को समझ कर उनके प्रति प्रज्ञा-भाव जागे, अनासक्ति-भाव जागे। तब लोक चक्र का प्रवर्तन रुक जाता है और उसका विस्तार हो नहीं पाता। यही

धर्म-चक्र प्रवर्तन है, यही धर्म-चक्र-प्रवर्तन का प्रत्यक्ष लाभ है। विपश्यना साधना के अभ्यास द्वारा अपने अंतर्मन में अनुभूत होने वाली प्रत्येक संवेदना को जानें और जानकर उनमें उलझें नहीं, यही धर्म-चक्र है। इसे ही जाग्रत रखें।

साधको! धर्म-चक्र जाग्रत रखने में हमारा मंगल है, कल्याण है।

---०---

लोक-चक्र और धर्म-चक्र

आज धर्म-चक्र प्रवर्तन दिवस है। २५-२६ सदियों पूर्व इसी आषाढ़ पूर्णिमा के दिन भगवान गौतम बुद्ध ने धर्म-चक्र प्रवर्तन किया था। लोक-चक्र में पिसी जाती हुई जनता धर्म-चक्र से वंचित हो गयी थी। धर्म के नाम पर जो कुछ प्रचलित था वह अधिकांशतः लोक-चक्र ही लोक-चक्र था। विवेकहीन रूढ़ियों और परंपराओं की लकीरों पर अंधे फकीरों की तरह चलने वाले लोग धर्म का सत्य स्वरूप भूल बैठे थे। यथार्थ ज्ञान-दर्शन से वंचित हो चुके थे। इसीलिए नाना प्रकार के दुःखों में उलझे हुए थे।

दुनिया में जब कोई व्यक्ति बुद्ध बनता है तो वह यथार्थ ज्ञान दर्शन ही करता है। परमार्थ सत्य का स्वयं दर्शन करना ही सम्यक संबोधि है। समस्त मिथ्या-दृष्टियों से, भ्रम-भ्रांतियों से, माया-मरीचिकाओं से, धोखे-विपल्लास से बाहर निकल कर आर्यसत्यों का स्वयं साक्षात्कार कर लेना ही विमुक्ति है। जब कोई व्यक्ति इस प्रकार स्वयं आर्य-सत्यों का दर्शन करके औरों को भी उनका दर्शन कर सकने के लिए मार्ग-निर्देशन करता है तब इसी को धर्म-चक्र-प्रवर्तन करना कहते हैं।

यह आर्य-सत्य क्या है? आर्य-सत्य प्रकृति की वे सच्चाइयां हैं जिन्हें कि हम अन्तर्मुखी होकर, स्वानुभूतियों के बल पर, स्वयं देख समझ लेते हैं और आर्य बन जाते हैं, यानी पवित्र बन जाते हैं, निर्मल-हृदय बन जाते हैं। आओ, देखें ये कौन सी सच्चाइयां हैं जो कि हमें मिथ्या भ्रांतियों से दूर करती हैं और आर्य बनने में सहायक होती हैं। ये हैं जीवन और जगत की ठोस सच्चाइयां, यथार्थ सच्चाइयां, थोथी कपोल-कल्पनाओं से परे, निकम्मी निस्सार अटकलपच्चियों से दूर। ये सच्चाइयां ४ प्रकार की होती हैं।

हम भली-भांति जान लेते हैं कि (१) यह दुःख है (१) यह दुःख का मूलभूत कारण है (३) यह दुःख का निवारण है (४) यह दुःख निवारण का तरीका है।

अन्य शब्दों में कहें तो हम भली भांति जान लेते हैं कि यह हमारा रोग है, यह रोग का निदान है, यह रोग का निवारण है और यह है निवारण की दवा; यह मैल है, यह मैल का चिपकना है, यह मैल का छूटना है और यह है मैल छुड़ाने का साबुन; यह आग है, यह आग का जलावन है, यह आग का बुझना है और यह है आग बुझाने वाला जल; यह भय है, यह भय का कारण है, यह निर्भयता है और यह है उसका उपाय; यह विष-वृक्ष है, यह वृक्ष का मूल है, यह मूलोच्छेदन है और यह है कुल्हाड़ा; यह दुर्भिक्ष है, यह दुर्वृष्टि है, यह सुभिक्ष है और यह है सुवृष्टि; यह उरला तीर है, यह बीच की नदी है, यह परला तीर है और यह है पार होने की नौका; यह कुफल है, यह कुबीज है, यह सुफल है और यह है सुबीज; यह दुर्गति है, यह दुर्मार्ग है, यह सत्गति है और यह है सन्मार्ग; यह लोक-चक्र है, यह लोक-चक्र की गति है, यह उस गति का निरोध है और यह है गति निरोध कर देने वाला धर्म-चक्र।

वस्तुतः लोक-चक्र ही दुःख है, रोग है, बंधन है, मैल है, आग है, भय है, दुष्फल है, दुर्गति है और धर्म-चक्र ही सुख है, स्वस्थता है, शांति है, मुक्ति है, निर्मलता है, योगक्षेम है, सुफल है, सुगति है। चारों आर्य-सत्यों को देख समझ लेना धर्म-चक्र है और न देखना-समझना लोक-चक्र।

साधारणतया हम दुःख के सत्य स्वरूप को नहीं देख समझ पाते। इसी से उसमें उलझे रहते हैं; लोक-चक्र में पिसते रहते हैं। जीवन के मोटे-मोटे दुःख तो हम खूब समझ लेते हैं। परंतु सांसारिक सुखों में छिपे हुए सूक्ष्म परंतु तीव्र दुःखों को हम कहां समझ पाते हैं? छोटे-बड़े ऐन्द्रिय सुख हमें इस कदर लुब्ध रखते हैं कि इनमें भी कोई दुःख समाया हुआ है, यह बात हमारी समझ में ही नहीं आती। यदा-कदा आने वाले इन भौतिक सुखों की वजह से हमारे भीतर जो उत्तेजनाएं उमड़ती रहती हैं और हमारा मानसिक संतुलन बिगड़ता रहता है उस दुःख को हम देख ही नहीं पाते। प्रिय या अप्रिय सभी स्थितियों में हमारे भीतर ही भीतर जो गहरी अतृप्ति, असंतुष्टि समायी रहती है उसके दुःख को हम समझ ही नहीं पाते। जो कुछ प्राप्य है उसकी सुरक्षा के लिए और जो कुछ अप्राप्य है उसकी प्राप्ति के लिए हमारे अन्तर्मन में जो निरंतर बेचैनियां बनी रहती हैं, उन्हें हम देख ही नहीं पाते। इन्हें देख समझ लेना ही अपने सच्चे रोग को पहचान लेना है। यही पहला मंगलकारी सत्य है, आर्य-सत्य है।

दूसरा मंगलकारी सत्य उस दुःख के असली कारण को देख पहचान लेना है। वैयक्तिक, पारिवारिक, सामाजिक और राजनैतिक जीवन की विभिन्न अनवांछित घटनाएं, परिस्थितियां हमें दुःखी बनाती रहती हैं, यह सच है। परंतु यह

ऊपरी-ऊपरी सच है। इससे गहरा सच यह है कि भीतर ही भीतर अनजाने हमने अपने मन को एक ऐसे स्वभाव-शिकंजे में जकड़ लिया है जिससे कि वह अप्राप्य को प्राप्त करने के लिए सदा लालायित ही रहता है, उत्तप्त ही रहता है। जो कुछ है उससे इसे संतुष्टि नहीं, तृप्ति नहीं। जो नहीं है उसके लिए छटपटाहट है। अतृप्ति और असंतुष्टि की यह छटपटाहट ही तो दुःख है। यह जान लेने पर यह भी स्पष्ट समझ में आ जाता है कि सदा सतृष्ण रहने वाला हमारा यह आंतरिक स्वभाव ही इसका मूल कारण है। इच्छा की पूर्ति हो जाने पर भी तृष्णा तो बनी ही रहती है। एक इच्छा पूरी हुई कि दूसरी के प्रति तृष्णा जागी। जब तक तृष्णा बनी रहती है तथा उस तृष्णा के प्रति गहरी आसक्ति बनी रहती है तब तक दुःख बना ही रहता है।

दुःखों के मूलभूत सही कारण को नहीं जानने की वजह से ही दुःख-विमुक्ति के सारे उपक्रम व्यर्थ साबित होते हैं। बल्कि और भी उलझाने वाले साबित होते हैं। ऐन्द्रिय सुखों के अभाव को ही दुःख का कारण मान कर उनके पीछे पागलों की तरह दौड़ लगाने वाला व्यक्ति अधिक दुःखों में ही उलझता है। किसी सर्वशक्तिमान अदृश्य प्राणी को दुःखों का कारण मान कर उसे खुश करने के चक्कर में पड़ने वाला व्यक्ति दुःखों में अधिक उलझता ही है। अतः दुःख के सही कारण को जान लेना ही वास्तविक मंगलमयी सच्चाई है।

यह दुःख है, यह दुःख का कारण है। इन दोनों सच्चाइयों को जान लेना नितांत आवश्यक है। परंतु इतना जानकर यदि हम हताश हो बैठें कि यह तो दुनिया का स्वभाव है, यह दुःख-चक्र तो सदा चलता ही रहेगा, इसके बाहर कोई निकल नहीं सकता तो इस निराशा के कारण सचमुच दुःख-चक्र में पड़े ही रह जायेंगे। धर्म-चक्र दुःख और दुःख के सही कारण को जानकर उसके निवारण के प्रति आस्था पैदा करता है। जिसका कोई कारण है, उसका निवारण भी है ही। कारण के दूर होते ही परिणाम आप ही दूर हो जायगा। आशाओं से परिपूर्ण यह तीसरी मंगलमयी सच्चाई है।

कारण के निवारण से दुःख दूर होगा, यह सच्चाई जान लेने के बाद उस निवारण का सही उपाय पकड़ में आ जाय तो चौथी मंगलकारी सच्चाई पकड़ में आ जाय। तीसरी सच्चाई ने जो आशा उत्पन्न की थी उसे क्रियान्वित करने की विधि पकड़ में आ जाय। क्या है यह विधि? यह विधि है– शील, समाधि और प्रज्ञा। यानी काया और वाणी के दुराचार से बचना, चित्त को वश में रखना और चित्त पर छाए हुए समस्त दूषित विकारों को दूर कर उसे मैत्री, करुणा आदि सद्गुणों से भरना। दुःख-निरोध का यही सही उपाय है। हमारे समस्त रोगों की यही

रामबाण औषधि है। यही वह मार्ग है जिस पर चलकर हम अपने भीतर समाए हुए समस्त दुःखों की जननी स्वरूपा इस तृष्णा-जन्य आसक्ति को समूल नष्ट करने में सर्वथा समर्थ होते हैं। यही मंगलकारी चौथी सच्चाई है।

इन चारों मंगलकारी आर्य सच्चाइयों को जान लेना, चिंतन, मनन द्वारा भली-भांति समझ लेना अच्छा है। क्योंकि जानना समझना ही तो पहला कदम है। परंतु यदि इस बौद्धिक स्तर पर जानने समझने को ही हम सब कुछ मान बैठे तो एक और पागलपन के शिकार हो जाएंगे। यह तो कोरा बुद्धि-विलास ही होगा जो कि हमारे किसी लाभ का नहीं। जान समझ कर उसे क्रियान्वित कर लेना ही हमारे मंगल का विधायक है। रोग जान लिया, उसे दूर करने की दवा भी जान ली परंतु उस दवा का सेवन नहीं किया तो यह सारा जानना निरर्थक ही हुआ।

अतः इन चारों आर्य-सत्यों का सही साक्षात्कार वही करता है जो कि बुद्धिविलास के चक्कर से बाहर निकलता है। अन्यथा तो लोक-चक्र में ही उलझा रहता है। धर्म-चक्र से लाभान्वित नहीं हो पाता है। दुःख को जान कर उससे मुक्त हो जाना ही धर्म-चक्र है। दुःख के सही कारण को जान कर उसे जड़ से उखाड़ फेंकना ही धर्म-चक्र है। दुःख-निरोध की सच्चाई को जान कर यथार्थतः उस स्थिति को प्राप्त कर लेना ही धर्म-चक्र है। दुःख-निरोध के लिए शील, समाधि और प्रज्ञा की सरल विधि को जानकर उसका पूरी तरह अभ्यास कर लेना ही धर्म-चक्र है। यही मंगल-मूल है। यह न हो तो हम लोक-चक्र ही लोक-चक्र में उलझे रह जायेंगे। दुःख-चक्र ही दुःख-चक्र में पिसते रह जायेंगे। हमारा सौभाग्य है कि हमें यह कल्याणकारी विधि उपलब्ध हुई है। हम इसके अभ्यास द्वारा लोक-चक्र के दुःखों से बाहर निकलें और धर्म-चक्र पर स्थापित हो कर अपना कल्याण साधें, अपना मंगल साधें!

(वर्ष १ बुद्धवर्ष २५१६ ज्येष्ठ/आषाढ़ पूर्णिमा दि. २६-०७-७२ अंक १)

उद्‍बोधन : सत्य दर्शन

मेरे प्यारे साधक-साधिकाओ!

आओ, सत्य का सम्यक दर्शन करें!

दुःख आर्य-सत्य का सम्यक दर्शन करें!

दुःख समुदय आर्य-सत्य का सम्यक दर्शन करें!

दुःख निरोध आर्य-सत्य का सम्यक दर्शन करें!

दुःख निरोध गामिनी प्रतिप्रदा आर्य-सत्य का सम्यक दर्शन करें!

विपश्यना साधना द्वारा अंतर्मुखी होकर इन चारों आर्य-सत्यों का सम्यक दर्शन करें। जो कुछ बाहर है वह भीतर का ही प्रक्षेपण है। अतः भीतर की ओर झांकें। इस साढ़े तीन हाथ की काया के भीतर सभी लोक समाए हुए हैं, लोकों की उत्पत्ति समायी हुई है, लोकों का निरोध समाया हुआ है, लोकों के निरोध का मार्ग समाया हुआ है, इसका साक्षात्कार करें।

चार आर्य सत्यों का यह साक्षात्कार ही सम्यक दृष्टि है, विद्या है, बोधि है, ज्ञान है, आलोक है, विमुक्ति है।

इन चार आर्य-सत्यों के साक्षात्कार से वंचित रह जाना ही मिथ्या-दृष्टि है, अविद्या है, अज्ञान है, अंधकार है, बंधन है।

इन चार आर्य-सत्यों का सम्यक दर्शन हमारे लाभ के लिए है, अर्थ के लिए है, हित के लिए है, सुख के लिए है, दुःखों के नितांत निरोध, उपशमन, निर्मूलन के लिए है, मुक्ति, मोक्ष, निर्वाण के लिए है।

अतः साधको! आओ, चारों आर्य सत्यों का सम्यक दर्शन करें।

---०---

चार आर्य सत्य

यह दुःख है। जीवन के इस प्रथम कटु सत्य को जब तक हम गहराई से जान-समझ नहीं लेते, स्वयं अनुभव नहीं कर लेते तब तक उससे मुक्त होने के लिए प्रयत्नशील ही नहीं हो सकते।

यह दुःख का कारण है। जीवन के इस द्वितीय गंभीर तथ्य को जब तक हम जान समझ नहीं लेते, स्वयं अनुभव नहीं कर लेते तब तक दुःख की सच्चाई को जानकर भी उसके निवारण के लिए हम कुछ कर नहीं सकते।

यह दुःख का निवारण है। जीवन के इस तृतीय आशाप्रद सत्य को जान-समझ कर और स्वयं अनुभव करके ही हम सब प्रकार की निराशाओं से मुक्त होते हैं। जिस दुःख का कोई कारण हो उस कारण के निवारण में ही दुःख का निवारण समाया हुआ है। यह तीसरा सत्य दुःख-संतप्त मानव के लिए असीम आशाओं का मंगल आश्वासन लिए हुए है। यह दुःख निवारण का मार्ग है। जीवन के इस चतुर्थ कल्याणकारी सत्य को हम भलीभांति जान समझ लें और उसका पालन कर लें तो सचमुच अपने समस्त दुःखों से मुक्ति पा लेंगे। शील, समाधि और प्रज्ञा का यह मंगल-मार्ग ही एक ऐसी रामबाण औषधि है जो कि दुःख के सभी कारणों पर गहरा प्रहार करती है। जहां दुःख के कारण जड़ से उखड़ने लगे वहां दुःख टिक ही कैसे सकेगा? कारणों की सारी जड़ें उखड़ जायेंगी तो समस्त दुःखों से स्वतः विमुक्ति हो ही जायगी।

इन चारों सत्यों को आर्य कहा गया है। इसलिए आर्य कहा गया है। इन सच्चाइयों से उत्तम कोई अन्य सच्चाइयां हैं ही नहीं। इसीलिए कहा गया कि इन चारों सत्यों को अनुभव के क्षेत्र में स्वयं जान लेने वाला व्यक्ति सहज ही आर्य बन जाता है यानी पवित्र बन जाता है, संत बन जाता है, उत्तम बन जाता है, मुक्त बन जाता है।

यह दुःख है, यह दुःख का कारण है, यह दुःख का निवारण है और यह दुःख के निवारण की विधि है। इन चारों आर्य-सत्यों को जिस व्यक्ति ने सम्यक रूप से जान लिया उसने अपने हित, सुख, अर्थ और लाभ की सारी बात जान ली और जिसने इन्हें नहीं जाना उसने और बहुत कुछ जान लेने पर भी अपने सही हित, सुख की बात नहीं ही जानी। ये चारों सच्चाइयां जीवन जगत की सच्चाइयां हैं, ठोस धरती की सच्चाइयां हैं। सब कुछ यथार्थ ही यथार्थ है। इसमें कहीं कपोल कल्पना नहीं, कहीं कोरा बुद्धि-किलोल नहीं, कहीं भटका देने वाला अंध-विश्वास नहीं, कहीं उद्विग्न कर देने वाला मिथ्या भावावेश नहीं, कहीं भय-संकुल मिथ्या-मान्यता नहीं। जो कुछ है वह यथार्थ है। मनुष्य की अपनी ही अनुभूतियों के बल पर स्थापित है, स्वीकृत है, एक सामान्य व्यक्ति द्वारा स्वयं अपने ही श्रम से, अभ्यास से, सहज अनुभवगम्य है।

ये सच्चाइयां केवल श्रुतमयी प्रज्ञा पर ही आधारित नहीं, केवल चिंतनमयी प्रज्ञा पर ही आधारित नहीं, बल्कि इन दोनों के साथ-साथ अभ्यासजन्य साधना के धरातल पर, स्वानुभूति की भूमि पर प्रतिष्ठित, भावनामयी प्रज्ञा पर आधारित हैं। सुने-सुनाये ज्ञान और चिंतन-मनन द्वारा उपलब्ध हुए ज्ञान की यहां अवहेलना नहीं की गई है परंतु इनसे भी अधिक महत्त्व स्वानुभूतियों के बल पर प्राप्त हुए ज्ञान को दिया गया है। श्रुतमयी प्रज्ञा के आधार पर हम जान लेते हैं कि यह यह जीवन के दुःख हैं। चिंतन-मननमयी प्रज्ञा द्वारा हम इन दुःखों की गंभीरता को स्वीकारते हुए

यह महसूस करते हैं कि ये सत्य भलीभांति परिज्ञेय हैं, समझ लेने योग्य हैं। स्थूल-स्थूल दुःखों की मोटी-मोटी जानकारी तक ही सीमित न रहकर गंभीर गहराइयों तक सूक्ष्म-सूक्ष्म दुःखों का भी पूरा ज्ञान प्राप्त कर लेना आवश्यक है। ऐसा हम चिंतनमयी प्रज्ञा द्वारा समझते हैं और फिर भावनामयी प्रज्ञा द्वारा साधना के अभ्यास की भूमिका पर उतर कर स्वयं अपनी अनभूतियों के बल पर इन दुःखों की गहनता का अनुभव करते हैं, भलीभांति उन्हें परिज्ञात करते हैं।

श्रुतमयी प्रज्ञा द्वारा हम यह जान लेते हैं कि सभी दुःखों के ये मूलभूत कारण हैं। फिर चिंतनमयी प्रज्ञा द्वारा यह भी महसूस करते हैं कि इन दुःखों से हमें छुटकारा पाना चाहिए, दुःखों के इन कारणों को उखाड़ फेंकना चाहिए, इनका प्रहाण कर लेना चाहिए। और फिर भावनामयी प्रज्ञा द्वारा साधना के अभ्यास की भूमिका पर उतर कर हम उन समस्त कारणों का प्रहाण कर लेते हैं, उन्हें खत्म कर लेते हैं।

श्रुतमयी प्रज्ञा द्वारा हम यह जान लेते हैं कि इन दुःखों के निरोध की भी एक अवस्था है, इसके नितांत निवारण की भी एक स्थिति है। फिर चिन्तन-मननमयी प्रज्ञा द्वारा हम यह महसूस करते हैं कि ऐसी दुःख-निरोधक स्थिति का हमें स्वयं साक्षात्कार करना ही चाहिए, स्वयं अनुभव करना ही चाहिए। और फिर भावनामयी प्रज्ञा द्वारा साधना के अभ्यास की भूमिका पर उतर कर हम सचमुच उस दुःख-निरोधक स्थिति का स्वयं साक्षात्कार कर लेते हैं, मुक्ति-रस का स्वयं आस्वादन कर लेते हैं।

श्रुतमयी प्रज्ञा द्वारा हम यह जान लेते हैं कि दुःखों का निरोध करने के लिए यह मंगल मार्ग है। फिर चिन्तन-मननमयी प्रज्ञा द्वारा हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि हमारे सच्चे कल्याण के लिए इस मंगल पथ का हमें स्वयं अनुसरण करना ही चाहिए। इस विधि का स्वयं अभ्यास करना ही चाहिए। और फिर भावनामयी प्रज्ञा द्वारा साधना के धरातल पर उतर कर स्वयं अभ्यास करके हम इस विधि का लाभ उठाते हैं, हम दुःख-विमुक्ति का स्वानुभव कर लेते हैं।

इस प्रकार इन चारों आर्य-सत्यों को पढ़ सुनकर श्रुतमयी प्रज्ञा द्वारा जान लेते हैं, अपनी बुद्धि की कसौटी पर कस कर चिन्तन-मननमयी प्रज्ञा द्वारा इनके महत्त्व को भलीभांति समझ लेते हैं और शील, समाधि तथा ज्ञान मार्ग की साधना करते हुए भावनामयी प्रज्ञा द्वारा अभ्यास के बल पर स्वयं अपना मंगल साधते हैं। जब तक इन चारों सच्चाइयों को इस प्रकार तिहरा करके कुल बारह प्रकार से जान न लें, समझ न लें और अनुभव न कर लें तब तक हम अपने सही मंगल-कल्याण से दूर ही भटकते हैं। इसीलिए यह कहना अत्यंत सार्थक है कि जिसने इन चार आर्य-सत्यों का भली-भांति साक्षात्कार कर लिया वह कृत-कृत्य हो

गया। उसे जो करना था सो कर लिया, अब और कुछ करने को बाकी नहीं रह गया। जो पाना था सो पा लिया, अब औंर कुछ पाने को बाकी नहीं रह गया। परंतु जो इन चार कल्याणकारी सच्चाइयों से वंचित रह गया वह और बहुत कुछ जान समझ कर भी अनजान ही रह गया, और बहुत कुछ प्राप्त करके भी निर्धन ही रह गया।

किसी भी कुशल चिकित्सक के लिए यह आवश्यक है कि वह रोगी का सही रोग पहचाने, उस रोग का निदान करके उसके सही कारण को पहचाने और फिर उचित उपचार करके उस कारण का निर्मूलन कर, रोगी को रोगमुक्त कर दे। इन चार बातों को छोड़कर अन्य किसी असंबंधित ऊल-जलूल बात में उलझ जाने वाला चिकित्सक रोगी का हितैषी नहीं होता।

कोई व्यक्ति सम्यक संबोधि प्राप्त करता है यानी पूर्णतया सही ज्ञान प्राप्त करता है तो इन चार कल्याणकारी सच्चाइयों की जानकारी ही तो प्राप्त करता है और एक कुशल भिषक की तरह, वैद्य की तरह न केवल अपना इलाज करके स्वयं रोगमुक्त होता है बल्कि अन्य अनेक रोगियों को भी उपचार का सही साधन बता कर उनके रोगमुक्त होने में सहायक बनता है। रोग और रोग के उपचार को छोड़कर और कोई बिना सिर-पैर की बातें करना सचमुच बेमाने ही तो है। इसीलिए भगवान ने कहा कि मैं तो एक भिषक मात्र हूँ, वैद्य मात्र हूँ और वैद्य को रोगी के रोग का उपचार करने के अतिरिक्त अन्य निरर्थक बातों से क्या लेना देना! और तभी कहा कि मैं तो मात्र दुःख और दुःख-निरोध ही सिखाता हूँ और कुछ नहीं। कितना ठीक कहा उन्होंने कि जिस रोगी को विषैला तीर लगा हो और वह मरणांतक पीड़ा से व्याकुल हो तो उसके उपचार के लिए आये हुए वैद्य का यही धर्म है कि उस तीर को तुरंत बाहर निकाल कर रोगी को पीड़ा से मुक्त करे। परंतु यदि वह नासमझ रोगी इस बात का हठ करता रहे कि पहले यह मालूम करो कि जिसने तीर मारा वह लंबा है या ओछा है, काला है या गोरा है, मोटा है या पतला है तो यह निरर्थक जिज्ञासा उसके हित-सुख के लिए नहीं होगी। उसके हित-सुख की बात तो यही है कि उसकी असह्य पीड़ा का कारण – स्वरूप यह जो विषैला तीर है इसे निकाल कर रोगी को शीघ्र पीड़ा-मुक्त किया जाय। उस करणीय काम को नहीं करके अन्य थोथी बातों में उलझना निरर्थक ही तो है, फजूल ही तो है, अहितकर ही तो है, हानिकारक ही तो है।

सुदूर अतीत से लेकर आज तक न जाने कितने लोग ऐसी ही निरर्थक बातों में उलझते रहे हैं और अपनी तथा औरों की हानि करते रहे हैं। यह दुनिया कब बनी? कैसे बनी? इसे किसने बनाया? इसका अंत होगा या नहीं? होगा तो कब होगा? कैसे होगा? आज तक कितने तत्त्व-चिंतकों ने और दार्शनिकों ने इस सम्बंध

में न जाने कितने कल्पना के घोड़े दौड़ाए हैं। भिन्न-भिन्न लोगों की भिन्न-भिन्न कल्पनाएं और बहुधा परस्पर विरोधी भी; एक को प्रिय लगने वाली कल्पना दूसरे को उतनी ही बेहूदी लगे। उस पर मुसीबत यह कि हर एक का आग्रह कि मेरी ही कल्पना सही मानी जाय। यदि कोई न माने तो लड़ाई हो, झगडे हों, विग्रह-विद्वेष हो, युद्ध संघर्ष हो, निश्चय ही ऐसी भिन्न-भिन्न परस्पर विरोधी कल्पनाएं हमारे दुःखों का निरोध नहीं कर सकती। जीवन जगत के यथार्थ दुःखों के शमन के लिए हमें कल्पना – आकाश की उड़ान त्यागनी होगी, यथार्थ की ठोस भूमि पर कदम रख कर ही चलना होगा। जो सच्चाई है वह कितनी ही कटु क्यों न हो, अप्रिय क्यों न हो उसकी यथार्थता स्वीकार करनी ही होगी। जीवन – जगत को मिथ्या, माया, निस्सार कह कर उससे मुँह मोड़ लेना शुतुर्मुर्ग की तरह सच्चाई से दूर भागना है। समस्या से दूर भाग कर किसी ने आज तक उसका समाधान नहीं पाया। जीवन के दुःखों को भुलाने की चेष्टा में आंख मूंद कर रखने वाले अपने आपको कुछ समय के लिए धोखे में भले भरमाये रखें परंतु दुःख की नितांत विमुक्ति से वंचित ही रह जाते हैं। फोड़े की पीड़ा से घबरा कर कोई अफीम का नशा कर ले तो यह अल्प-कालीन आत्म-छलना ही होगी। उसका सही उपचार तो इसी बात में है कि उस अनपके हुए फोड़े को पकाए और पके हुए फोड़े को चीर कर उसमें की सारी पीप और सारी गंदगी निकाल बाहर करे। यह काम कितना ही अप्रिय क्यों न हों परंतु उस रोग से मुक्ति पाने के लिए आवश्यक है, अनिवार्य है। किसी भी समझदार आदमी की समझदारी इसी बात में है कि वह समस्या से दूर नहीं भागे बल्कि एक ठोस यथार्थवादी की तरह सही वैज्ञानिक ढंग से उस समस्या का सामना करे उसे समझे। उसकी यथार्थता से मुँह नहीं मोड़े बल्कि उसे स्वीकार करे और धैर्यपूर्वक उसके निराकरण के लिए यथोचित प्रयत्न करे, यही चतुआर्य सत्य है। समस्या, समस्या का मूलभूत कारण, समस्या का निवारण और समस्या के निवारण का तरीका।

अपने रोग को जानने के लिए और उस रोग के निवारण का तरीका जानने के लिए और उस तरीके को अपना कर रोग-मुक्त होने के लिए हमें किसी संप्रदाय विशेष में दीक्षित होने की कतई जरूरत नहीं है। न दुःख संतप्त होना किसी संप्रदाय विशेष का एकाधिकार है और न ही दुःख-विमुक्त होना। अज्ञानतावश दुःख में उलझे रहना प्राणी मात्र का स्वभाव है। मनुष्य इसका अपवाद नहीं; परंतु मनुष्य की यही विशेषता है कि वह अपने बुद्धि-बल से, श्रम-बल से, साधन-बल से, अपने दुःख को जान सकता है, दुःख के कारण को पहचान सकता है और फिर दुःख दूर कर सकने के तरीके को जानकर और उसे अपना कर दुःख दूर कर सकता है। यह विशेषता मनुष्य की ही है, इतर प्राणियों की नहीं। और यह विशेषता मनुष्य मात्र की है किसी मनुष्य विशेष की नहीं। बस मनुष्य होना चाहिए, चाहे वह काला हो

या गोरा हो, पीला हो या गेहुँआ हो, लंबी नाक वाला हो या चपटी नाक वाला हो, बड़ी तिरछी आंखों वाला हो या छोटी चुँधियाती आंखों वाला हो, इस जाति का हो या उस जाति का हो, इस वर्ग का हो या उस वर्ग का हो, इस बोली-भाषा का हो या उस बोली-भाषा का हो, इस देश का हो या उस देश का हो, इस काल का हो या उस काल का हो। हां, यह अलग बात है कि अनेक मनुष्य अपने सही दुःख को समझे बिना, दुःख के सही कारण को समझे बिना, दुःख निवारण के सही तरीके को समझे बिना और उस तरीके को सही प्रकार से अपनाए बिना भिन्न-भिन्न प्रकार की असंबंधित कल्पनाओं में, अटकलपच्चियों में, रूढ़ियों में उलझे रहते हैं और इस कारण दुःख मुक्त-नहीं हो पाते।

तो आओ, सभी सांप्रदायिक घेरों की गिरफ्त से मुक्त रहते हुए, जीवन जगत के सत्यधर्म और स्वभाव को जानें समझें। कल्पनाओं का सहारा छोड़ कर यथार्थ के धरातल पर चारों आर्य सत्यों को जानें समझें और साधना के क्षेत्र में उनका स्वयं साक्षात्कार कर जितना-जितना हो सके उतना-उतना दुःखविमुक्ति का लाभ हासिल करें।

स्थूल संवृत्ति सत्य को देखते-देखते ही हम सूक्ष्म पारमार्थिक सत्य को देखने लगेंगे, परमार्थसत्य को स्वयं देख कर, जानकर, साक्षात्कार कर, प्राप्त कर, और उसमें विहार करके ही हम समस्त दुःखों की बेड़ियों को नष्ट कर सकेंगे, भव का क्रम तोड़ सकेंगे।

(वर्ष २ बुद्धवर्ष २५१६ श्रावण पूर्णिमा दि. २४-०८-७२ अंक २)

उद्बोधन : सही मरणानुस्मृति

मेरे प्यारे साधक-साधिकाओ!

मरणानुस्मृति का अभ्यास करें, मरणानुस्मृति का अभ्यास हमारे लिए अत्यंत कल्याणकारी है।

मरणानुस्मृति का अभ्यास मृत्यु की याद बनाए रखने का अभ्यास है। जब तक मृत्यु की याद बनी रहती है, तब तक चित्त में अनायास विरक्ति पैदा होती है, अनासक्ति पैदा होती है, प्रज्ञा प्रबल होती है। सही प्रकार से मरणानुस्मृति कैसे की जाय, इसके लिए हमें समझना होगा कि गलत प्रकार की मरणानुस्मृति क्या है और उससे कैसे बचें?

यदि मेरी मरणानुस्मृति किसी प्रिय जन की मृत्यु पर आधारित है और मैं उस मरणानुस्मृति से उसी प्रकार व्यथित-व्याकुल होता हूं, जिस प्रकार कोई मां अपने इकलौते बेटे की मृत्यु की याद में होती है तो मेरी यह मरणानुस्मृति सही नहीं है, गलत है। यदि मेरी मरणानुस्मृति किसी अप्रिय व्यक्ति के मरण पर आधारित है और मैं उससे वैसे ही प्रमुदित होता हूं, जैसे कि कोई व्यक्ति अपने किसी बड़े दुश्मन की मौत पर होता है तो मेरी यह मरणानुस्मृति सही नहीं है, गलत है। यदि मेरी मरणानुस्मृति किसी ऐसे व्यक्ति के मरण पर आधारित है जो कि न मुझे प्रिय है, न अप्रिय और मेरा मन धर्म संवेग-विहीन अन्यमनस्कता से भरा हुआ यही चिंतन करता है कि दुनिया में बहुत जनमते हैं और बहुत मरते हैं, मुझे इससे क्या? ठीक वैसे ही जैसे कि श्मशान भूमि में मुर्दे जलाने वाला डोम अथवा कब्रिस्तान में कब्र खोदने वाला मजदूर अन्यमनस्क रहता है, तो मेरी यह मरणानुस्मृति भी सही नहीं है, गलत है। यदि मेरी मरणानुस्मृति मेरी अपनी ही आशंकित मृत्यु पर आधारित है और मैं वैसे ही भयभीत होता हूं जैसे कि कोई व्यक्ति अपने पर उठे हुए कातिल के खंजर को देखकर होता है तो भी मेरी यह मरणानुस्मृति सही नहीं है, गलत है।

सही मरणानुस्मृति का अभ्यास करते हुए मन में उसके प्रति न राग हो, न द्वेष हो, न मोहाच्छन्न बेहोशी हो और न ही भय हो! मरने की अनुस्मृति जब निर्भयता से भरी हो, जब हर्ष और रोदन विहीन हो, जब अनित्य-बोध-जन्य प्रज्ञा से भरी हो, तभी सही है।

मरणानुस्मृति के अभ्यास के लिए इस सच्चाई को कभी न भूलूं कि मेरी मृत्यु अवश्यंभावी है। मृत्यु का कारण, समय और स्थान भले ही ज्ञात न हो, परंतु

कभी भी, कहीं भी, किसी भी कारण से मेरी मृत्यु हो सकती है। मैं अपनी मृत्यु के लिए हर क्षण तैयार रहूं, जन्म भले रोते हुए हुआ, परंतु, मृत्यु तो हँसते और मुस्कराते हुए ही हो। इस निमित्त अपने आपको पकाता रहूं, पुष्ट करता रहूं, यही सही मरणानुस्मृति है। यदि मैं धनवान हूं तो सदा इस तथ्य की याद बनाए रखूं कि मुझसे कहीं अधिक धनवान भी मृत्यु को प्राप्त हुए ही हैं; यदि बलवान हूं तो मुझसे कहीं अधिक बलवान; विद्वान हूं तो मुझसे कहीं अधिक विद्वान; सत्तावान हूं तो मुझसे कहीं अधिक सत्तावान; मृत्यु को प्राप्त हुए ही हैं। मैं मृत्यु के चंगुल से बच नहीं सकता, मौत किसी पर रहम नहीं करती, राजा हो या रंक, विद्वान हो या अनपढ़, स्त्री हो या पुरुष, मनुष्य हो या इतर जीव, इस लोक का हो या उस लोक का, प्रत्येक प्राणी समय पाकर मृत्यु को प्राप्त होता ही है। जीवित-इंद्रिय का उपच्छेद होता ही है, हर जन्म लेने वाला मृत्यु का विधान साथ लेकर ही आता है, हर फूल मुरझाने के लिए ही खिलता है, हर प्रभात संध्या के लिए ही उदय होता है, हर बसंत पतझड़ के लिए ही पुष्पित होता है, हर पात्र टूटने के लिए ही बनता है, मृत्यु जीवन की अनिवार्य परिणति है, इससे किसी का छुटकारा नहीं। मृत्यु किसी का लिहाज नहीं करती कि यह ब्राह्मण है या शूद्र है, यह योग्य पात्र है या अयोग्य पात्र है, वह तो समय पकने पर सभी प्राणियों तक पहुँचती ही है; जीवन का हर सांस हमें मृत्यु की ओर ही तो ले जाता है।

आरोग्यता रोग के आने तक ही है, यौवन बुढ़ापे के आने तक ही है, इसी प्रकार जीवन मृत्यु के आने तक ही है। हर आरोग्य-संपत्ति रोग-विपत्ति में बदल जाती है। हर यौवन-संपत्ति जरा-विपत्ति में बदल जाती है, इसी प्रकार हर जीवन-संपत्ति, मरण-विपत्ति में बदल ही जाती है। किसी विषैले जन्तु का दंश, किसी शस्त्र का प्रहार, भोजन का अपच्य हो जाना, पित्त, वायु या कफ का कुपित हो जाना, श्वांस का अवरुद्ध हो जाना, गर्मी-सर्दी की अधिकता का होना, आहार का अभाव होना, आदि, आदि अनगिनत कारण मृत्यु के प्रत्यय बन सकते हैं।

मृत्यु की इस सच्चाई को जानते रहने का मतलब यह नहीं कि हम इस वजह से सदा चिंतित रहें, आशंकित रहें, व्याकुल रहें, भयभीत रहें, बल्कि उसका अर्थ यही है कि हम प्रज्ञापूर्वक इस सच्चाई को समझते रहें कि मेरे अनमोल मनुष्य जीवन की आयु बहुत थोड़ी है; मैं कहीं इसके प्रति गहरी आसक्ति में न उलझ जाऊं। मृत्यु से मेरा छुटकारा नहीं है, अतः जितना भी समय मेरे पास है, उसका वैसे ही तत्परतापूर्वक सदुपयोग करूं जैसे कि सिर में आग लगा हुआ व्यक्ति उस आग को बुझाने के लिए तत्पर हो उठता है।

यह सारा संसार मरणधर्मा है। मैं भी मरणधर्मा हूं। इस सच्चाई को जानते रहना अच्छा तो है, परंतु केवल बौद्धिक स्तर पर ही इसका चिंतन होता रहे तो

कोरा बुद्धिविलास बन जाने का खतरा रहता है। यदि ऐसा हो जाय तो श्मशान-ज्ञान की तरह निरर्थक साबित होगा। अतः इस सच्चाई को गहराइयों में उतर कर इसका प्रत्यक्ष अनुभव करना ही कल्याणकारी है। इसीलिए विपश्यना साधना है, जिसके द्वारा अन्तर्मुखी होकर हम इस सच्चाई का स्वयं अनुभव करते हैं कि हमारा यह शरीर-प्रपंच और चित्त-प्रपंच कितना नश्वर है, कितना मरणधर्मा है, कितना विनाशधर्मा है, क्षण-क्षण परिवर्तनशील है और जो नश्वर है, उसमें सुख कहां? इस अनित्य और दुःख स्वरूप शरीर-स्कंध और चित्त-स्कंध के प्रति यह जो मोह, मूढ़ता है कि "यह मेरा है" **"एतं मम"** "यह मैं हूं" **"एसोहमस्मि"** "यह मेरी आत्मा है" **"एसो मे अत्ता"** ये सब विपश्यना द्वारा शनैः शनैः नष्ट होती जाती हैं। साधक आत्मभाव और अस्मिताभाव की छलना से दूर होता है। अन्तर्मुखी होकर इस ऐंद्रिय जगत का निरीक्षण करता हुआ, उसकी सूक्ष्मतम परिधि तक पहुँचकर और उसे भी पार करके उस निर्वाणिक स्थिति का, मुक्त अवस्था का साक्षात्कार करता है, जो कि इंद्रियातीय है, भवातीत, लोकातीत है और जो कि विनाशधर्मा और मरणधर्मा न होकर नित्य, शाश्वत, ध्रुव अमृतधर्मा है। विपश्यना के इस अभ्यास के दौरान हम अपने ऐसे पूर्व संचित संस्कारों से छुटकारा पाते जाते हैं, जो कि हमारे अंतर्मन पर पत्थर की लकीर की तरह गहरे पड़े हुए हैं और जो कि हर मृत्यु के क्षण जागृत होकर पुनर्जन्म का कारण बनते है। इन संस्कारों का उन्मूलन ही मृत्यु के बाद नया जीवन देने वाली इस नैसर्गिक प्रक्रिया का निरोध करता है और इसी से अमृत पद प्राप्त होता है।

इस प्रकार अमृत तक पहुँचने के लिए संपूर्ण मृत्यु क्षेत्र का अंतरर्साक्ष्य किया जाता है। यही मरणानुपश्यना है, अनित्य लक्षण की विपश्यना है, जो कि मरणानुस्मृति से आरंभ होती है। इसीलिए मरणानुस्मृति को महान कल्याणकारी माना गया है। भगवान ने ठीक ही कहा;–

तस्मा हवे अप्पमादं, कयिराथ सुमेधसो।
एवं महानुभावाय, मरणस्सतिया सदाति॥

(विसुद्धिमग्ग १.२०४)

इसीलिए समझदार आदमी को चाहिए कि वह बिना प्रमाद में पड़े इस मरणानुस्मृति का अभ्यास करे, जो कि महा आनुभाववाली है, महा मंगलमयी है।

(वर्ष २ बुद्धवर्ष २५१६ भाद्रपद पूर्णिमा दि.२४-०९-७२ अंक ३)

उद्बोधन : आर्यसत्यों का साक्षात्कार करें

मेरे प्यारे साधक-साधिकाओ!

आओ सच्चाई का साक्षात्कार करें।

सच्चाई से दूर भागने में हमारा मंगल नहीं है, सच्चाई से मुँह छिपाने में हमारा कल्याण नहीं है, सच्चाई को भुला देने में हमारा हित-सुख नहीं है, हमारा हित-सुख है सच्चाई का सामना करने में, हमारा कल्याण है सच्चाई के प्रति अभिमुख होने में, हमारा मंगल है सच्चाई की गहराइयों तक उतरने में। सच्चाई कटु हो, कठोर हो, अप्रिय हो तो भी उसका सामना किए बिना हम उससे छुटकारा नहीं पा सकते। दुःख के सही स्वरूप का सामना कर लेना, दुःख के सही कारण को पहचान लेना, दुःख के कारण को दूर करने वाले साधन को जान लेना और उसका उपयोग करके दुःख-विमुक्ति का साक्षात्कार कर लेना, ये चारों सच्चाइयां परमार्थ-सत्य हैं, मंगल-सत्य हैं, कल्याण-सत्य हैं, धर्म-सत्य हैं , आर्य-सत्य हैं। इनका साक्षात्कार हुए बिना हमारी स्वस्ति नहीं, हमारी मुक्ति नहीं।

भगवान ने कितना ठीक कहा – "इन चार आर्य-सत्यों को जाने बिना तुम सब और मैं भी कितने कल्पों तक जन्म-मरण के भव-चक्र में उलझे ही रहे।"

इन चार आर्य-सत्यों का साक्षात्कार करके जब स्वयं मुक्त हुए और फिर कुछ एक अन्य लोगों को मुक्त हो सकने के लिए मार्ग-दर्शन कर चुके तो करुणचित्त से उन मुक्त हुए लोगों से भगवान ने यही कहा – "भिक्षुओ, जिन पर तुम्हारी अनुकंपा हो, जो तुम्हारे मित्र हों, बन्धु-बान्धव हों, जिन्हें समझो कि तुम्हारी बात सुनेंगे, उन्हें चार आर्य-सत्यों के यथार्थ ज्ञान की शिक्षा दो। उस यथार्थ ज्ञान में उनका प्रवेश करा दो, उस यथार्थ ज्ञान में उन्हें पूर्णतया प्रतिष्ठित कर दो।"

भगवान की यह मंगल वाणी हमारे लिए प्रेरणा का कारण बने। हम भी इन चारों आर्य सत्यों का साक्षात्कार करें और अपने जन्म-जन्म के दुःखों की जड़े उखाड़कर सर्वथा दुःख-विमुक्त हो जायँ, कृत-कृत्य हो जायँ, अमृत पद निर्वाण में प्रतिष्ठित हो जायँ।

अतः साधको आओ! चार आर्य-सत्यों के साक्षात्कार का अभ्यास करें!

---o---

मतलब की बात करें

भदन्त आनंद कौसल्यायनजी का विनोदी स्वभाव बहुत प्रसिद्ध है। निर्मल विनोदी वही होता है जिसके विनोद में कटुता नहीं होती। ऐसा विनोदी अपने आप

पर भी विनोद करके उन्मुक्त हँसी हँस सकता है। आनंदजी के ऐसे विनोदी स्वभाव से ही मेरा पुराना परिचय रहा है। इसलिए पिछले नासिक शिविर के बाद जब बंबई लौटने का प्रोग्राम बना और आनंदजी ने भी साथ चलने की इच्छा प्रकट की तो मन बड़ा प्रसन्न हुआ कि यह ३-४ घंटे की यात्रा अच्छी कटेगी, धर्म-चर्चा के साथ-साथ उनकी विनोदप्रियता यात्रा को सुखद बना देगी और सचमुच यही हुआ भी। किसी न किसी धर्म-प्रसंगवश वे अपने जीवन का कोई एक रोचक संस्मरण सुना देते जिससे कि देर तक मन प्रफुल्लित रहता। ऐसा ही एक संस्मरण सुनाते हुए उन्होंने बताया- "पुरानी बात है, कानपुर के किसी एक बड़े व्यापारी के यहां ठहरा था जो कि कट्टर आर्य-समाजी था और बड़ा ईश्वरभक्त भी था। रोज प्रातःकाल वह अपनी दुकान के सभी कर्मचारियों को घर पर एकत्र करता, हवन-यज्ञ, मंत्र-जाप और पाठ करने के बाद कुछ देर धर्म-चर्चा करता। यदि संयोगवश बाहर से कोई विद्वान आया होता तो उसी का धर्म प्रवचन रखा जाता, अन्यथा सेठजी स्वयं धर्म-उपदेश देते। उस दिन मुझे ही धर्म-प्रवचन के लिए कहा गया। उन दिनों मैं नया-नया बौद्ध भिक्षु बना था, इसलिए बड़ा जोश था। अतः उन ईश्वरवादियों के सामने ईश्वर के अस्तित्व का खंडन करने में मेरे पास जितने तर्क एकत्र थे, उन सबका प्रयोग किया। खूब जोश-खरोश से भरा हुआ अपना वह लंबा प्रवचन जब समाप्त किया तब सेठजी ने हाथ जोड़कर कहा– 'महाराज! यह तो हुआ, अब जरा मतलब की बात हो जाय, कुछ धर्म की बातें हो जायँ। "संस्मरण सुनाकर आनंदजी ने हँसते हुए कहा कि मुझपर घड़ों पानी पड़ गया। उस दिन मुझे जितना हतप्रभ होना पड़ा, उतना मैं कभी नहीं हुआ, मुझे लगा कि मेरी सारी ज्ञान-गरिमा, सारा तर्क-कौशल्य इस आदमी ने एक ही वाक्य में निरर्थक साबित कर दिया।"

सचमुच! धर्म का सार कोरी तर्कबाजी में कहां धरा है।

धर्म के क्षेत्र में बुद्धि का उपयोग अत्यंत आवश्यक है। अन्यथा धर्म अंध-श्रद्धा और मिथ्या-दृष्टियों का गढ़ बन जाय। लेकिन धर्म को केवल तर्क-जन्य बुद्धि-किलोल का ही रूप दे दें तो भी वह निष्प्राण हो जाय। जिस प्रकार तर्कों के बल पर ईश्वर के अस्तित्व का खंडन कर देना मात्र ही धर्म नहीं है, वैसे ही तर्कों के बल पर ईश्वर के अस्तित्व को सिद्ध कर देना मात्र भी धर्म नहीं है, और जहां धर्म नहीं है, वहां सचमुच मतलब की बात नहीं है। निरर्थक थूक बिलोवन है, जिसमें कोई सार नहीं, कोई नवनीत नहीं, जिसमें किसी का कोई हित-सुख नहीं, किसी का कोई मंगल-कल्याण नहीं, किसी को कोई प्राप्ति-उपलब्धि नहीं। ईश्वरवादियों और निरीश्वरवादियों के अथवा ईश्वरवादियों में भी त्रैत, द्वैत, अद्वैत, विशिष्टाद्वैत, द्वैताद्वैत-वादियों के या सगुण-साकार, सगुण-निराकार अथवा निर्गुण-निराकार वादियों के पारस्परिक वाद-विवादों में उलझकर किसी को क्या मिल जाने वाला है? हर दार्शनिक विवाद बुद्धि-किलोल है, दिमागी-द्वंद्व है। जिसमें हर जीतने वाला

अभिमान से अपना सिर सुजा लेता है और हर हारने वाला अपमान से अपना दिल जला लेता है। दोनों ही विग्रह बढ़ाने के कारण बनते हैं। विग्रह से आज तक किसी को कोई लाभ हुआ नहीं, कोई शांति मिली नहीं। अतः इस दिमागी कसरत की बात छोड़कर मतलब की बात करें, लाभ की बात करें, सही धर्म की बात करें।

एक रोगी के मतलब की बात यही है कि वह अपना सही रोग जाने, रोग का कारण जाने, इस तथ्य को जाने कि रोग का कारण दूर करके रोग-निवारण किया जा सकता है और फिर उस रोग-निवारण की विधि जानकर उसका प्रयोग करे और रोग-मुक्त बने। उस रोगी को भिन्न-भिन्न प्रकार की कलाबाजियों वाले सरकस का खेल दिखाया जाय तो थोड़ी देर के लिए वह अपने रोग को भूल भले जाय, परंतु इससे उसके रोग का निवारण तो नहीं ही हो सकता। इसी प्रकार नाना प्रकार के दुःखों से संतप्त प्राणी के सामने दार्शनिक वाद-विवादों की दिमागी कसरतों का खेल उसे कुछ देर के लिए चकित विस्मित भले बनाए रखे, परंतु इससे उसके दुःखों का निवारण तो नहीं ही हो सकता।

दुःखी व्यक्ति के मतलब की बात तो यह है कि वह अपने दुःख को जाने, अपने दुःख के मूलभूत कारण को जाने और उस कारण को दूर कर सकने वाले किसी साधन का प्रयोग करके स्वयं दुःख-मुक्त हो जाय। यदि इन दार्शनिक विवादों में हमारे दुःखों का कारण और उसके निराकरण का राज समाया हुआ होता तो हमारे लिए सचमुच यही करणीय था कि हम दार्शनिक विवाद द्वारा अपने दुःख का निवारण कर लेते, परंतु ऐसा तो होता नहीं। सिद्धांतों के क्षेत्र में चाहे कोई ईश्वरवादी है या निरीश्वरवादी, चाहे कोई द्वैतवादी है या अद्वैतवादी, चाहे कोई सगुण-साकारवादी है या निर्गुण-निराकारवादी, वास्तविकता के क्षेत्र में तो वह दुःख-संतप्त ही है। जन्म का दुःख, रोग का दुःख, बुढ़ापे का दुःख, मृत्यु का दुःख, अनचाही बातों के होने का दुःख, मनचाही बातों के न होने का दुःख, क्रोध का दुःख, ईर्ष्या का दुःख, दौर्मनस्यता का दुःख, भय का दुःख, राग-रंजन का दुःख, द्वेष-दूषण का दुःख, मोहविमूढ़न का दुःख, इस प्रकार के अनेकानेक दुःखों से कोई मुक्त नहीं। किसी संप्रदाय-विशेष में दीक्षित होने मात्र से कोई आज तक दुःख-विमुक्त हुआ नहीं। बौद्धिक स्तर पर किसी मान्यता विशेष को स्वीकार कर आज तक कोई दुःख-मुक्त हुआ नहीं। किसी भी मत-मतांतर का व्यक्ति क्यों न हो, किसी भी जाति वर्ग का व्यक्ति क्यों न हो, किसी भी समुदाय-संप्रदाय का व्यक्ति क्यों न हो, किसी भी देश-काल का व्यक्ति क्यों न हो? चाहे कोई व्यक्ति किसी देवी-देवता, ईश्वर-ब्रह्म के अस्तित्व को मानने वाला हो या न मानने वाला हो, यदि सचमुच दुःख-मुक्त होना है तो उसे अपने दुःखों को जानना ही होगा, अपने दुःखों के मूलभूत कारण को जानना ही होगा और किसी ठीक उपाय द्वारा उस कारण का उन्मूलन करना ही होगा। कारणों के उन्मूलन बिना दुःख का

उन्मूलन संभव नहीं है, किसी कपोल-कल्पना में मन टिका कर कुछ समय के लिए दु:ख भुलाया जा सकता है ठीक वैसे ही जैसे कि शराब की प्याली के नशे से कुछ देर के लिए गम-गलत किया जाता है। परंतु रोग की पीड़ा को भुला देना या दु:ख को भुला देना, रोग का इलाज नहीं, दु:ख का इलाज नहीं।

दु:ख के इलाज की खोज बुद्धिजन्य तर्क-जालों में नहीं, कल्पना-जन्य मन-मोदकों में नहीं, भावुकता-जन्य आवेश-उन्मादों में नहीं, जैसे ही दु:ख का साक्षात्कार करके उसे जान लिया, वैसे ही सच्चाई का धर्म-चक्र चल पड़ा। दु:ख को अपने सही स्वरूप में जान लेने वाला व्यक्ति दु:ख के कारण को समझने में देर नहीं लगाता। जहां दु:ख का मूलभूत कारण समझ में आया, वहीं उसके निवारण का रास्ता भी स्वत: समझ में आ जाता है और उस रास्ते को अपना कर समझदार आदमी दु:ख-मुक्त हो ही जाता है। समस्त दु:खों के आत्यंतिक निरोध स्वरूप परम पद निर्वाण को प्राप्त कर ही लेता है।

बात बड़ी सहज है, बड़ी सरल है, परंतु फिर भी अपनी-अपनी अंध-मान्यताओं के चिपकाव के कारण इस सरल सी सच्चाई को भी हम देखना नहीं चाहते, यथार्थ की ठोस धरती पर हम कदम रखना ही नहीं चाहते। उससे परे किसी कल्पना–लोक में उड़ते रहने की हमारी आदत पड़ गयी है। कटु कठोर सत्य से आंख मूंदे रहना और मिथ्या मधुर कल्पना में डूबे रहना, ऐसा स्वभाव हम जैसे सामान्य लोगों का सदा से ही रहता आया है।

२५०० वर्ष पहले उस विरक्त राजकुमार सिद्धार्थ को इन्हीं चार कल्याणकारी सच्चाइयों का बोध हुआ कि यह दु:ख है, यह दु:ख का कारण है, यह परम सुख निर्वाण है और यह परम सुख निर्वाण प्राप्त करने का उपाय है। जब उसने इन चारों सच्चाइयों को जानकर स्वयं दु:ख-विमुक्ति प्राप्त की तब उसका मन हुआ कि यह इतनी सहज सरल विधि अधिक से अधिक लोगों तक पहुँचनी ही चाहिए। परंतु फिर उसने सोचा कि यह आमोद-प्रमोद में प्रमत्त रहने वाली जनता, यह विवाद-विग्रह में उलझी रहने वाली जनता, यह कपोल कल्पनाओं में आसक्त रहने वाली जनता जीवन की इन कठोर परंतु कल्याणकारी सच्चाइयों की ओर कैसे अभिमुख होगी? ऐसी जनता को सही बात समझाने के लिए किया गया हर प्रयत्न व्यर्थ ही साबित होगा। परंतु फिर अगले ही क्षण लोक-मंगल का भाव लिए हुए मन में असीम करुणा का ज्वार जागा और अंतर की उस असीम करुणा ने कहा कि कितने लोग ऐसे हैं, जिनकी आंखों पर मोहमूढ़ता का, अविद्या का बड़ा झीना-सा ही पर्दा पड़ा हुआ है। विद्या के नन्हें से आघात से यह पर्दा विदीर्ण हो जायगा और उनका मोह दूर होगा। उन्हें सही बात समझते देर नहीं लगेगी। यदि उन्हें इस सत्य-ज्ञान से वंचित रखा गया तो बेचारे तबाह हो जायेंगे। अविद्या का यह झीना-सा पर्दा मैल चढ़ाकर और घना हो उठेगा ऐसे लोगों के लिए तो अमृत का

द्वार शीघ्र से शीघ्र खुल जाना ही चाहिए– इस करुणचेतना से ही उन्होंने यह मंगल उद्‌घोष किया –

अपारुता तेसं अमतस्स द्वारा।
ये सोतवन्तो मुञ्चन्तु सद्धं॥

(मज्झिमनिकाय १.२२९)

जो कान वाले हैं, श्रद्धा से सुनें! उनके लिए अमृत का द्वार खुला है।

उस महापुरुष के इस मंगल घोष का हम आज भी लाभ उठाएं। सचमुच अमृत का द्वार खुला है, कान वाले सुनें और आंख वाले देखें, समझदार लोग इसका लाभ उठाएं!

सच्चाई के रास्ते ही परम सत्य की उपलब्धि हो सकेगी। कल्पनाओं के स्वप्न-लोक से जागकर यथार्थ की ठोस धरती पर कदम रखकर चलते हुए ही अंतिम लक्ष्य तक पहुँच पायेंगे, दु:खों का सामना करके ही दु:खों की जड़ खोद पायेंगे।

तो, आओ, समझें कि हमारे वास्तविक दु:ख क्या हैं? आओ, समझें कि हमारे दु:खों का वास्तविक कारण क्या है? आओ, समझें कि इन दु:खों से अवश्य ही विमुक्ति प्राप्त हो सकती है। आओ, समझें कि इन दु:खों के वास्तविक कारण को दूर करके विमुक्ति तक पहुँचने का रास्ता कौन-सा है? उसे केवल समझकर ही न रह जायँ, बल्कि कदम-कदम उस पर चलते हुए और अपने दु:खों से थोड़ी-थोड़ी भी मुक्ति पाते हुए हम विमुक्ति के द्वार तक जा पहुँचें। सचमुच, विमुक्ति का द्वार हमारे लिए खुला ही है।

विमुक्ति के द्वार तक पहुँचने के लिए फिजूल बातों में न पड़ें, निरर्थक वाद-विवादों में न उलझें, कोरी कपोल-कल्पनाओं में न फँसें। मतलब की बात करें, धर्म की बात करें, सच्चाई की बात करें, दु:ख-निरोध की बात करें, बुराई और बुराई का कारण समझें। भलाई और भलाई का उपाय समझें। और बुराई दूर कर तथा भलाई प्राप्त कर, अपना हित-सुख साधें, अपना मंगल-कल्याण साधें!

(वर्ष २ बुद्धवर्ष २५१६ आश्विन पूर्णिमा दि. २२-१०-७२ अंक ४)

उद्बोधन : अनित्य-दर्शन

मेरे प्यारे साधक-साधिकाओ!

प्रज्ञा जागती रहे!

जीवन-जगत के अनित्य स्वभाव को सदा समझते रहें, यही कल्याणकारी प्रज्ञा है।

सभी व्यक्ति, वस्तुएं और स्थितियां अनित्य हैं, परिवर्तनशील हैं, जराधर्मा हैं, मरणधर्मा हैं। इनमें से कोई भी नित्य नहीं हैं, शाश्वत नहीं हैं, सदा एक जैसी बनी रहने वाली नहीं हैं। यह तथ्य अन्तर्मन में धर्म-प्रज्ञा द्वारा सदा प्रभासमान रहेगा तो किसी व्यक्ति वस्तु और स्थिति के प्रति गहरा चिपकाव हो ही नहीं पायगा। जहां चिपकाव नहीं, वहां दु:ख नहीं। चिपकाव नहीं रहेगा तो उन्हें प्राप्त करने के लिए तीव्र छटपटाहट का दु:ख कैसे होगा? चिपकाव नहीं रहेगा तो उनके प्राप्त हो जाने पर असंतुलित मन की उत्तेजना का दु:ख कैसे होगा? चिपकाव नहीं रहेगा तो उनके प्राप्त होकर छूट जाने पर विरह-वेदना की व्याकुलता का दु:ख कैसे होगा? इन त्रिविध तापों से सहज ही छुटकारा प्राप्त हो ही जायगा।

इसका अर्थ यह नहीं कि हमारा जीवन निष्प्राण, संवेदना-शून्य हो जाय, अकर्मण्य हो जाय। नहीं, नहीं, जीवन की सारी जिम्मेदारियों को हम समझदारीपूर्वक निभाएं; स्वस्थ शांत चित्त से कर्म में निरत रहें। परंतु कर्म करने के पूर्व, कर्म करते हुए और कर्म करने के पश्चात उसके अच्छे-बुरे फल को देखकर जो हम उत्तेजित रहते हैं, व्यग्र-व्याकुल रहते हैं, उससे बचें। शांतिपूर्वक, धैर्यपूर्वक प्रज्ञापूर्वक कर्मशील बने रहना सीखें। और यह तभी संभव होगा, जबकि हम अन्तर्मन में, स्वानुभूतियों के धरातल पर, इस तथ्य को सदैव जानते समझते रहेंगे कि सारे व्यक्ति, सारी वस्तुएं और सारी स्थितियां अनित्य हैं, परिवर्तनशील हैं, जराधर्मा हैं, मरणधर्मा हैं।

साधको! जीवन-जगत के अनित्य स्वभाव को समझते रहें, यही कल्याणकारिणी प्रज्ञा है, यही दु:ख-दर्शन है, यही मुक्ति पथ पर आरूढ़ होने के लिए प्रथम सुदृढ़ कदम है।

---o---

यह दुःख है (१)

यह दुःख है। यह है जीवन-जगत का कटु-कठोर सत्य, दुर्निवार सत्य, मुख मोड़कर इसे हटाया नहीं जा सकता, दूर भागकर इससे बचा नहीं जा सकता, आंख मूंदकर इसे भुलाया नहीं जा सकता, तर्क-वितर्क कर इसे झुठलाया नहीं जा सकता। दुःख के अस्तित्व को स्वीकारना, सत्य के अस्तित्व को स्वीकारना है। इस सत्य को स्वीकार कर ही हम इसके बाहर निकल सकने का कोई रास्ता ढूंढ़ सकते हैं; दुर्निवार होते हुए भी इसके निवारण का कोई रास्ता खोज सकते हैं।

इस सत्य को स्वीकार करने में क्या कठिनाई हो सकती है भला? कितना स्पष्ट है यह सत्य! कितना प्रत्यक्ष है यह सत्य! सभी प्राणियों के जीवन से पूर्णतया संबंधित। निखिल विश्व के सभी प्राणी कितने दुःखों से पीड़ित हैं? कोई उनके दुःखों की कल्पना तक नहीं कर सकता। असंख्य चक्रवालों के असंख्य ग्रह-उपग्रहों में बसने वाले अगणित प्राणियों के दुःखों की बात छोड़ भी दें, तो केवल अपनी इस धरती के ही प्राणियों की दुःखद स्थिति क्या हमारी कल्पना में समा सकती है? इस समय जबकि मैं यह पंक्तियां लिख रहा हूं, हमारे इस भूमण्डल पर ही न जाने कितने छोटे-छोटे जीव; अपने से बड़े जीवों के खूंरेज पंजों से नोचे जा रहे हैं, खूंखार जबड़ों में चबाए जा रहे हैं, निर्दय कंठों से निगले जा रहे हैं। केवल इसी एक क्षण इस प्रकार मरणांतक पीड़ा से तड़फड़ाते हुए इन असंख्य जीवों के दुःखों की क्या हम कोई गणना कर सकते हैं? क्या इनका हम कोई मापन कर सकते है?

इतर जीवों की बात छोड़ भी दें तो क्या केवल मनुष्य के दुःखों की भी कोई सीमा है? इस एक क्षण ही दुनिया भर की समस्त अस्पतालों में कितने रोगी अपने-अपने रोग की पीड़ाओं से कराह रहे है! कितने अपनी मृत्यु का निकटतम दर्शन करके भयसंकुल हो आर्त-नाद कर रहे हैं! इसी एक क्षण दुनिया भर में कितने लोग पत्थर-डंडे से, छुरी-चाकू से, तलवार-भाले से, गोला-बारूद से, बंब के छर्रों से अंग-अंग क्षत-विक्षत हो जाने के कारण चीख-चीत्कार कर रहे हैं! इसी क्षण कितने लोग आग में जलकर, पानी में डूबकर, भूचाल के कारण दब-पिसकर, प्राण छोड़ते हुए चीख-चिल्ला रहे हैं! कितनी माताएं अपने पुत्रों के वियोग में विलाप कर रही हैं! कितने अनाथ अपने मां-बाप के बिछोह में अश्रुमुख हो रहे हैं! कितनी विधवाएं अपने सुहाग के सिंदूर को रो रही हैं! कितने विधुर अपनी प्रेयसी की याद में बिसूर रहे हैं! कितने लोग धन-दौलत नष्ट हो जाने पर अथवा पद-प्रतिष्ठा से च्युत हो जाने पर अथवा मान-सम्मान के विध्वंस हो जाने पर

सुबक-सिसक रहे हैं! इन सब दुखियारों का केवल एक क्षण का रोदन-क्रंदन ही किसी एक जगह केन्द्रित-संगृहीत कर दिया जाय तो सुनने वाला स्वयं विक्षिप्त हो उठे। ऐसे दुःखभरे संसार में रहते हुए दुःख की सच्चाई को स्वीकारने में कहां कठिनाई हो सकती है?

हम यह नहीं कहना चाहते कि जीवन में केवल दुःख ही दुःख है, सुख का नामोनिशान भी नहीं है। परंतु जिसे हम सुख कहते हैं, वह ऐन्द्रिय-सुख क्या सचमुच सुख है? क्या उस ऊपर से चमकते हुए सुख के भीतर दुःख की काली छाया नहीं छिपी है? क्या उस हास-परिहास में भी रोदन-क्रंदन के बीज नहीं समाए हैं? क्या उस आमोद-प्रमोद में व्यथा-विलाप की सच्चाई नहीं छिपी है? कोई भी ऐन्द्रिय-सुख स्थायी नहीं, शाश्वत नहीं, ध्रुव नहीं, नित्य नहीं। ऐन्द्रिय जगत का कोई भी तो सुख ऐसा नहीं, जिसे कोई अनंतकाल तक एक-रस भोग सके। सभी प्रकार के सुख अनित्य हैं, परिवर्तनशील हैं, विपरिणामधर्मा हैं। जो अनित्य है वह दुःखद ही तो है। जिसे भी हमने सुखद मानकर उससे चिपकाव पैदा कर लिया, उसी के छूटने पर कितना गहरा सदमा होता है, जिसका की कोई माप नहीं और ऐन्द्रिय सुख कैसा भी क्यों न हो, उसका छूटना तो अनिवार्य है, अवश्यंभावी है। भोगने वाले के जीते जी उसके सुख नष्ट हो जाते हैं अथवा उन सुखों के नष्ट होने के पहले ही भोगने वाले के कूच का डंका बज उठता है। दोनों ही अवस्था में अलगाव पर उतना ही अधिक दुःखी होना निश्चित है।

सात तरह के सांसारिक सुखों की गिनती गिनाती हुई एक राजस्थानी लोक कहावत है:-

"पहलो सुख निरोगी काया, दूजो सुख घर में माया,
तीजो सुख सतवन्ती नारि, चौथो सुख पुत्र आज्ञाकारि,
पांचवो सुख राज में पासा, छठो सुख सुस्थाने वासा,
सातवों सुख विद्या फलदाता, यह सातों सुख रच्या विधाता।"

पता नहीं किस बेचारे विधाता को ऐसे' भंगुर सुख रचने का श्रेय दिया जाय अथवा दोष दिया जाय, परंतु यह तो सच ही है कि ये सातों सुख हम जीवन-जगत में देखते-सुनते और भोगते अवश्य हैं और साथ ही यह भी उतना ही सच है कि ये सभी सुख सदा टिकने वाले नहीं होते।

निरोगी से निरोगी काया वाला व्यक्ति भी किसी न किसी रोग का शिकार हो ही जाता है। माया किसकी स्थिर रही है भला? नारी अथवा नर की अटूट सच्चरित्रता की कौन गारंटी ले सकता है? पुत्र आज्ञाकारी ही रहेगा, ऐसा कहां होता है? राज्य-शासकों से भला किसकी सदा सांठ-गांठ बनी रहती है? और

विशेषकर जब बेचारे शासक ही स्वयं सदा नहीं बने रहते। अच्छे से अच्छा देश और निवासस्थान भी किसी न किसी कारण छोड़ना ही पड़ता है। सांसारिक विद्याएं सदैव फलदायी ही रहेंगी, ऐसा कौन कह सकता है? निरन्तर बदलने वाले युग में नित्य नई विद्याएं पनपती रहती हैं और पुरानी निकम्मी होती जाती हैं। ये सातों सुख नष्टधर्मा ही तो हैं, भंगुर स्वभाव वाले ही तो हैं, परिवर्तनशील प्रकृति वाले ही तो हैं। इनके अतिरिक्त और भी कोई ऐसा सांसारिक सुख नहीं है जो चिरस्थायी रहे। लोगों की दृष्टि में अधिक से अधिक सुखी दीखने वाला व्यक्ति और अपने आप को भी अधिक से अधिक सुखी मानने वाला व्यक्ति कितने दिन उस सुख को भोगता है! चार दिनों की चांदनी कितनी जल्द अंधेरी रात में परिवर्तित हो जाती है! इन परिवर्तनशील सुखों में जो व्यक्ति जितना ही लिप्त हो जाता है, वह अपने लिए उतना ही गहरा दुःख और विषाद पैदा कर लेता है। जो इनके परिवर्तनशील स्वभाव को समझता हुआ इनका त्याग करके इन्हें भोगता है, वह उतना ही इनके विपरिणाम के दुःख से बचता है। अतः सुख भोगते हुए यदि उनके अनित्य स्वभाव को समझते रहें, उनके भीतर समाए हुए दुःख का दर्शन करते रहें, तो उनके बदलने पर आने वाले दुःखों की पीड़ाओं से मुक्ति पा सकते हैं। सुख में भी दुःख का दर्शन करते रहना, सत्य का दर्शन करते रहना कल्याणकारी है। अतः यही धर्म-साधना है, यही दुःख-निरोध है।

एक व्यक्ति कहता है कि मैं बहुत सुखी हूं, शांत हूं, स्वस्थ हूं। जो दुःखी हों, अशांत हों, अस्वस्थ हों, वे साधना के लिए जायँ, वे धर्म अभ्यास के लिए जायँ। वह बेचारा अपनी भीतरी अशांति को जानता ही नहीं, समझता ही नहीं, स्वीकारता ही नहीं, तो उससे छुटकारा कैसे पायगा? प्रश्न हो सकता है कि जब कोई व्यक्ति दुःख को दुःख मानता ही नहीं, तो स्वभावतः वह सुखी ही है न। हमें क्या पड़ी है कि हम उसके सुख को भंग करके उसे दुःख-दर्शन कराएं और दुःखी बनाएं। बेचारा दुःख से अनजान रहकर जितनी देर भी सुख भोग रहा है, उसे क्यों न भोगने दें? सुनने में प्रश्न बड़ा माकूल लगता है, परंतु है दरअसल बड़ा नामाकूल। किसी के घर में आग लगी है, आग की लपटें धीरे-धीरे सारे मकान को निगलती हुई बढ़ रही हैं और मकान मालिक मकान के भीतर किसी वारुणी के गहरे नशे में सोया हुआ है। तो क्या यह नींद का सुख भोगते रहना उसके हित में होगा? नहीं, उस नींद के सुख से वह जितनी जल्दी जाग जाय, उतनी ही जल्दी उस आने वाले बड़े दुःख से छुटकारा पा सकेगा। वह आने वाला बड़ा दुःख जो कि धीरे-धीरे उसे चारों ओर से घेर रहा है और उसे लपेटता हुआ आगे बढ़ रहा है। दुःख की सच्चाई का दर्शन करने का मतलब है, जहां दुःख की आग उठने लगे, वहीं उसे देख समझकर बुझा दिया जाय, ताकि वह बढ़ने ही न पाए। जैसे ही कोई

व्यक्ति किसी भी प्रकार के सुख में आसक्त होकर पागल होने लगता है, वैसे ही वह अपने लिए आग की लपटें तैयार करता है, जिसका कि निरंतर बढ़ते रहना ही स्वभाव है। यदि सुख में समाए हुए इस आसक्ति रूपी दु:ख को वह देखता समझता रहे तो यह आग बढ़ने नहीं पाती और वह सुख भोगते हुए भी उत्तेजित, उद्वेलित नहीं होता और न ही उस सुख के छूटने पर दु:ख-कातर होता है, क्योंकि सुख के इस छूटने वाले स्वभाव को वह भली भांति समझे हुए है। अतः सुख का छूटना उसके लिए दु:ख का कारण नहीं बन सकता।

दु:ख का सामान्य साक्षात्कार तो सब को होता ही है। परंतु जहां दु:ख के आर्य सत्य-स्वरूप का साक्षात्कार हो, वहां हमारा कल्याण होता है। शारीरिक अथवा मानसिक दु:खों की पीड़ा में रोना-पीटना चीखना-चिल्लाना, कांदना-कराहना, दु:ख-सत्य का सामान्य दर्शन है। परंतु हँसी-ठट्ठों के गुलछर्रे में समाए हुए दु:ख का दर्शन ही तो आर्य-सत्य का दर्शन है। राग-रंग में छिपे हुए रोदन-क्रंदन का दर्शन ही तो आर्य-सत्य का दर्शन है। नाच-गान की महफिलों में प्रसुप्त विषाद-विलाप का दर्शन ही तो आर्य-सत्य का दर्शन है। सुरा-सुंदरी के सुरम्य परिवेश में अवगुंठित दु:ख-दैन्य का दर्शन ही तो आर्य-सत्य का दर्शन है। दु:ख-आर्य-सत्य का दर्शन केवल प्रत्यक्ष दु:खों का दर्शन नहीं है, बल्कि इन तथाकथित सुख-रूपी छद्मवेषधारी परोक्ष दु:खों का दर्शन ही आर्य-सत्य का कल्याणकारी दर्शन है। जब तक इन ऐन्द्रिय सुखों का सही स्वरूप नहीं देख पायेगें, तब तक तो इनसे लगाव-चिपकाव बना ही रहेगा, लिप्ति आसक्ति बनी ही रहेगी और यही तो हमारे दु:खों का मूलभूत कारण है। यदि दु:ख का सही निराकरण करना है तो दु:ख के इस सूक्ष्म, सही स्वरूप को देखना समझना ही होगा। इस तथ्य को अनुभूतियों के धरातल पर जानना ही होगा कि सारा भौतिक-मानसिक जगत अनित्य है, सारा ऐन्द्रिय और भव-जगत अनित्य है और जो अनित्य है वह दु:ख ही है, दु:ख ही है, दु:ख ही है।

इस सत्य को देखना-समझना प्रथम आर्य-सत्य को देखना समझना है। दु:ख रूपी प्रथम आर्य-सत्य का यह सही दर्शन ही हमें दु:ख-निवारण की ओर ले जा सकेगा, दु:ख-विमुक्ति की ओर ले जा सकेगा।

अतः आओ, दु:ख आर्य-सत्य के साक्षात्कार का अभ्यास करते रहें!

(वर्ष २ बुद्धवर्ष २५१६ कार्तिक पूर्णिमा दि. २१-११-७२ अंक ५)

उद्‍बोधन : यथाभूत ज्ञान-दर्शन

मेरे प्यारे साधक-साधिकाओ!

आओ सत्य-दर्शन करें!

उन परम सत्यदर्शी भगवान सम्यक संबुद्ध का उपकार मानें जिन्होंने कि न केवल स्वयं सत्य का दर्शन किया, बल्कि हम सब के लिए भी मार्ग-निर्देशन किया। न केवल स्वयं अमृतपान किया, बल्कि हम सब के लिए भी अमृत का द्वार खोल दिया। लोकीय सत्यों का दर्शन करके ही लोकोत्तर परम सत्य का दर्शन हो सकता है। रोग का सही दर्शन करके ही रोग-मुक्ति का दर्शन हो सकता है।

कोई चिकित्सक रोग के अस्तित्व को स्वीकार न कर रोगी को रोग-विहीन होने का भुलावा देता है तो उसकी हानि ही करता है। कोई चिकित्सक रोग की अतिरंजना करके रोगी को भयभीत करता है तो उसकी हानि करता है। परंतु एक उत्तम अनुभवी चिकित्सक रोगी की यथाभूत जानकारी प्राप्त कर उसके सत्य कारणों की खोज करता है और उनका निराकरण कर रोगी को रोग-मुक्त कर देता है। जब कोई व्यक्ति अनेक जन्मों की तप-साधना द्वारा पूर्णता प्राप्त करता है और सम्यक संबुद्ध बनता है तब वह यथार्थदर्शी एक महान वैद्य की भांति ही जन-उपकारी होता है। वह 'भिषक' वह 'भैषज्य गुरु' वह महान वैद्य किसी थोथी कल्पना में उलझता-उलझाता नहीं। वह तो 'यथाभूत ज्ञान-दर्शन' द्वारा परम सत्य का साक्षात्कार करता-कराता हुआ पीड़ित लोगों को पीड़ामुक्ति का कल्याणकारी मार्ग ही देता है।

जहां सत्य-दर्शन का गुण जागे, वहां मिथ्या भ्रांतियों से स्वतः छुटकारा मिल जाता है। सत्य स्थिति को स्वीकारते हैं तो आसानी से जान लेते हैं कि यह दुःख है। साथ-साथ यह भी जान लेते हैं कि यह क्यों हो रहा है? फिर यह भी जान लेते हैं कि इस दुःख से छुटकारा पाया जा सकता है और साथ-साथ यह भी जान लेते हैं कि इस छुटकारा पाने योग्य से कैसे छुटकारा पाया जा सकता है। बस, ये चारों बातें जान ली तो मतलब की सारी बातें जान ली। यदि दुःख जानकर दुःख-मुक्त हो गये तो जो करणीय था, वह सब कुछ कर लिया, कृत-कृत्य हो गए। जो प्राप्तव्य था वह प्राप्त कर लिया। कृतार्थ हो गए।

साधको! नमस्कार योग्य है वह सम्यक संबुद्ध, जिसने मतलब की ही बात की, फिजूल कल्पनाओं में नहीं उलझे। आओ, हम भी उन्हीं की भांति फिजूल

कल्पनाओं को छोड़कर, फिजूल विग्रह-विवादों को छोड़कर, दु:ख-विमुक्ति का यथार्थ लाभ हासिल करें। मंगल इसी में है! कल्याण इसी में है! भला इसी में है!

---o---

यह दु:ख है (२)

परिवर्तनशीलता ही प्रकृति का स्वभाव है। गतिमान रहना ही जगत का गुण है, बदलते रहना ही जीवन का धर्म है। और यही हमारा प्रमुख दु:ख है।

गर्भावस्था की अनवांछित स्थिति में महीनों पड़े रहने के बाद भी जब हम इस दुनिया में प्रवेश करते हैं तो यह सर्वथा बदली हुई नयी स्थिति हमारे लिए दु:खद ही होती है। हम रोते हुए ही जन्म लेते हैं; सचमुच जन्म लेना दु:ख ही है। जब हमारा स्वस्थ शरीर अस्वस्थता में बदल जाता है तब किसी भी रोग से रुग्ण क्यों न हों, हम दु:खी ही होते हैं; सचमुच बीमार होना दु:ख ही है। जब युवा अवस्था जीर्ण होकर बुढ़ापे में बदल जाती है तब हम दु:खी ही होते हैं, सचमुच बुढ़ापा दु:ख ही है। आयु पूरी होने पर जीवन, मृत्यु में बदल जाता है तब हम दु:खी ही होते हैं, सचमुच मृत्यु दु:ख ही तो है।

जन्म लेने का दु:ख, बीमार होने का दु:ख, जरा-जीर्ण होने का दु:ख, मरने का दु:ख, इन दु:खों से कोई भी तो नहीं बचा। सभी जीवित प्राणी इन दु:खों में से गुजरते ही हैं। यह सब दु:ख प्रकृति के बदलते रहने वाले स्वभाव के फलस्वरूप ही है।

यह बदलने वाला क्रम एक क्षण के लिए भी रुकता नहीं, प्रतिक्षण कालचक्र तीव्र गति से चलायमान ही रहता है। इस तीव्र काल-प्रवाह में कोई व्यक्ति, कोई वस्तु, कोई स्थिति दो क्षण एक जैसी रह ही नहीं सकती। भावी भव बनता रहता है, भव भूत बनता रहता है, अनागत वर्तमान बनता रहता है, वर्तमान अतीत बनता रहता है। जो नहीं है, वह पैदा होता रहता है, जो है वह नष्ट होता रहता है। परिवर्तनशीलता का यह क्रम अबाधगति से प्रवहमान रहता ही है। यही कारण है कि जिस वर्तमान को हम अपनी मुट्ठी में भींचकर रोक रखना चाहते हैं, वह हजार कोशिशों के बावजूद भी हमारे देखते-देखते हाथ से छूट ही जाता है। वर्तमान सुख को प्रिय मानकर हम जितने जोरों से उसे पकड़े रहना चाहते हैं, छूटने पर वह उतना ही दु:खदायी साबित होता है। इसी कारण जीवन भर प्रिय वस्तुओं के छूटने पर हम व्याकुल होते रहते हैं। प्रिय व्यक्तियों के बिछुड़ने पर विलाप करते रहते हैं। प्रिय स्थितियों के बदल जाने पर सिर धुनते रहते हैं, प्रिय का बिछोह होता ही रहता

है और इस बिछोह की पीड़ा हमें व्यथित करती ही रहती है, सचमुच प्रिय का वियोग बड़ा दुःखदायी होता है।

जैसे ही प्रिय स्थिति का वियोग होता है, वैसे ही अप्रिय स्थिति का संयोग होता है, जब हम प्रिय का वियोग रोक सकने में असमर्थ हैं तो अप्रिय का संयोग रोक सकने में भी सर्वथा असमर्थ ही हैं। हजार अवांछित होते हुए भी अप्रिय वस्तु, व्यक्ति अथवा स्थिति का संयोग होता ही रहता है। मनचाही बात होती नहीं, अनचाही बात हो जाती है। दोनों ही समानरूप से पीड़ाजनक हैं। जैसे प्रिय का वियोग, वैसे ही अप्रिय का संयोग भी सचमुच दुःखदायी ही होता है।

दुःख का एक और पीड़ाजनक स्वरूप है - असंतोष। हमें जिस वर्तमान स्थिति से असंतोष हो उठता है, वह हमें काटने लगती है। और यह असंतोष इसलिए पैदा होता है कि हमें उस स्थिति की कामना होने लगती है, जो कि विद्यमान नहीं है। भविष्य के प्रति उत्पन्न हुई कामना, वर्तमान के प्रति असंतोष पैदा करती रही है। अप्राप्त के प्रति जगी हुई कामना, प्राप्त के प्रति असंतोष पैदा करती रही है। यह कामना जितनी – जितनी तीव्र होगी, वर्तमान के प्रति हमारा असंतोष भी उतना-उतना ही तीव्र हो उठेगा। यह असंतोष जितना-जितना तीव्र होगा, दुःख भी उतना-उतना ही अधिक सताने वाला होगा। जब तक कामनापूर्ति न होगी, तब तक असंतोष रहेगा और जब तक असंतोष रहेगा, तब तक दुःख ही दुःख रहेगा, तो क्या कामना की पूर्ति कभी हो सकती है? धन-वैभव के अंबार लगे होने पर भी मेरी स्थिति मेरे चार भाइयों के बराबर की न रहे, बल्कि उससे जरा ऊंची होनी ही चाहिए। मेरी स्थिति मेरे धनी पड़ोसी के बराबर की न रहे, बल्कि उससे जरा ऊंची होनी ही चाहिए। मुझे अन्य सभी से कुछ तो ऊंचा होना ही चाहिए। इस कामना का कभी अंत नहीं आता। जहां देख लिया कि मेरा एक भाई या पड़ोसी या परिचित मुझसे ऊंचा उठ गया है, वहीं अपने सारे सुखों के ढेर फीके लगने लगते हैं और मैं ईर्ष्या के दुःख से तिलमिलाने लगता हूँ, मैं किसी से छोटा नहीं रह सकता। सबसे ऊंचा रहने की यह कामना, किसी से भी ओछा न रहने की यह कामना, क्या कभी पूरी हुई है? और कामनाओं की इस होड़भरी घुड़दौड़ के रहते हुए क्या कभी किसी का दुःख दूर हुआ है? सचमुच तृष्णा का पूरा न होना दुःख ही दुःख है।

यह तृष्णा जब बढ़ती है तो गहरी लालसा का रूप धारण कर लेती है। बड़ी आसक्ति होने लगती है, बड़ा चिपकाव होने लगता है; आसक्ति या चिपकाव जैसा कोई दुःख नहीं। सबसे बड़ा चिपकाव, सबसे बड़ी आसक्ति हमें अपने आप के साथ होने लगती है। "मैं-मेरे" के साथ होने लगती है, अस्मिताभाव के साथ,

अहंभाव के साथ, ममभाव के साथ यह जो अत्यंत सूक्ष्म परंतु दृढ़ आसक्ति पैदा हो जाती है, वही तो अत्यंत सूक्ष्म अवस्था में हमारे भीतर समायी हुई गहरी पीड़ा है। यह "मैं-मेरे" का भाव किसके प्रति होता है? या तो इस शरीर-प्रपंच के प्रति अथवा इस चित्त-प्रपंच के प्रति इन्हें ही "मैं-मेरा" मानकर हम व्याकुल होते रहते हैं। इस भौतिक शरीर-प्रपंच को ही पुराने जमाने की भाषा में रूप-स्कंध कहते थे। जानने, पहचानने, संवेदनशील होने और प्रतिक्रिया करने वाले चित्त के इन चारों समूहों को ही नाम-स्कंध कहते थे। एक रूप-स्कंध और चार नाम-स्कंध, इन पांचों के मिलने से जो जीवनधारा बह रही है, उसे ही पंच-स्कंध कहा जाता था। तन और मन की इस पंचस्कंधी जीवन-धारा को ही तो हम 'मैं' और 'मेरा' मानते रहते हैं। इन पांचों के प्रति जो आसक्ति हो जाती है, उसे ही उन दिनों उपादान कहते थे। उपादान का अर्थ आसक्ति ही है; जहां आसक्ति है, वहां दुःख है, अतः पंचस्कंधों के प्रति हमारा यह उपादान दुःख ही है। अन्तर्मुखी होकर जब अपने ही भीतर की गहराइयों में सत्य का स्वयं दर्शन करने लगेंगे तब एक बात और स्पष्ट होने लगेगी कि हमारे उपादान के कारण ही इन रूप और नाम स्कंधों का प्रतिक्षण प्रजनन हो रहा है। अतः चाहे यह कहें कि नाम और रूप के पंच-स्कंधों के प्रति हमारा उपादान अर्थात चिपकाव ही दुःख है अथवा यह कहें कि हमारे उपादान के फलस्वरूप उत्पन्न होते रहने वाली यह पंचस्कंधमयी जीवनधारा ही दुःख है, बात एक ही है। जहां तन और मन के प्रति आसक्ति है, वहां दुःख है। जहां आसक्ति से उत्पन्न होते रहने वाला तन और मन है वहां दुःख ही है।

अपने शरीर को अथवा अपनी चित्तधारा को 'मैं-मेरा' मानकर जब हम इसके साथ चिपकाव करने लगते हैं तब इन दोनों के अनित्य स्वभाव के कारण हम सदा भविष्य के प्रति आतंकित, आशंकित ही रहते हैं। कल 'मुझे' क्या हो जायगा? यह जो 'मेरा' है इसे कल क्या हो जायगा? कहीं यह 'मैं' और यह 'मेरा' कल नष्ट तो नहीं हो जायगा? यह आशंका हमें चिंतित, भयभीत बनाए रखती है। भविष्य में क्या होगा, कुछ भी तो निश्चित नहीं है? यदि कुछ निश्चित है तो केवल मृत्यु ही है। मृत्यु आने पर इस 'मैं' और 'मेरे' का क्या होगा? इस प्रकार अपने आप को सदा अरक्षित महसूस करते हुए हम भयभीत ही रहते हैं। जन्म-जन्मांतरों तक बहती रहने वाली शरीर और चित्त-धारा की यह भयावह अनित्य रचना दुःख ही है और इसके प्रति आसक्त हो उठना तो सचमुच घोर दुःख ही है।

अनेक जीवनों की बात छोड़ भी दें तो इस एक जन्म का आरंभ ही यानी जन्म ही दुःख से शुरू होता है। इसका मध्य भी व्याधि और जरा लिए हुए दुःख ही है। इसका अंत भी मृत्यु के रूप में दुःख ही है और जीवन भर दुःखों का प्रवाह

चलते ही रहता है। जब किसी पीड़ा से मन संतप्त हो उठता है, तब शोक से भरा हुआ दुःख होता है। जब यह शोक बढ़ता है और असह्य हो उठता है तब रोदन-क्रंदन रूपी **परिदेव** का दुःख होता है। शरीर की पीड़ा का दुःख तो दुःख है ही, इससे उत्पन्न होने वाला चित्त का उत्पीड़न भी **दौर्मनस्यता** का दुःख है। जब अपने शरीर या मन के दुःखों को प्रकट नहीं कर सकते और भीतर-भीतर धुटन से भर उठते हैं तब यह **उपायास** का दुःख और भी भयंकर होता है। इस प्रकार दुःख ही दुःख का समुंदर लहराता रहता है– चारों ओर जन्म का दुःख, रोग का दुःख, बुढ़ापे का दुःख, मृत्यु का दुःख, दुःख आने का दुःख, सुख जाने का दुःख, भाव को सुरक्षित रखने की चिंताओं का दुःख, अभाव के खोखलेपन का दुःख, अपूर्णता का दुःख, क्रोध का दुःख, ईर्ष्या का दुःख, द्वेष का दुःख, अपमान का दुःख, निराशा का दुःख, भविष्य की अशंका का दुःख, अतीत की यादों का दुःख, वर्तमान की अतृप्ति-असंतुष्टि का दुःख, धनवान के लिए अस्वस्थता का दुःख, स्वस्थ के लिए निर्धनता का दुःख, इत्यादि इत्यादि कितने दुःख लगे हैं हमारे साथ! कोई है जो इन्हें गिनकर बता सके?

भिन्न-भिन्न प्रकार के ये दुनियावी दुःख सभी व्यक्तियों को कमोवेश भुगतने ही पड़ते है; जो अपने आपको खूब स्वस्थ सुखी मान रहा है, वह वस्तुतः दुःखी होते हुए भी दुःख को स्वीकार करना नहीं चाहता, दुःख की ओर झांककर देखना भी नहीं चाहता। शुतुर्मुर्ग की भांति सच्चाई से दूर रहना चाहता है और अपने आप को झूठ की प्रवंचना में भरमाए रखना चाहता है। मनुष्य एक सामाजिक प्राणी है सुखी से सुखी व्यक्ति भी अकेला रह नहीं सकता। अपने आप को सुखी कहने वाला वह धनवान व्यक्ति भी चारों ओर निर्धनता से पीड़ित लोगों के समाज में ही रहता है, जहां कि अन्य लोग उससे ईर्ष्या करते हैं, द्वेष करते हैं, घृणा करते हैं, उसे आशंकित-आतंकित बनाए रखते हैं। वर्ग संघर्ष होता है अथवा होने का भय बना रहता है। रक्त-विप्लव होता है अथवा होने की आशंका बनी रहती है। ऐसे उत्तेजित-उद्वेलित वातावरण को जो सुख मानता है, वह अपने आप को धोखा ही दे रहा है। वस्तुतः वह भी दुःखी तो है ही।

सच यह है कि दुःख से कोई नहीं बचा। चाहे कोई किसी भी संप्रदाय-समाज, जाति-वर्ण, रंग-रूप, कद-आकार, वेश-भूषा, बोली-भाषा अथवा देश-काल का व्यक्ति क्यों न हो, चाहे कोई राजा हो या रंक, पढ़ा-लिखा हो या अनपढ़, तथाकथित आस्तिक हो अथवा नास्तिक; उपरोक्त प्रकार के दुःखों का शिकार तो होते ही रहता है। यह समस्या सार्वजनीन है, सार्वकालिक है, सार्वदेशिक– है अतः इसका समाधान भी सार्वजनीन, सार्वकालिक और

सार्वदेशिक ही होना चाहिए। ऐसा होना चाहिए जिसे स्वीकार करने केलिए अथवा जिसका प्रयोग करने केलिए किसी संप्रदाय-विशेष में बँध जाना अनिवार्य न हो। इस सार्वजनीन रोग का ऐसा इलाज होना चाहिए, जो सबके लिए समान रूप से कल्याणकारी भी हो और ग्रहण करने योग्य भी हो।

ऐसे संप्रदाय-विहीन, संकीर्णता-विहीन रास्ते की खोज के लिए हमें सारे अंधविश्वासों से, लुभावने चमत्कारों और भ्रामक कल्पनाओं से बाहर निकल कर वैज्ञानिक ढंग से सत्य की स्वयं खोज करनी होगी, सच्चाई का स्वयं साक्षात्कार करना होगा। दुःख की सच्चाई का ही नहीं, बल्कि दुःख के सभी कारणों की सच्चाई का भी। तदनन्तर उन कारणों को दूर करने का कोई वैज्ञानिक उपाय जानकर उसका उपयोग करते हुए इन कारणों का स्वयं ही निराकरण करना होगा तभी दुःख का भी निराकरण हो सकेगा। तभी सच्ची सुख-शांति प्राप्त हो सकेगी, तभी सच्चा मंगल उपलब्ध हो सकेगा।

(वर्ष २ बुद्धवर्ष २५१६ मार्गशीर्ष पूर्णिमा दि. २०-१२-७२ अंक ६)

उद्बोधन : दुःख-दर्शन

मेरे प्यारे साधक-साधिकाओ!

आओ, प्रज्ञापूर्वक दु:ख-दर्शन करते रहें!

दु:ख दो प्रकार के होते हैं– शारीरिक और मानसिक। यद्यपि दोनों ही अवस्था में दु:ख की अनुभूति तो मन को ही होती है, परंतु पहले का आधार अस्वस्थ शरीर है, जबकि दूसरे का अस्वस्थ मन।

यह शारीरिक और मानसिक दु:ख भी दो प्रकार के होते हैं;–

सामिष और निरामिष।

सामान्य शारीरिक और मानसिक दु:ख सामिष ही हैं क्योंकि अज्ञान अवस्था में इन्हें भोगते हुए हम अपने आपको भवचक्र में ही अधिक फँसाते रहते हैं। शील पालन करने के लिए, समाधि स्थिर करने के लिए, प्रज्ञा पुष्ट करने के लिए और लोक-सेवा करने के लिए; जिन दु:खों को हम हँसते-मुस्कराते हुए सहन करते हैं, वे निरामिष हैं, क्योंकि वे हमें भवचक्र में उलझाने वाले नहीं हैं।

सभी शारीरिक और मानसिक दु:ख निरामिष बन सकते हैं। यदि हम उन्हें ज्ञान से देखते हैं, उनके अनित्य स्वभाव को समझकर उनके प्रति दुराव पैदा नहीं करते, प्रज्ञा में स्थित होकर समत्व बुद्धि बनाए रखते हैं, तब ये दु:ख उलझाने वाले नहीं रहते; स्वत: निरामिष हो जाते हैं।

अत: साधको आओ! सभी दु:खों को प्रज्ञा-दृष्टि से देखना सीखें, यही मंगलमय दु:ख दर्शन है।

---o---

यह दुःख है (३)

आओ! इस दु:ख कथा पर ही थोड़ी सी चर्चा और कर लें। इस दु:ख सागर का ही थोड़ा सा मंथन और कर लें और देखें कि कैसा अमृत निकलता है इसमें से।

दुःख तीन प्रकार के होते हैं–

१. पहले को कहते हैं– दुक्ख-दु:ख यानी ऐसा स्थूल दु:ख जो स्वत: स्पष्ट है, प्रत्यक्ष है; जिसका दर्शन करने में किसी को कहीं कोई कठिनाई नहीं होती। जैसे किसी को चोट लग जाय और वह पीड़ा से कराह उठे, किसी का कोई प्यारा मर जाय और वह पीड़ा से कराह उठे, किसी के पास खाने के लिए दो मुट्ठी अन्न

भी न हो, पीने के लिए दो घूंट पानी भी न हो, ओढ़ने के लिए दो हाथ वस्त्र भी न हो, सिर छिपाने के लिए दो गज छप्पर भी न हो, रोग दूर करने केलिए दो खुराक दवा भी न हो, इस प्रकार अभाव का मारा कोई व्यक्ति पीड़ा से कराह उठे तो यह दुक्ख-दुःख ही है। यानी प्रत्यक्ष दुःख ही है, स्थूल दुःख ही है।

२. दूसरे प्रकार के दुःख को कहते है– विपरिणाम दुःख। विपरिणाम माने परिवर्तन, ऐसा दुःख जो प्रकृति के परिवर्तनशील स्वभाव के कारण आता ही रहता है। भले ही हम उसे ठीक समय पर देख न पाएं, समझ न पाएं, पहचान न पायें। अक्सर यही होता है कि जब हम किसी ऐन्द्रिय सुख के उल्लास में डूबे होते हैं तब उस समय यह समझ भी नहीं पाते कि यह सुख अनित्य है, अस्थायी है, देर-सबेर बदल जाने ही वाला है। कभी बौद्धिक स्तर पर इस सच्चाई को मान भी लें तो भी व्यावहारिक क्षेत्र में कोई अन्तर नहीं पड़ता और इसीलिए उस सुख में इस कदर डूब जाते हैं। परंतु समय पाकर परिस्थितियां बदल जाती हैं, अनुकूल स्थिति सर्वथा प्रतिकूल बन जाती है। मनचाही सर्वथा अनचाही बन जाती हैं तो वही सुख दुःख में पलट जाता है और परिणाम स्वरूप रोना आता है। किसी भी सुखद स्थिति के प्रति यह जो हमारा अंधा चिपकाव है, यही हमारे लिए बड़ा भयंकर दुःख है। सुखद अवस्था में यह चिपकावरूपी दुःख हमें प्रत्यक्ष दीखता नहीं। सुख के गर्भ में यह जो दुःख का बीज समाया हुआ है, यह प्रत्यक्ष नहीं है, परोक्ष है, अपने चेहरे पर सुख का घूंघट डाले हुए है। हमें बार-बार यह अवगुंठन, यह घूंघट, यह पर्दा ही दीखता है; इस नकाब के पीछे छिपा हुआ दुःख का वास्तविक चेहरा हम देख ही नहीं पाते। हर सुखद स्थिति में छिपे हुए इस विपरिणामरूपी दुःख का दर्शन करते रहें तो प्रथम आर्य-सत्य का दर्शन करते रहें। हर अनुकूल परिस्थिति के समय उनके बदल जाने की सच्चाई भी हमारी आंखों के सामने रहे तो हम जीवन के कठोर सत्य का सही दर्शन करने वाले बने रहे।

दो भाइयों में बड़ा गहरा प्यार है। पति-पत्नी दृढ़ प्रेम-शृंखला में बँधे हुए हैं। दो मित्रों की एक दांत से टूटती है लेकिन समय बदलता है– किसी के चुगली खा देने पर, किसी से सचमुच कोई भूल हो जाने पर, विचारों में गहरा मतभेद हो जाने पर अथवा निजी स्वार्थों में टकराव होने लगने पर दोनों का प्यार, दोनों का प्रणय, दोनों का स्नेह-संबंध टूक-टूक हो जाता है। सहोदर भाई तोते की तरह आंखे बदल लेता है, वफादार पत्नी बेवफाई का बर्ताव करने लगती है, प्यार के तराने गाने वाला पति घृणाभरी झिड़कियां सुनाने लगता है, आज्ञाकारी पुत्र अवहेलना व तिरस्कार का रुख अपना लेता है, परम हितैषी अंतरंग मित्र पग-पग पर धोखा देने लगता है। जिनके सौहार्द की लोग चर्चा किया करते थे, उन्हें अब इस प्रकार कुत्ते-बिल्ली की तरह लड़ते देखकर तालियां पीटी जाती हैं।

कोई व्यक्ति बहुत बडी धन-संपदा का अधिपति बन जाता है, बड़े-बड़े औद्योगिक प्रतिष्ठानों का मालिक, हजारों कामगारों पर हुकूमत चलाता है, लक्ष्मीपति होने के कारण समाज की विभिन्न संस्थाओं में गौरवमय पद प्राप्त करता है। राज्य की ओर से उपाधियां प्राप्त करता है, प्रतिष्ठित होता है। कोई एक व्यक्ति किसी देश का एक-छत्र शासक बन जाता है। सार्वभौम प्रभुसत्ताधारी! उसकी जुबान ही देश का कानून बन जाती है। दोनों व्यक्ति अपनी-अपनी प्रभुता के मद में चूर रहते हैं। उन्हें यह भान भी नहीं रहता कि यह सब कुछ पलट जायगा। परंतु समय आता है तो सब कुछ पलट ही जाता है; बड़े से बड़ा धनकुबेर दर-दर का भिखारी बन जाता है। कल तक जिसकी नाकों से प्रभुसत्ता के मद का धुंआ निकला करता था, वह आज दीन-हीन होकर औरों के सामने गिड़गिड़ाता और दया की भीख मांगता नजर आता है।

किसी का प्यार टूटता है, किसी का स्नेह–संबंध विच्छेद होता है, किसी की मैत्री भंग होती है, किसी का धन-वैभव नष्ट होता है, किसी की प्रभुसत्ता मटियामेट होती है तो वह असीम पीड़ा का ही अनुभव करता है यही विपरिणाम दुःख है, यही परिवर्तनशीलता का दुःख है, यही अप्रत्यक्ष दुःख है, परोक्ष दुःख है, छिपा हुआ सूक्ष्म दुःख है, जो कि प्यार की रंगरेलियों के समय हमें प्रत्यक्ष नहीं दीखता, जो कि प्रभुसत्ता के मदहोश माहौल में हमें साफ नजर नहीं आता। आसक्ति से भरे हुए प्यार के समय और धनसत्ता या राजसत्ता की मादकता के समय यदि हमें यह विपरिणाम दुःख दीखता रहे तो हम उस स्थिति से मदांध ही नहीं हो पायें।

प्रकृति के विपरिणाम स्वभाव को न समझना ही अपने आप में एक बड़ा दुःख है। कालचक्र की परिवर्तनशील गति को न समझना ही अपने आप में एक बड़ा दुःख है। कोई भी स्थिति सदा एक जैसी नहीं रह सकती, यह सच्चाई हमारी आंखों से ओझल रहती है, इसीलिए हम जिस किसी स्थिति में उलझ जायँ, उसी में गहरे डूब जाते हैं, चाहे वह सुखद हो अथवा दुःखद। उस समय तो उसे हम नित्य शाश्वत, ध्रुव मानकर ही जीवन व्यवहार करने लगते हैं; जब सुख आता है तो उसमें इतने पागल हो जाते हैं मानों हम इसे सदा इसी प्रकार भोगते रहेंगे। इसी प्रकार जब दुःख आता है तब हम इस कदर आकुल-व्याकुल हो उठते हैं मानों यह सदा ऐसा ही बना रहेगा। विपरिणाम धर्म की सच्चाई को भली प्रकार न समझने के कारण ही पहली अवस्था में हम अपने भविष्य के लिए बड़ा गहरा दुःख तैयार करने में लग जाते हैं और दूसरी अवस्था में अपने वर्तमान दुःख को कई गुना अधिक संवर्धित करने में लग जाते हैं। दोनों ही अवस्था में दुःख का पोषण करते हैं; यही विपरिणाम दुःख है।

३. तीसरे प्रकार का दुःख है – संस्कार-दुःख। संस्कार माने चित्त की चेतना से उत्पन्न होने वाले सारे कर्म और उन कर्मों से उत्पन्न होने वाली सारी वस्तुएं, सारे व्यक्ति, सारी स्थितियां; संस्कारजन्य कर्मों के फलों से हमारा कहीं छुटकारा नहीं। चाहे समुद्र की तह में चले जायँ, चाहे पर्वत की गुहाओं में जा छिपें, चाहे अंतरिक्ष की विशालता में खो जाना चाहें, परंतु संस्कारजन्य कर्म-फल तो जहां जायँ जहां जन्में, इस जीवनधारा के साथ लगे ही रहेंगे। संस्कार-दुःख के अंतर्गत एक प्रकार से सारे दुःख आ गए। जो कुछ भी, किन्हीं कारणों से उत्पन्न होता हैं, वह संस्कार के अंतर्गत ही आता है और जो कारणों से उत्पन्न होता है, उसमें परिवर्तन आते रहना निश्चित है। अत्यंत सूक्ष्म अवस्था में यह परिवर्तन सर्वदा आ ही रहे हैं। इन्हीं संस्कारजन्य परिर्वतनों के कारण चित्त और शरीर की मिली-जुली यह जीवनधारा प्रतिक्षण प्रवहमान रहती है। मरने के बाद भी मृत शरीर एक ओर विशृंखलित होते रहता है, दूसरी ओर चित्तधारा इस मृत शरीर से च्युत होकर किसी नए शरीरस्कंध से जा जुड़ती है और उसके निर्माण में सहयोग देती है तथा उसके साथ एक नया जीवन-प्रवाह आरंभ कर देती है। इस प्रकार एक के बाद एक जीवनधारा का प्रवाह अबाधरूप से चलता ही रहता है; एक क्षण केलिए भी विश्राम करने की, शांत होकर रुक जाने की कोई संभावना ही नहीं है। मानों सब कुछ किसी ऐसे भयंकर चक्रवात में उद्वेलित हो उठा है, जो कहीं रुकने का नाम भी नहीं लेता। जीवन-प्रवाह की यह निर्वाध बेचैनी बहुत सूक्ष्मता से ही समझी जा सकती है, दुःख दुःख तो बड़ी आसानी से समझा जा सकता है; विपरिणाम दुःख सामान्य चिंतन-मनन द्वारा समझा जा सकता है। परंतु संस्कारजन्य दुःख को समझने-जानने के लिए सच्चाई की अतल गहराइयों में उतरना पड़ता है। अतः यह दुःख तीनों प्रकार के दुःखों में सबसे अधिक सूक्ष्म है।

जब हम विपश्यना साधना करते हुए अंतर्मुखी होकर आत्म-निरीक्षण की गहराइयों में उतरते हैं तब तीनों ही प्रकार के दुःखों का साक्षात्कार होता है। सर्वप्रथम शरीर के भिन्न-भिन्न अंगों में स्थूल-स्थूल पीड़ा का, भारीपन का, गर्मी का, तनाव का, खिंचाव आदि का जो दुःख-दर्शन होता है, वह प्रथम श्रेणी का दुक्ख-दुःख ही है। धीरे-धीरे यह दुःखद संवेदना दूर होती जाती है, शरीर में हल्कापन आता है, शीतलता की अनुभूति होती है, तन और मन सुखद संवेदना के पुलकरोमांच से सिहर उठता है, विपश्यना का साधक सावधान हो तो उसके विपरिणाम स्वभाव को देखता-समझता है; उस सुख में भी दुःख का बीज उसे स्पष्ट दीखता है। गहरे से गहरे ध्यान का आनंद भी उसे आसक्त नहीं कर सकता। वह जानता रहता है कि अनित्य सुख के प्रति बँध जाना ही तो विपरिणाम दुःख है। तदनन्तर साधक और गहराइयों में उतर कर भवंग प्रवाह का दर्शन कर,

सूक्ष्मतम संस्कार-दुःख का भी साक्षात्कार करता है। इस प्रकार दुःख के स्थूल, सूक्ष्म, सूक्ष्मतम तीनों स्वरूपों का स्वयं साक्षात्कार कर लेता है और यों दुःख-निरोध की ओर बढ़ने का मार्ग प्रशस्त कर लेता है।

परंतु कोई-कोई भाई दुःख-दर्शन की इस सच्चाई से घबराते हैं, वे तर्क करते हैं 'यह सारा दृष्टिकोण ही गलत है। हम जीवन के कृष्ण पक्ष पर ही इतना जोर क्यों दें? क्यों न शुक्ल पक्ष को पूरा महत्त्व दें, जिससे कि सुख के नजदीक पहुँचें। यदि मन में किसी बात का चिंतन करना ही है, किसी कल्पना का रंग चढ़ाना ही है तो सुखद कल्पना का रंग क्यों न चढ़ाएं? क्यों न अपने आपको सुखी मान कर अपरिमित आनंद ही आनंद की कल्पना करते रहें? दुःख-दर्शन ऋणात्मक दृष्टिकोण है, निषेधात्मक (निगेटिव) दृष्टिकोण है, जबकि सुख का चिंतन ही धनात्मक दृष्टिकोण है, विधेयात्मक (पोजिटिव) दृष्टिकोण है।"

सुनने में यह बात बड़ी तर्कसंगत लगती है परंतु वास्तविकता इससे परे है। यदि सुख के चिंतन मात्र से, सुख की कोरी कल्पना में मन को लपेट लेने मात्र से हमें वास्तविक सुख प्राप्त हो जाय तो हमें इन भाइयों के इस सुझाव को अवश्य ग्रहण कर लेना चाहिए। परंतु ऐसा तो होता नहीं; किसी के सिर के बालों में अथवा कपड़ों में आग लग जाय और वह लगे इस बात की कल्पना करने कि मैं आग से जल नहीं रहा हूं, मैं बड़ा सुखी हूं, बड़ा शांत हूं, शीतल हूं तो उसकी यह सुखद कल्पना उसे आग से जलने की पीड़ा से मुक्त नहीं कर सकती। यदि उसे सचमुच पीड़ा-मुक्त होना है तो सच्चाई का दर्शन करना होगा, सच्चाई को स्वीकार करना होगा। जलती हुई आग को देख समझकर शीघ्र से शीघ्र उसे बुझाने का हर संभव प्रयत्न करना होगा। समस्या के समाधान के लिए समस्या से पलायन नहीं किया जाता। समस्या का डटकर सामना करना होता है, उसकी गहराइयों में उतरना होता है, समस्या की गहराइयों में ही समस्या का रहस्य समाया होता है, समस्या का समाधान समाया होता है, दुःख की गहराइयों में ही दुःख का कारण समाया होता है दुःख का निवारण समाया होता है। अतः दुःख से पलायन न करें, उससे दूर न भागें, उससे मुख न मोड़ें। किसी छलना या भुलावे में पड़कर उससे छुटकारा नहीं पा सकते, किसी प्रकार के आत्म-सम्मोहन द्वारा उससे मुक्त नहीं हो सकते, दुःख का सामना करने के लिए गहराइयों से दुःख का सम्यक दर्शन करना ही होगा।

हम यह नहीं कहना चाहते कि व्यवहार जगत में सुख के लिए कहीं कोई स्थान है ही नहीं। हम नहीं कहना चाहते कि जब सुख आए तब भी उसे दुःख मानकर व्याकुल व्यथित रहने लगे। लेकिन जो व्यक्ति सुख सत्ता को भोगते हुए उसमें लिप्त-लुब्ध नहीं हो जाता, उसके अनित्य स्वभाव को समझता हुआ, उसके

भीतर समाए हुए विपरिणाम-दु:ख को जानता रहता है, वह जीवन जगत की सच्चाई का दर्शन करता है और इस प्रकार अपने आपको भविष्य में आने वाली दु:ख की घोर पीड़ाओं से बचाता है। इस विपरिणाम-दु:ख का दर्शन उसे इस योग्य बनाता है कि जीवन में जब कभी परिवर्तन आए, कभी कोई अपना मुँह मोड़ ले, कोई अपनी आंखे तरेर ले, कोई दुश्मनों का सा व्यवहार करने लगे, कभी जीवन का समस्त विलास वैभव नष्ट हो जाय, कभी जीवन की सारी ऐश्वर्य प्रभुता छिन्न-भिन्न हो जाय तो वह असीम दु:ख से कराह न उठे क्योंकि वह इस सच्चाई को जानते समझते हुए ही चल रहा है कि सारी प्रिय वस्तुएं, सारे प्रिय व्यक्ति, सारी प्रिय स्थितियां बदल जाने वाली ही हैं, नष्ट हो जाने वाली ही हैं। हमारे देखते-देखते वे सब नष्ट हो जायेंगी अथवा उनके रहते-रहते हमारा कूच का डंका बज जायगा, जुदाई आने ही वाली हैं। जुदाई का दु:ख अवश्यंभावी है, परंतु यह दु:ख हमारे सिर पर सवार होकर हमारा मानसिक संतुलन न बिगाड़ दे, इसीलिए प्रत्येक सुखद अवस्था में इस विपरिणाम दु:ख का दर्शन करते रहना, सच्चाई का दर्शन करना है, धर्म का दर्शन करना है, दु:ख-निरोध का दर्शन करना है, सच्चे सुख का दर्शन करना है।

गहरी तृष्णाओं के चिपकाव में चिपके हुए, असीम आसक्तियों के दृढ़ बंधनों में बंधे हुए, अंध अहंभाव के गंदे कीचड़ में आकण्ठ डूबे हुए हम वस्तुत: दु:ख की चक्की में ही पिसते रहते हैं, फिर भी अपने दु:खों को जानते नहीं, समझते नहीं, स्वीकारते नहीं, ऐसी अवस्था में हम दु:ख के बाहर कैसे निकल पायेंगे? दु:ख-दर्शन ही दु:ख विमुक्ति की ओर ले जाने वाला पहला ठोस कदम है; अत: आओ, दु:ख-दर्शन करें। विपश्यना साधना की गहराइयों में उतर कर अपने स्थूल-सूक्ष्म सभी दु:खों को स्वयं निरखें, परखें; यही मंगल-पथ का शुभारंभ है।

(वर्ष २ बुद्धवर्ष २५१६ पौष पूर्णिमा दि. १८-१-७३ अंक ७)

उद्बोधन : संतोष-जल छिड़कें

मेरे प्यारे साथी साधक-साधिकाओ!

दु:ख की आग से बचें!

दु:ख की आग तृष्णा की ही आग है; जब तक हमारे भीतर तृष्णा की आग जल रही है तब तक हम दु:ख-संतप्त होंगे ही।

आग को जलावन मिलता जाय तो वह बढ़ती ही जाती है, खत्म होने का नाम नहीं लेती। आग का स्वभाव है कि वह अपने आप खत्म होना नहीं चाहती। जिस जलावन को लिए हुए जल रही है उसी तक सीमित न रहकर आस-पास के जलावन को अपने में लपेटती समेटती हुई जलती ही रहती है; इस प्रकार कायम ही नहीं रहती बल्कि बढ़ती भी रहती है। जब तक आस-पास का कोई भी जलावन इसकी पकड़ में आता रहेगा तब तक उसे पकड़ कर उसी के सहारे जीवित रहेगी और आगे बढ़ेगी। आग को नया जलावन न मिले तो आगे बढ़ नहीं सकती। मौजूदा जलावन पर पानी छिड़क दें तो उसे भी ग्रहण नहीं कर सकती और इस प्रकार अपने आप बुझ जाती है।

यही दशा तृष्णा की आग की है। इसे हम नया-नया जलावन न दें और मौजूदा जलावन पर संतोष-जल छिड़कते रहें तो इसका बढ़ना बंद होगा और जलना भी।

तृष्णा की आग जलनी बंद हो जाय तो ही दु:ख के संताप से छुटकारा मिल सकता है। अतः साधको! दु:ख के संताप से बचने के लिए तृष्णा की आग बुझाएं, इसी में सुख शांति है।

---o---

दु:ख क्यों है? (१)

मात्र इतना जान लेने से कि हम दु:खी हैं, हमारे दु:ख का निरोध नहीं हो जाता। दुनियां का हर दु:खी आदमी अपने दु:ख को जानता तो है ही; भला किसे अपने दु:ख का एहसास नहीं होता? परंतु इसे दु:ख आर्य-सत्य का साक्षात्कार करना नहीं कहा जा सकता। रोगी अपने रोग से व्याकुल होकर, भोगी अपने भोग से वंचित होकर छाती पीट-पीट कर रोता ही है परंतु यह रोना दु:ख आर्य-सत्य का

दर्शन नहीं है। यह रोना दुःख निरोध का कारण न होकर दुःखवर्धन का ही कारण बनता है, क्योंकि यह रोना पीटना तो दुःख में डूबना हुआ, दुःख से अलग होकर उसके सत्य स्वरूप का दर्शन करना नहीं हुआ। जब हम दुःख में डूब कर रोते हैं तो दुःख के शुद्ध सही स्वरूप को देख नहीं पाते; उसके भीतर समाये हुए गहन, गंभीर कारण को देख सकना तो बहुत दूर की बात है। लेकिन जब हम शान्त और संतुलित चित्त से अपने दुःख का सही निरीक्षण करते हैं तब सहज ही उसकी गहराइयों में उतर जाते हैं और उसके मूल में समाये हुए कारण का भी साक्षात्कार कर लेते हैं। यही दुःख की सच्चाई का आर्य-दर्शन है जो कि हमें दुःख के कारण की सच्चाई का भी आर्य-दर्शन करवाता है। यही सत्य-दर्शन हमारे लिए मंगलकारी साबित होता है क्योंकि सही कारण का निरीक्षण करके ही हम उसके निवारण की ओर प्रयत्नशील हो सकते हैं। दुःख के सही-सही कारण को समझे बिना दुःख निवारण के लिए किये गये हमारे सारे प्रयत्न निरर्थक और निष्फल ही होंगे। उस अंधे आदमी के निरर्थक श्रम जैसे होंगे जो कि अमावस्या की घनी काली रात में किसी धुप अंधेरी कोठरी में उस काली बिल्ली को खोज रहा हो, जो कि वहां है ही नहीं। दुःख के सही कारण को समझे बिना किसी सर्वथा काल्पनिक कारण को भ्रान्तिवश सही मान कर उसके पीछे दौड़ने का प्रयास ऐसा ही निष्फल प्रयास कहा जायगा। इसी प्रकार दुःख के मोटे-मोटे समीपवर्ती कारणों को देखकर उन्हें दूर करने में ही लगे रहना किसी विष-बेल को ऊपर-ऊपर से ही कतरते रहने जैसा प्रयास होगा, जबकि उससे नितांत विमुक्ति पाने के लिए चाहिए यह कि हम उसे जड़ से उखाड़ फेंके। जीवन-जगत की सच्चाइयों का दर्शन करने के लिए सारे भावावेश और सारी कल्पनाओं से छुटकारा पाकर यथार्थ की भूमि पर ही कदम रखकर चलना होगा। यही आर्य-सत्यों का यथार्थ दर्शन है, यही सत्य-दर्शन हमें आर्य बनाते हैं, संत बनाते हैं, जीवन्मुक्त बनाते हैं। अतः सच्चा कल्याण इसी में है कि मुक्ति-पथ पर आगे बढ़ने के लिए यथार्थ की भूमि पर ही कदम रखकर चलें। अब तक हमने कल्पना और भावावेश से दूर रहकर यथार्थ की भूमि पर ही भिन्न-भिन्न प्रकार के दुःखों के सत्य-दर्शनों की चर्चा की। अब यथार्थ की भूमिका पर ही देखें कि इन दुःखों की गहराइयों में कौन सा ऐसा कारण है जो कि सर्वव्यापी है, सार्वभौम है? विषय की गहराई में उतरने पर वस्तुस्थिति स्वतः स्पष्ट होती चली जायगी।

किसी का शरीर अस्वस्थ है, तो शरीर का अस्वस्थ होना ही उसके इस दुःख का निकटतम कारण है। किसी का प्रियतम चल बसा है, तो स्वजन का यह विछोह ही उसके इस दुःख का निकटतम कारण है। किसी की धन-दौलत, पद-प्रतिष्ठा नष्ट हो गई तो यह नुकसान ही उसके इस दुःख का निकटतम कारण है। इसी

प्रकार हमारे जितने भी दु:ख हैं उनके निकटतम कारण अत्यंत स्पष्ट हैं, क्योंकि वे प्रत्यक्ष हैं और स्थूल हैं। यदि हम इन स्थूल कारणों को ही सब कुछ मान लें तो हमने सच्चाई का गहराई से दर्शन नहीं किया और इन ऊपरी-ऊपरी कारणों को दूर करने के प्रयास में ही अपना सारा जीवन-श्रम लगाते रहे, हमारी लाख कोशिशों के बावजूद यह हो नहीं सकता कि दुनिया के लोगों को कभी कोई शारीरिक रोग हो ही नहीं, कभी किसी की मृत्यु हो ही नहीं, कभी किसी की धन-संपदा, पद-प्रतिष्ठा नष्ट हो ही नहीं, कभी किसी को किसी भी प्रकार के अभाव का सामना करना पड़े ही नहीं। हम यह नहीं कहना चाहते कि हमारे दु:खों के इन मोटे-मोटे कारणों की ओर हम बिल्कुल ध्यान ही न दें और न ही इनसे बचने के लिए कोई प्रयास प्रयत्न करें। परंतु यह समझें कि इस दिशा में किये गये हमारे सारे प्रयत्न दु:खों को जड़ से नहीं उखाड़ सकते। इसके लिए तो हमें अपने ही भीतर गहराइयों में उतर कर सच्चाई को देखना, समझना होगा। दु:खों के बाह्य स्थूल कारणो को छोड़कर अपने ही भीतर सूक्ष्मता से निरीक्षण करते हुए उस सार्वभौम कारण को ढूंढना होगा जो कि सभी दु:खों का मूल है।

अंतर्मुखी होकर संतुलित चित्त द्वारा स्वदु:ख-दर्शन करने पर यह स्पष्ट प्रतीत होगा कि हम अपनी वर्तमान स्थिति से असंतुष्ट हैं,अतृप्त हैं और इसीलिए दु:खी हैं। जो कुछ भी वर्तमान में विद्यमान है वह हमें प्रिय नहीं लग रहा है। हम या तो अपने भूतकाल की उस सुखद स्थिति की याद में व्याकुल हैं जो कि अब नष्ट हो चुकी अथवा भविष्य के किन्हीं सुनहरे स्वप्नों के लिए व्याकुल हैं जो कि पूरे नहीं हो रहे हैं। अतीत की स्मृतियों में समाये हुए प्रिय व्यक्ति, वस्तु अथवा स्थितियों की याद हमें बेचैन बनाती है अथवा भविष्य के प्रति हमने जो रंगीन कल्पनाओं के ताने-बाने बुन लिए हैं उनका अभाव हमें बेचैन बनाता रहता है। बीमार होते हैं तो बीते हुए स्वास्थ्य को याद करके रोते हैं, किसी प्रिय जन से विछोह होता है तो उसके अतीत-कालीन स्नेह-संबंधों को याद करके रोते हैं। धन, सत्ता, मान-प्रतिष्ठा नष्ट होती है तो उनकी सुखद याद में सिर धुनते हैं।

जो पहले कभी था और जिसको सदा कायम रखने की लालसा मन में थी, जो कभी नहीं था और जिसके प्रति आशावान होकर रंगीन मनोकल्पनाओं की रचना करते रहे हैं, उनकी पूर्ति न होने पर भी उतना ही रोते हैं। वित्तेषणा, पुत्तेषणा और लोकेषणा यानी धन-संपदा की तृष्णा, पुत्र-परिवार की तृष्णा, यश-प्रतिष्ठा की तृष्णा आदि आदि विभिन्न प्रकार की तृष्णाओं के कितने लुभावने आकाश-महलों का हम मन ही मन निर्माण करते ही रहते हैं। ये आकाश महल जब टूटते हैं तब असीम दु:ख ही होता है। इस बार तो लॉटरी खुलेगी ही, ऐसी कोई तीव्र आकांक्षा वाला कोई जुआरी जब भाग्यशाली अंकों की लिस्ट में अपना

अंक नहीं देखता तो उसके निराशाजन्य दुःख की कोई सीमा नहीं होती। इस बार तो पुत्र होगा ही - ऐसी तीक्ष्ण लालसा वाला कोई पिता प्रसूति-कक्ष से बाहर आयी हुई नर्स से फिर पुत्री होने की सूचना पाता है तो उसके निराशाजन्य दुःख की कोई सीमा नहीं होती। इस बार मंत्रि-मण्डल में फेर बदल होने पर मुझे मंत्री-पद मिलेगा ही - ऐसी उत्कृष्ट अभिलाषा वाला विधायक जब नए मंत्रि-मण्डल में अपना नाम नहीं देखता तब उसके निराशाजन्य दुःख की कोई सीमा नहीं होती।

भूत अथवा भविष्य की ओर सतृष्ण नेत्रों से देखते हुए वर्तमान के प्रति हमारा मन अतृप्ति से भरा रहता है और परिणामतः व्याकुल रहता है, संतप्त रहता है, दुःखी रहता है। कोई भी व्यक्ति दुःखी इसीलिए है कि वह वर्तमान से सर्वथा असंतुष्ट है, यानी जो 'है' उससे सर्वथा असंतुष्ट है और जो 'नहीं है' उसके अभाव में छटपटा रहा है। जो 'है' उसके प्रति अतृप्त-असंतुष्ट रहने का एक मात्र कारण यह है कि जो 'नहीं है' उसे प्राप्त करने की मन में तीव्र आकांक्षा जाग उठी है, गहरी तृष्णा पैदा हो गई है। अतः सच्चाई यह है कि किसी व्यक्ति को किसी प्रकार का दुःख क्यों न हो, उसकी तह में यही एक सार्वभौम कारण निहित रहता है कि वह किसी ऐसे व्यक्ति, वस्तु अथवा स्थिति को प्राप्त करने के लिए बेचैन है जो कि इस क्षण नहीं है। अतः इस क्षण के सारे दुःखों का मूल कारण यह तृष्णा ही है।

जीवन निर्वाह के लिए सामान्य आवश्यकताओं की पूर्ति की चाह को तृष्णा नहीं कहेंगे। परंतु उस चाह को पूरा करने के लिए हमारे मन में जो तीव्र उत्तेजना पैदा होने लगती है उसी का नाम तृष्णा है। साधारण प्यास को तृष्णा नहीं कहेंगे, परंतु मरुस्थर की यात्रा करते हुए जल के अभाव में कण्ठ सुखा देने वाली जो तीव्र प्यास होती है उसी को तृष्णा कहेंगे। व्याकुलता तीव्र प्यास में है, सामान्य प्यास में नहीं। अतः तीव्र प्यास यानी तृष्णा की व्याकुलता ही दुःख है। जिस आलंबन के प्रति हम जितने-जितने आसक्त होते जाते हैं उसके प्रति हमारी तृष्णा भी उतनी-उतनी ही तीव्र हो उठती है। इसीलिए तृष्णा और आसक्ति को पर्यायवाची कहें यानी समानार्थी कहें तो गलत नहीं है। जब हम कहते हैं कि तृष्णा हमारे सभी दुःखों का मूलभूत कारण है, तो हमारे कहने का अभिप्राय यही है कि आसक्ति ही हमारे सभी दुःखों का मूलभूत कारण है। जितनी गहरी तृष्णा है उतना ही गहरा दुःख है। अथवा यों कहें कि जितने-जितने आसक्त होते जाते हैं उसके प्रति हमारी तृष्णा भी उतनी-उतनी ही तीव्र हो उठती है। इसीलिए तृष्णा और आसक्ति को पर्यायवाची कहें यानी समानार्थी कहें तो गलत नहीं है।

यदि हमारी आसक्ति किसी ऐसे व्यक्ति, वस्तु अथवा स्थिति के प्रति हो गई

हो जो कि नित्य शाश्वत ध्रुव हो तब तो कौन जाने उसे किसी प्रकार हस्तगत करके हम इस बात की आशा भी करें कि हमें अमरसुख प्राप्त हो गया। परंतु ऐसा तो होता नहीं। सभी लोकीय वस्तुएं, व्यक्ति और स्थितियां भंगुर हैं, नश्वर हैं, परिवर्तनशील हैं। हमारे देखते-देखते सभी नष्ट होने वाली हैं अथवा उनके रहते-रहते हम नष्ट हो जाने वाले हैं। यही कारण है कि इन अल्पजीवी आलंबनों के प्रति जितनी गहरी आसक्ति होती है उनकी अप्राप्ति में ही अभावजन्य गहरा दुःख नहीं होता, बल्कि प्राप्ति के पश्चात उनकी जुदाई में भी उतना गहरा दुःख होता है। आसक्ति में प्राप्ति के पहले-पीछे हर समय दुःख ही दुःख है। ऐसी कोई आसक्ति नहीं जो दुःख न पैदा करे। ऐसा कोई दुःख नहीं जिसके मूल में कोई तृष्णा और आसक्ति न हो। अतः इस निर्विवाद आर्य-सत्य को देखें, जानें और समझें कि जब तक तृष्णा और आसक्ति कायम हैं तब तक दुःख ही दुःख है, दुःख ही दुःख है।

जीवन में जब कभी कोई दुःख सिर उठाये तो उस दुःख की सच्चाई का मंगलकारी आर्य दर्शन यही है कि हम उसके मूल में समायी हुई तृष्णा का दर्शन करें, आसक्ति का दर्शन करें। तृष्णा का दर्शन ही दुःख के कारण का दर्शन है, दुःख के समुदय का दर्शन है, दुःख की उत्पत्ति का दर्शन है। अतः इसे ही जीवन-जगत की उस दूसरी सच्चाई का सही दर्शन कहते हैं जिसके दर्शन से ही हम जीवन्मुक्त बन सकने के आर्य-पथ पर अग्रसर हो सकते हैं। दुःख आने पर भोक्ता की तरह उसमें डूब कर व्याकुल हो उठना दुःख-दर्शन नहीं है। प्रत्युत शान्त स्थिर चित्त द्वारा द्रष्टा की भांति उसे साक्षीभाव से देखना ही सही दुःख-दर्शन है, यही प्रथम आर्य-सत्य का साक्षात्कार करना है। इसी प्रकार जब भी दुःख आये तो उससे बिना उद्विग्न, उत्तेजित हुए, उस दुःख के मूल में समायी हुई अपनी तृष्णा, आसक्ति का दर्शन ही सच्चाई का दर्शन है। यही आर्य-अभ्यास हमें तीसरे और चौथे आर्य-सत्य का साक्षात्कार कर सकने में सहायक होता है। दुःख और दुःख के सही कारण का दर्शन कर लेने पर हम उस कारण के निवारण के लिए सही-सही प्रयास करके उस दुःख से विमुक्त हो सकते हैं। हमारी कठिनाई यही है कि जब कभी दुःख आता है तब हम उसमें डूब जाते हैं, उसका यथाभूत निरीक्षण नहीं कर पाते। इसी प्रकार जब दुःख के कारण को देखना चाहते हैं तब उसके निकटतम स्थूल कारण का ही दर्शन करने लगते हैं। जो व्यक्ति, वस्तुएं अथवा स्थितियां हमारी आंखों के सामने घूमती रहती हैं हम उनसे संबंधित अपनी मानसिक आसक्ति यानी तृष्णा को अलग करके देखना भी नहीं चाहते और चाहें तो भी ऐसा अभ्यास न होने के कारण देख भी नहीं सकते। जिस प्रकार दुःख में डूबा हुआ व्यक्ति रोदन-क्रदन करके अपने दुःख का संवर्धन ही करता रहता है,

बहुलीकरण ही करता है, उससे छुटकारा नहीं पाता, उसी प्रकार दुःख के मूल कारण तृष्णा का साक्षात्कार न करके दुःख के आलंबनों का ही सतत चिन्तन करने वाला अपने दुःख बढ़ाता ही है। इसके विपरीत जब हम दुःख में डूबे बिना उसका यथाभूत निरीक्षण करते हैं और इसी प्रकार दुःख के आलंबनों पर हुई आसक्ति-तृष्णा का निर्लिप्तभाव से अवलोकन करते हैं तो दुःख मुक्ति की ओर अग्रसर होते हैं।

विपश्यना साधना का अभ्यास करते हुए अंतर्मुखी होकर हम यही तो करते हैं। जब हम अपनी विकारजन्य मनोस्थिति का निरीक्षण करते हैं तब किसी उस व्यक्ति, वस्तु अथवा स्थिति का चिन्तन नहीं करते जिसके प्रति हम गहरे आसक्त हो उठे हैं बल्कि एक शुद्ध मानसिक संवेदना के रूप में अपने ही राग का, अपनी ही तृष्णा का, अपनी ही आसक्ति का यथाभूत साक्षात्कार करते रहने का ही अभ्यास करते हैं। यही दुःख-विमुक्ति की ओर बढ़ने का सही प्रयास है। इस द्वितीय आर्य-सत्य का यानी तृष्णा का सही साक्षात्कार नहीं होगा तो हम अपने दुःखों की ज्वाला में पेट्रोल ही छिड़कने का काम करते रहेंगे। परंतु इस द्वितीय आर्य सत्य का सही-सही दर्शन करने लगेंगे तो न केवल यह पेट्रोल का छिड़काव बंद होगा बल्कि शीतल जल का छिड़काव आरंभ हो जायगा, जिससे कि समस्त दुःखों की ज्वालाएं स्वतः ही शांत हो जायेंगी। इसी के लिए विपश्यना साधना का अभ्यास है। इसके सही सभ्यास में ही हम सबका मंगल निहित है, कल्याण निहित हैं, स्वस्ति निहित है, विमुक्ति निहित है।

(वर्ष २ बुद्धवर्ष २५१६ माघ पूर्णिमा दि. १७-०२-७३ अंक ८)

दुःख क्यों है? (२)

पिछली धर्म चर्चा में हमने देखा कि हमारे प्रत्येक दुःख के मूल में कोई न कोई आसक्ति समायी होती है, कोई न कोई तृष्णा समायी होती है। आओ! आज हम इस तृष्णा को जरा और गहराई से समझने का प्रयत्न करें।

हमारे मन में अनेक प्रकार की तृष्णाएं जागती ही रहती हैं। आंखों से कोई रूप देखते हैं जो कि बहुत सुंदर लगता है तो हम उसके प्रति सतृष्ण हो उठते हैं। कानों से कोई शब्द सुनते हैं, नाक से कोई गंध सूंघते हैं, जीभ से कोई रस चखते हैं, शरीर से किसी वस्तु अथवा व्यक्ति का स्पर्श करते हैं जो कि हमें बहुत प्रिय लगता है तो हम उसके प्रति आसक्त, सतृष्ण हो उठते हैं। इसी प्रकार मन से किसी ऐसी ऐन्द्रिय-अनुभूति की याद करते हैं जो कि हमें अत्यंत सुखद लगी थी, तो उसे पुनः प्राप्त करने के लिए सतृष्ण हो उठते हैं अथवा किसी ऐसे ऐन्द्रिय-सुख की कल्पना करते हैं जो कि हमने कभी नहीं भोगा तो उसे प्राप्त करने के लिए सतृष्ण हो उठते हैं। इन छ इंद्रियों द्वारा अपने-अपने विषयों के प्रति जो तृष्णा है, उसी को काम-तृष्णा कहते हैं। ऐन्द्रिय सुखों की कामनाओं के प्रति जो आसक्ति हो जाती है, वही काम-तृष्णा है। भिन्न-भिन्न आलंबनों के आधार पर उत्पन्न होती हुई यह काम-तृष्णा हमें बेचैन करती ही रहती है। यही तृष्णा की आग जब प्रतिस्पर्धा के पेट्रोल से संयुक्त हो जाती है तब इसका विस्तार अनियंत्रित हो उठता है, परिणामतः हमारा दुःख भी असह्य असीम हो उठता है। कुछ एक उदाहरणों द्वारा समझेंः– मैंने एक देशी कार खरीदी। औरों की कार से कुछ विशेषता होनी ही चाहिए, इसलिए उसमें रेडियो लगाया, टेपरेकार्डर लगाया, सीट पर मोटे फोम-रबर वाला मखमली कवर लगाया, बिना जरूरत की भी आठ-दस लाइटें लगाई, भीतर भांति-भांति के आवश्यक-अनावश्यक उपकरण लगाए, इस प्रकार उसे नई-नवेली दुल्हन की तरह सजाकर बड़ा प्रसन्न हुआ। शाम को उस पर सवार होकर किसी सार्वजनिक आयोजन में गया और वहां देखा कि ढब्बू भाई एक बड़ी सी इंपाला कार में सवार होकर आया है। उसकी छाती गर्व से फूली हुई है, बांछें खिली हैं अधमिची आंखों से वह सबको इस नवीनतम मॉडल वाली अमेरिकन कार की एक-एक विशेषता समझा रहा है। इसे देखकर मेरे मन की सारी उमंगें न जाने कहां काफूर हो गयीं! भीतर ही भीतर मायूसी के बादल छाने लगे, कहां यह इतने लाख रुपए की विदेशी कार और कहां यह हिंदुस्तानी छकड़ा। अपनी गाड़ी की सारी सजावट बड़ी चवन्निया लगने लगी, मन घुटन-कुढ़न से भर गया। आयोजन से लौटा तो अपनी गाड़ी में बैठने को जी नहीं चाहा; सीट पर

सौ-सौ बिच्छुओं के डंक निकल आए, गाड़ी के भिन्न-भिन्न भागों से आने वाली आवाज कान के पर्दे फाड़ने लगी।

यह कैसा टिन-पाट है! महज टिन का खटारा है! मन अतृप्ति से भर उठा और किसी नए मॉडल की इंपाला, मर्सीडीजबैंज अथवा कैडीलक के स्वप्न देखता हुआ इतना सतृष्ण हुआ कि उसके बिना जिंदगी के सारे सुख फीके लगने लगे। अपने आपको कितना हीन महसूस करने लगा। हाय! मैं बेचारा! कितना गरीब! कितना असमर्थ! फारेन की गाड़ी बिना भी कोई जीवन है भला!

मनसुखभाई एक दिन दिलसुखभाई की नयी आफिस में उससे मिलने गया; देखा उसकी विशाल आफिस बड़ी अप-टू-डेट है। प्रभावशाली है, पूरी की पूरी एयरकंडीशंड है, वह अपने आपको बहुत ओछा महसूस करने लगा। उसे खुद अपनी आफिस काट खाने लगी। वैसी या उससे भी अच्छी आफिस हुए बिना उसे अपनी सारी प्रतिष्ठा धूल में मिलती नजर आने लगी। लौटकर वह जिस दुःख से जलने लगा, वह प्रतिस्पर्धा की आग का तृष्णाजन्य दुःख था। बार-बार उसका मन हीन भावनाओं से भर उठता। अभी चंद सालों की ही तो बात है, यह दिलसुख भाई एक सामान्य व्यापारी की तरह इस धंधे में आया और इतनी जल्दी मुझसे भी आगे बढ़ गया और मैं अपने व्यापार में उस जैसी सफलता न प्राप्त कर सका, यह ईर्ष्याभरी घुटन उसे बेचैन बनाने लगी। उसकी बराबरी ही न करने लगूं, बल्कि उससे भी दो कदम आगे बढ़ जाऊं, यही तीव्र तृष्णा उसके दुःख बढ़ाने का कारण बनी।

मोहिनी ने आज अपना खूब रूप संवारा अभी कल ही नाइलोन-जार्जट की जो कीमती साड़ी खरीदी थी, उसे ही पहन कर अपनी सहेली के यहां पार्टी में शामिल होने गयी। मन में बड़ी आशाएं लिए हुए थी कि आज की पार्टी में वही सबके आकर्षण का केन्द्र बनी रहेगी, सभी ओर से उसकी नयी साड़ी की ही प्रशंसा होगी। परंतु वहां पहुँचकर जो कुछ देखा, उससे उसकी सारी आशाओं पर पानी फिर गया; यहां तो सबका ध्यान सोहिनी की ओर लगा हुआ है। सोहिनी की सिफोन की साड़ी तो सचमुच गजब की है, जिसे कि उसका पति अभी-अभी हांगकांग से ले आया है। ऐसी नवीनतम साइकाडेलिक डिजाइन तो भारत की महिलाओं ने देखी तक नहीं, पहनने की बात तो दूर रही। सोहिनी की साड़ी ने मोहिनी को बड़ा हतप्रभ किया। वह भीतर ही भीतर हीन भावना से तड़फड़ा उठी। जिस कीमती साड़ी को पहनकर खुशियों से भरी हुई पार्टी में पहुँची थी, उस साड़ी में सहस्रों कांटे निकल आए और उसके शरीर में चुभने लगे, घर लौटी तो खाना हराम, नींद हराम, बेश-कीमती साड़ियों से आलमारियां भरी हैं, परंतु आज उसे सोहिनी की साड़ी के सामने वे सब फीकी लगने लगीं।

स्वामी विमोक्षानंदजी ने एक आश्रम बनवाया जिसमें हैं– एक खूबसूरत मंदिर, एक प्रवचन हॉल, बाहर से आए हुए दस-बीस भक्तों के ठहरने के लिए सुख-सुविधापूर्ण खुले हवादार कमरे इत्यादि-इत्यादि। एक दिन स्वामीजी अपने गुरुभाई विशुद्धानंदजी से मिलने गए तो उनके ठाट-बाट देखकर मन ही मन कुढ़ उठे। कई एकड़ भूमि जिसमें बाग-बगीचे, सैकड़ों लोगों के ठहरने, रहने का सुख-सुविधापूर्ण स्थान, मंदिर की मूर्ति इतनी बड़ी कि उसके सामने अपने यहां की मूर्ति तो खिलौने जैसी लगी। विशुद्धानंदजी का निजी निवास-स्थान इतना भव्य कि जैसे कोई राजमहल हो, बहुत बड़ी संख्या में भक्तों की भीड़, मान-सम्मान, दिखावा चढ़ावा सभी कुछ अनूठा। यह सब देखकर जब विमोक्षानंद अपने आश्रम लौटे तो उन्हें लगा कि अपने यहां का सारा वातावरण किसी छोटी सी कब्र जैसी काल कोठरी की धुटन से भरा हुआ है; उनका जीना दूभर हो गया। विशुद्धानंद के जैसा आश्रम मेरे पास भी हो तो मेरे पास भी भक्तों की भीड़ अपने आप बढ़ जाय, मेरी भी पद-प्रतिष्ठा उससे ऊंची हो जाय, इसी चिन्तन ने बेचारे विमोक्षानंद की सारी सुख-शांति नष्ट कर दी।

नेकीराम स्थानीय राशन आफिस में छोटा अफसर है। महंगी के जमाने में कुछ बचत तो नहीं होती, परंतु जितना वेतन मिलता है, उससे किसी प्रकार सुख-पूर्वक अपनी गृहस्थी चला लेता है। एक दिन अपनी पत्नी के साथ संतोषीराम के घर भोजन पर गया तो उसके ठाट-बाट देखकर चकाचौंध हो गया। चार कमरों का फ्लैट, ऐसा बढ़िया फर्नीचर, ड्राइंगरूम में देशी-विदेशी सजावट के सामानों से भरी हुई आलमारी, रेडियो, टेलीविजन, रेफ्रीजरेटर, सोने के कमरे में एयरकंडीश्नर, वारे न्यारे हो रहे हैं। यह सब देखकर नेकीराम की आंखें फटी-फटी सी रह गईं। जिस पोस्ट पर संतोषीराम है, उसी पर मैं हूँ। इसने ऊपर की आमदनी से अपना घर भर लिया और मैं ईमानदारी के झूठे भुलावे में पड़ा रहा। घर लौटा तो पत्नी ने भी उसके बुद्धूपन के लिए उसे कोसा। पेट तो सभी भर लेते हैं, आदमी चाहता है कि औरों के सामने इज्जत से रह सके, सिर ऊंचा करके चल सके। सारी रात संतोषीराम का वैभव ही उसकी आंखों के सामने घूमता रहा; पति-पत्नी ने अपने मन की चैन खो दी, सुख-शांति खो दी।

लखोटियाजी ने अपनी बेटी के विवाह में समधी को पांच लाख का दहेज दिया। बीस हजार तो विवाह-मण्डप की सजावट पर ही खर्च कर दिये, सैकड़ों लोगों को भोज दिया, नगर की कीमती से कीमती मिठाइयां परोसी गईं, लखोटियाजी फूलकर कुप्पा हो गये। आज तक ऐसी शान-शौकत से किसी के यहां विवाह नहीं हुआ। चंद महीने बाद ही करोड़ीमल ने अपनी पुत्री के विवाह में दस लाख का दहेज दे दिया। पचास हजार मण्डप की सजावट पर लगा दिये, हजारों

लोग भोज में शामिल हुए, केवल बंबई की ही नहीं बल्कि दिल्ली और कलकत्ते तक की एक से एक बढ़ियां मिठाइयां हवाई जहाज से मंगाकर बारात को परोसी गईं; ऐसी वाह-वाह हुई कि लखाोटियाजी को दिल का दौरा पड़ गया।

इस प्रकार के उदाहरणों से हम सब का जीवन भरा पड़ा है। जो नहीं है उसके प्रति मन सतृष्ण होता है, जो है उसके प्रति घोर असंतुष्टि जागने लगती है। तृष्णा के सिक्के का दूसरा पहलू असंतुष्टि ही है। जहां तृष्णा है, वहां असंतुष्टि है और जहां असंतुष्टि है वहां तृष्णा है। अभाव के प्रति असंतुष्टि, भाव के प्रति तृष्णा, भाव के प्रति तृष्णा अभाव के प्रति असंतुष्टि; असंतुष्टि भी दुःख, तृष्णा भी दुःख। औरों से कम क्यों हूं? इस असंतुष्टि की तड़पन का दुःख। औरों के जैसा क्यों न हो जाऊं? इस तृष्णा की तड़पन का दुःख। कोई मुझसे किसी भी बात में थोड़ा भी बढ़ा-चढ़ा क्यों हैं? इस असंतुष्टि का दुःख। उसके बराबर ही नहीं, उससे कुछ आगे निकल जाऊं, इस तृष्णा की तड़पन का दुःख। अतृप्ति माने भी दुःख, तृष्णा माने भी दुःख। जितनी गहरी अतृप्ति उतना गहरा दुःख। जितनी गहरी तृष्णा उतना गहरा दुःख।

बौद्धिक स्तर पर तृष्णा के दुःख की यह सच्चाई हम जानें भी, अनुभूत करें तब भी इसके बाहर नहीं निकल पाते। सारा जीवन मन को प्रतिद्वंद्विता की तृष्णाभरी होड़ में ही तो लगाए रखा। अतः इस आदत के बाहर निकल सकना सरल नहीं है। बचपन में मां ने संवारा-सजाया तथा औरों से अधिक खूबसूरत लगते रहना सिखाया; स्कूल गये तो परीक्षाओं में सबसे ऊंचे नम्बरों से पास होने की होड़ मन में भरी गई, खेल के मैदान में उतरे तो सबको पछाड़ कर आगे निकल जाने की ही ट्रेनिंग मिली, जवान होकर जीवन क्षेत्र में उतरे तो औरों से आगे निकल जाने की तमन्ना का ही पोषण करते रहे, अपने सजातीय बन्धुओं को पछाड़कर आगे निकल जाने का स्वभाव अनेक पशुओं में होता है। हम मनुष्यों ने अपने भीतर यह पाशविक स्वभाव कितनी अधिक मात्रा में भर लिया है। प्रतिद्वंद्विता की इस होड़ में जीवन छीना-झपटी से भर गया है, आकुलता-व्याकुलता से भर गया है, हर राम भरत को अपनी गद्दी के नजदीक नहीं आने देता और हर भरत राम की गद्दी को छीनने के लिए ही उतारू है।

कोई भाई तर्क करता है कि जीवन में तृष्णाएं नहीं होंगी, कामनाएं नहीं होंगी, प्रतिद्वंद्विता नहीं होगी तो काम करने की प्रेरणा कैसे जागेगी? लोग अधिक काम कैसे करेंगे? काम नहीं करेंगे तो उत्पादन नहीं बढ़ेगा और देश में समृद्धि, सम्पन्नता नहीं होगी, सुख-साधनों की प्रचुरता-बहुलता नहीं होगी। सुनने में बात तर्कसंगत लगती है परंतु जब आदमी गहराई से सच्चाई को देखता है तो यह

धोखा स्पष्ट समझ में आ जाता है। जिसे हम समृद्धि कहते हैं, साधनों की प्रचुरता-बहुलता कहते हैं, आखिर वह सब है किसलिए? हमारी सुख-शांति के लिए ही है न? परंतु सुख-शांति कहां? जिसे प्राप्त करने के पूर्व प्रतिद्वंद्विता की होड़ में पड़कर हमारा मन अतृप्त-असंतुलित हो उठे, जिसे प्राप्त करने की चेष्टा करते हुए हमारा मन अपना संतुलन खो बैठे और जिसे प्राप्त कर लेने के बाद भी तृप्ति और संतुष्टि का सुख तो दूर, प्रत्युत और अधिक प्राप्त करने की व्याकुलता ही पैदा होती हो, ऐसा साधन हमारे किस काम का? वह हमें अपने लक्ष्य से दूर ले जाने लगा। सारी भाग-दौड़ के आदि में भी दु:ख, मध्य में भी दु:ख और अन्त में भी दु:ख ही दु:ख। जिसका आरंभ ही दु:ख में हो, जिसका प्रसार भी दु:ख में हो और जिसकी परिणति भी दु:ख में ही हो, ऐसी भौतिक उपलब्धि का सुख-शांति से क्या सम्बंध? इसका अर्थ यह नहीं कि लोग भौतिक समृद्धि से दूर भागें और अभावभरी गरीबी का ही जीवन बिताएं। नहीं! नहीं! लोग अपनी तथा औरों की गरीबी दूर करने के लिए काम करें, खूब काम करें परंतु काम करते हुए अपना मानसिक संतुलन बनाए रखें। उद्विग्न-उत्तेजित न हों, अशांत बेचैन न हों, आसक्तियों से अभिभूत होकर मानसिक समता खो बैठेंगे तो कोरी भौतिक संपदा भले प्राप्त कर लें, सुख नहीं प्राप्त कर सकेंगे। सच्चा सुख प्राप्त करने के लिए मानसिक समता बनाए रखनी आवश्यक है।

आसक्तिजन्य प्रतिस्पर्धा की होड़ में आदमी अपना सुख चैन खो बैठता है और यह होड़ की बीमारी छूत की महामारी की तरह फैलती ही रहती है। सुखी स्वस्थ संयुक्त परिवार का एक सदस्य इस रोग का शिकार हो जाय तो हजार साधन सम्पन्नता के बावजूद भी धीरे-धीरे सारा परिवार इसका शिकार होकर पारस्परिक ईर्ष्या-द्वेष की आग में सुलगने-तड़पने लगता है। एक परिवार से दूसरे में फैलती हुई यह आग सारे समाज को व्याकुल व्यथित बना देती है। जिसमें केवल व्यक्ति की ही नहीं बल्कि सामूहिक समाज की सुख-शांति भंग होती है, वह तृष्णा जन्य प्रतिद्वंद्विता की होड़ हमारे दु:ख की ही जननी है, सुख की नहीं। इससे बचने में ही सुख है, सच्ची शांति है।

(वर्ष २ बुद्धवर्ष २५१६ फाल्गुन पूर्णिमा दि.१८-०३-७३ अंक ९)

उद्‍बोधन : तृष्णा की आग

मेरे प्यारे साथी साधक-साधिकाओ!

आओ, तृष्णा की आग से बचें!

बड़ी भयावह है यह तृष्णा की आग। बड़ी पीड़ाजनक है यह तृष्णा की आग। तृष्णा की आग हमें व्याकुल ही रखती है। चाहे दुःख से बच भागने की तृष्णा हो अथवा सतत सुख भोगते रहने की तृष्णा हो, जहां तृष्णा है, वहां तृप्ति नहीं और जहां तृप्ति नहीं, वहां सुख कहां? जहां तृष्णा है, वहां सुख की चाह जरूर है, परंतु सुख नहीं। जहां तृष्णा है, वहां दुःख-विमुक्ति की चाह जरूर है, परंतु दुःख-विमुक्ति नहीं।

जहां तृष्णा जागती है, वहां आशा जागती है। नित नई तृष्णा, नित नई आशा और ये नित नई आशाएं पूरी होतीं नहीं। जहां आश-निराश हुई वहीं दुःख आया। अतः जहां तृष्णा है, वहां आशा है। जहां आशा है, वहां दुःख ही दुःख है।

आदमी जब तृष्णा में पागल हो जाता है तो उसे पूरी करने के लिए कर्म करता है। तृष्णा के अंधेपन में कर्म करते हुए भले–बुरे का भेद नहीं कर पाता। इस प्रकार दुष्कर्मों में फँसकर अपना अनिष्ट ही अनिष्ट करता है।

धन की लिप्सा हो, परिवार की लिप्सा हो, प्रभुत्व-अधिकारों की लिप्सा हो, पद-प्रतिष्ठा की लिप्सा हो, मान-संमान की लिप्सा हो, स्वर्ग की लिप्सा हो, अपवर्ग की लिप्सा हो, लिप्सा तो लिप्सा ही है; जहां लिप्सा है, वहां भले-बुरे का ज्ञान नहीं। फलतः वहां पीड़ा ही पीड़ा है।

आग, चाहे कोयले की हो, चाहे उपलों की हो, चाहे गैस की हो, चाहे पेट्रोल की हो, चाहे विद्युत की हो, चाहे नीम की लकड़ी की हो, चाहे चंदन की लकड़ी की हो, आग तो आग ही है। जहां आग है, वहां शीतलता कैसे हो सकती है? वहां तो ताप ही ताप होगा, जलन ही जलन होगी।

अतः साधको आओ! आग से बचें, आग की ताप से बचें, आओ, राग से बचें, राग की जलन से बचें! आओ, तृष्णा से बचें, तृष्णा की घुटन से बचें! कल्याण इसी में है। मंगल इसी में है।

---o---

दुःख क्यों है? (३)

जहां सब कुछ बिगड़ने के लिए ही बनता है, नष्ट होने के लिए ही निर्मित होता है, विलीन होने के लिए ही उत्पन्न होता है, अस्त होने के लिए ही उदय होता है, मुरझा जाने के लिए ही खिलता है, बिखर जाने के लिए ही एकत्र होता है, मर जाने के लिए ही पैदा होता है, वहां ऐसी किसी भी अनित्य वस्तु, व्यक्ति अथवा स्थिति के प्रति यदि हम तृषित हो उठें, आसक्त हो उठें तो दुःख छोड़ कर और क्या हाथ लगेगा भला? चूंकि सारे ऐन्द्रिय सुख अनित्य हैं, इसलिए उनसे तृप्ति नहीं मिल सकती। ओस की बूंदों से किसी की प्यास नहीं बुझ सकती। लेकिन फिर भी हम इस तथ्य को समझते नहीं; बौद्धिक स्तर पर समझ भी लें तो व्यावहारिक स्तर पर स्वीकारते नहीं, अपनाते नहीं। आसक्ति में डूबे हुए हम यह कहां समझते हैं, कहां स्वीकारते हैं कि मैं जिस पत्नी से, पुत्र से धन-दौलत से, पद-प्रतिष्ठा से यश, गौरव से इस कदर चिपक गया हूं, वह सब भंगुर स्वभाव वाले हैं, देर-सबेर नष्ट होने ही वाले हैं। इसी प्रकार यह जो अपने "मैं" के साथ इतना बड़ा चिपकाव पैदा कर लिया और इस "मैं" की कामना पूर्ति के लिए ही इतना व्याकुल हो रहा हूं। यह भी बुदबुदे की तरह निस्सार ही है, भंगुर ही है, देर-सबेर नष्ट होने वाला ही है। यह अबोध, अज्ञान, विमूढ़ अवस्था तृष्णा की सहयोगिनी है, सहजात है, सहधर्मिणी है। दोनों का बड़ा गहरा संबंध है, अन्योन्याश्रित संबंध है। जहां मूढ़ता है, वहां तृष्णा है। जहां तृष्णा है, वहां मूढ़ता तो है ही। तृष्णा मूढ़ता की जननी है। मूढ़ता तृष्णा की जननी है। तृष्णा मूढ़ता को बल प्रदान करती है। मूढ़ता तृष्णा को बल प्रदान करती है। बड़ा भयावह कुयोग है इन दोनों का, बड़ा उत्पीड़क संगठन है इन दोनों का। सारे दुःख तृष्णाजन्य मूढ़ता अथवा मूढ़ताजन्य तृष्णा से ही उत्पन्न होते हैं। मूढ़ता के साथ जागी हुई यह तृष्णा कभी इस आलंबन का रसास्वादन कर आनंदित होती है, कभी उस आलंबन का; बिना यह समझे हुए कि सारे ही तो आलंबन अनित्य हैं। और जब ये अनित्य आलंबन टूटते हैं या छूटते हैं तो कितना रुलाती है यह तृष्णा हमें। ऐसी यह दुःखदायिनी तृष्णा किसी न किसी रूप में हमारे पीछे लगी ही रहती है और हमारे लिए नित नए रोदन-क्रंदन, सुबकन-सिसकन, ऐंठन-कुंठन, अकड़न-जकड़न का निर्माण करती ही रहती है।

मोटे तौर पर तीन तरह की तृष्णाएं होती हैं, जिनमें से कोई न कोई हमारा मन मथती ही रहती है:–

कामतृष्णा: रूप, शब्द, गंध, रस, स्पर्श आदि विषयों के प्रति आसक्त होने का नाम ही कामतृष्णा है। दुनिया के मोटे-मोटे भौतिक सुखों की कामना काम

तृष्णा के अन्तर्गत आती है। पुत्तेषणा, वित्तेषणा आदि काम तृष्णा ही है परंतु इन एषणाओं से भी सूक्ष्म है लोकेषणा, इन तृष्णाओं से भी सूक्ष्म है भवतृष्णा।

भवतृष्णा: जीवित रहने की तृष्णा ही भवतृष्णा है। मैं सदा कायम रहूं, मेरा अस्तित्व सदा बना रहे, मेरा भव-संसार बना रहे, मैं भव-संसार में बना रहूं, इस प्रकार की तीव्र इच्छा ही भवतृष्णा है। जन्म जन्मान्तरों से चली आती हुई यह तीव्र लालसा हमारे स्वभाव का अंग बन गई है। इसीलिए हर प्राणी जीवित रहने के लिए छटपटाता है, मृत्यु से बचने के लिए हर संभव प्रयत्न करता है, सामान्यतया कोई मरना नहीं चाहता। मरे भी तो मर कर फिर जीना चाहता है। जीवित रहने की यह तीव्र लालसा न केवल हमारे वर्तमान जीवन प्रवाह को गति प्रदान करती है, प्रत्युत मृत्यु के बाद भी पुनर्जन्म का कारण बनती है। हर मृत्यु के बाद एक नया जीवन तैयार करती हुई यह भव तृष्णा ही हमारे पुनर्भव का सृजन करती है। भव तृष्णा के कारण यह संसार हमारे लिए बढ़ता ही रहता है; समाप्त होने का नाम नहीं लेता।

अत्यंत सूक्ष्म और गहन होने पर भी यह तृष्णा अन्य सभी तृष्णाओं से अधिक शक्तिशाली है। कायम रहने की इच्छा हर प्राणी की तीव्रतम इच्छा होती है। इस नश्वर संसार के रंग-ढंग देखकर मजबूरन यह विश्वास करना ही पड़ता है कि मैं भी एक दिन मृत्यु का शिकार हो जाऊंगा। मेरा यह "मैं" भी एक दिन मृत्यु का शिकार हो जायगा। मेरा यह जीवन अनंत नहीं है, मेरा यह शरीर सदा कायम नहीं रहेगा तो इस तीव्र लालसा से छटपटाने लगता हूं कि यह भौतिक शरीर न रहने पर भी "मैं" तो कायम रहूं ही, मेरा नाम तो कायम रहे ही। इसी इच्छा से संतान उत्पत्ति का क्रम भी चलता है कि मेरे पीछे कोई मेरा नाम लेवा तो रहे। मैं मर भी जाऊं तो मेरा वंश कायम रहे, मेरा अंश कायम रहे। पिता पुत्र के रूप में जीवित रहना चाहता है, गुरु शिष्य के रूप में जीवित रहना चाहता है।

यदि मैं धनवान हूं तो बड़े-बड़े भवनों पर अपना नाम टंकित करवा कर जीवित रहने की चेष्टा करता हूं। अपने नाम पर कोई विद्यालय, औषधालय, देवालय आदि बनवाता हूं। यदि सत्ताधारी हूं तो अपने शासनकाल में कोई ऐसा अनूठा काम कर जाना चाहता हूं जिससे कि मरने के बाद लोग मुझे याद करें। कोई कवि, लेखक या कलाकार हूं तो ऐसी कोई कृति रचना चाहता हूं जो कि मुझे अमर बनाए रखे। कोई धर्म-नेता हूं तो लोगों को चमत्कृत कर देने वाली ऐसी सिद्धियां हासिल करना चाहता हूं जिससे कि लोग मुझे ब्रह्म माने, भगवान मानें, ईश्वर मानें, ईश्वर का अवतार मानें, ईश्वर का पुत्र मानें, ईश्वर का दूत मानें, ईश्वर का पैगंबर मानें, ईश्वर का प्रतिनिधि मानें और मेरे नाम पर ऐसा एक पंथ

चल पड़े जो कि युगों तक मेरी कीर्ति कायम रखे। यदि मैं परोपकारी हूं, सदाचारी हूं, दानी हूं, सेवाभावी हूं तो भी इसीलिए कि लोग मुझे मरने के बाद भी एक सज्जन व्यक्ति के रूप में याद करें, इतिहास में मेरा नाम कायम रहे। मैं मर भी जाऊं तो मेरी कीर्ति जीवित रहे, भौतिक शरीर मर भी जाए तो यशः शरीर ही कायम रहे।

मैं मरना नहीं चाहता, परंतु यह शरीर तो मर ही जाता है, यह सच्चाई सामने दिखती है। अत: जब मुझे यह आश्वासन मिलता है कि शरीर भले मर जाय, "मैं" तो कायम रहूंगा, मेरा कुछ नहीं बिगड़ने वाला। "मैं" अजर हूं, "मैं" अमर हूं तो यह आश्वासन मुझे बहुत प्रिय लगता है। मरने पर भी मेरा "मैं" कायम रहे, मुक्त होने पर भी मेरा "मैं" कायम रहे, यही गहरी भवतृष्णा है। ऐसी मृत्यु मुझे अच्छी नहीं लगती, जिसमें मेरा "मैं" खत्म हो जाय। ऐसी मुक्ति मुझे अच्छी नहीं लगती जिसमें मेरा "मैं" खत्म हो जाय। ऐसा मोक्ष मेरे किस काम का, जिसमें "मैं" ही न रहूं, मेरा अपना अलग अस्तित्व ही न रहे? "मैं" ही नहीं रहूंगा तो उस मुक्ति सुख को भोगेगा कौन? सिंधु में विलीन हो जाने वाली बात बिंदु को कदापि प्रिय नहीं लगती। अनंत में समा जाने वाली बात संत को कदापि रुचिकर नहीं लगती। इसलिए मैं यही चाहता हूं कि मुक्ति अवश्य मिले परंतु मुक्ति को भोगने वाला "मैं" अवश्य कायम रहे। सुख भोगने के लिए ही तो मुक्ति है, इसीलिए मुक्ति की भी तृष्णा है, उसका भी भोग भोगना है। स्थान-स्थान पर भांति-भांति के सुख अनंत काल तक भोगता ही रहूं, यही भव तृष्णा है।

मैंने इस लोक के सारे सुख भोगे। परंतु शास्त्रों में पढ़ा और धर्माचार्यो के मुँह से सुन लिया कि स्वर्ग का सुख तो अनुपम है। धरती का सुख उसके सामने तुच्छ है। अब मेरे मन में स्वर्गलोक के सुख भोगने की तृष्णा जागने लगी; फिर किसी ने कह दिया या कहीं पढ़ लिया कि ब्रह्मलोक का सुख तो इन स्वर्ग-सुखों से भी महान है और मैं ब्रह्मलोक केलिए तृष्णावान हो उठा। ब्रह्मलोक में भी अरूप ब्रह्मलोक सर्वोपरि है, यह जानकर उन अरूप ब्रह्मलोकों के प्रति तृषित हो उठा और उन्हें प्राप्त करने के लिए जिसने जो-जो बताया, वह-वह करने में जुट गया, यह सभी भव तृष्णाएं ही हैं।

विभवतृष्णा : भवतृष्णा की भांति विभवतृष्णा भी भोग भोगने की ही तृष्णा है। परंतु अंतर यही है कि जहां भवतृष्णा का रोगी यह चाहता है कि उसका "मैं" जन्म जन्मांतरों तक कायम रहे और भांति-भांति के इहलौकिक, पारलौकिक सुखों का उपभोग करता रहे वहां विभवतृष्णा का रोगी मृत्यु के अनंतर किसी भावी जीवन के अस्तित्व पर संदेह करता हुआ इसी जीवन में यथासंभव समस्त भोगलिप्साओं की पूर्ति में लगा रहता है।

विभव कहते हैं – वैभव को, और विभव कहते हैं – भव के न होने को भी। विभवतृष्णा का रोगी सांसारिक सुख वैभव की कामना पूर्ति के लिए अच्छे-बुरे नैतिक-अनैतिक हर प्रकार के साधन का प्रयोग करता है। वह केवल इतना ही मानकर चलता है कि मेरा यह जीवन प्रवाह इस जन्म से आरंभ हुआ और इस मृत्यु पर समाप्त हो जाने वाला है। उसका जीवन-दर्शन यही है कि जब तक जीऊं सुख से ही जीऊं। पीऊं तो घी ही, खाऊं तो शक्कर ही, भले इसके लिए मुझे किसी से ऋण ही क्यों न लेना पड़े। मेरे जीवन का चरम साध्य सुख-वैभव भोगना है, इसे चाहे जैसे भोगूं इस निमित्त चाहे झूठ बोलूं या छल-कपट करूं या पराया धन छीन लूं, झपट लूं अथवा दबा लूं, गरज यह कि मेरी तमन्नाएं पूरी करने के लिए मैं चाहे जैसा गलत रास्ता अपनाऊं, मुझे इसमें कोई झिझक नहीं, कोई हिचकिचाहट नहीं। क्योंकि मेरे लिए कोई पाप नहीं, कोई पुण्य नहीं, कोई दुराचार नहीं, कोई सदाचार नहीं, कोई दुष्कर्म नहीं, कोई सत्कर्म नहीं। दुष्कर्म का कोई कुफल नहीं, सत्कर्म का कोई सुफल नहीं। इस जन्म में किए गए कर्मों का फल भोगने के लिए अन्य कोई जन्म नहीं, कोई लोक नहीं कोई परलोक नहीं। जीवन पर्यंत येन-केन प्रकारेण सुख भोग भोगते रहने के अतिरिक्त जीवन का अन्य कोई प्रयोजन नहीं। महज माता-पिता के संयोग से अकस्मात जन्म हो गया, ऐसे ही किसी कारण को लेकर अकस्मात मृत्यु हो जायगी, मृत्यु हो जायगी। तो यह शरीर जलाकर भस्मीभूत कर दिया जायगा अथवा गाड़कर मिट्टी में मिला दिया जाएगा। फिर पुनर्जन्म किसका होगा? बस यहीं सारा खेल खत्म हो जायगा। अतः इस जीवन में जो खा-पी लिया सो काम आ गया, जो भोग-भोग लिया उतना ही लाभ हो गया। ऐसी भोगवादी मनोवृत्ति के अंतर्गत इस जीवन के अतिरिक्त अनेक जन्मों वाले भव-संसरण को स्वीकार ही नहीं किया जाता। अनेक लोग सैद्धांतिक स्तर पर पुनर्जन्म देने वाले इस भव-संसरण को स्वीकार करते भी हों तो भी व्यवहारतः उनका सारा जीवन हर संभव साधन द्वारा अपना संकुचित स्वार्थ साधने में ही बीतता है। ऐसे लोग भी वस्तुतः विभव तृष्णा के ही शिकार है। ऐसे लोग भले अपने आपको शाश्वतवादी कहें, पर हैं वे वस्तुतः उच्छेदवादी ही, भले अपने आपको आस्तिक कहें, पर हैं वे वस्तुतः नास्तिक ही, भले अपने आपको अध्यात्मवादी कहें, पर हैं वे वस्तुतः भोगवादी ही, चार्वाक्वादी ही, लोकायतवादी ही।

विभवतृष्णा का एक और स्वरूप भी है। कोई व्यक्ति यह मान बैठता है कि इस शरीर के भीतर एक "मैं" है जो कि बेचारा इस शरीर के कारण बंधा हुआ है। यह शरीर ही उसके बंधनों का कारण है। अतः किसी प्रकार इस शरीर से छुटकारा मिले तो इस "मैं" को मुक्ति मिले। ऐसा मानकर वह व्यक्ति शरीर पीड़न द्वारा

आत्म हत्या कर जीवन समाप्त करता है। किसी भी युक्ति द्वारा जीवन समाप्त कर मुक्त हो जाने की यह भ्रांति तृष्णा ही है।

इसी प्रकार किसी एक व्यक्ति के मन में इस बात की गहरी लालसा जागती है कि मुझे जीवन-मरण के चक्कर से छुटकारा मिले, भव संसार से निस्तरण मिले, मुक्ति मिले, मोक्ष मिले, निर्वाण मिले। इसी तृष्णा में वह इस कदर व्याकुल हो उठता है कि सारी आंतरिक सुख-शांति खो बैठता है। मरण के भव को नष्ट करके निर्वाण पा लेने की यह व्याकुलताभरी तृष्णा भी विभव तृष्णा ही है। ऐसा व्यक्ति परमार्थ धर्म की उस सच्चाई को नहीं समझता कि पूर्णतया तृष्णा विहीन हो जाना ही तो मुक्ति है, मोह है, निर्वाण है। और उसकी उपलब्धि तृष्णा के द्वारा नहीं हो सकती। ऐसा व्यक्ति अज्ञान अवस्था में मोक्ष के नाम पर विभव तृष्णा से ही पीड़ित रहता है।

सभी तृष्णाएं समान रूप से दु:खद हैं, तृष्णा की मुक्ति के बिना दु:ख से विमुक्ति नहीं। तृष्णा की विमुक्ति के लिए कोई उपयुक्त साधन खोजना ही होगा और उसे अपनाना ही होगा। इसी में सच्ची सुख-शांति निहित है। सच्ची दु:ख-विमुक्ति निहित है।

(वर्ष २ बुद्धवर्ष २५१६ चैत्र पूर्णिमा दि.१७-०४-७३ अंक १०)

उद्बोधन : त्रिधा पुण्यमयी वैशाख पूर्णिमा

मेरे प्यारे साथी साधको!

आओ, अपना सच्चा कल्याण साधें!

वैशाख पूर्णिमा का यह पावन पर्व हमें कल्याण साधना के लिए पर्याप्त प्रेरणा दे।

अनंत जन्मों तक दान, शील, निष्क्रमण, प्रज्ञा, वीर्य, क्षांति, सत्य, अधिष्ठान, मैत्री और उपेक्षा रूपी दस पारमिताओं को परिपूर्ण करते हुए बोधिसत्त्व सिद्धार्थ गौतम इसी पावन दिवस पर जन्मे; यह उनका अंतिम जन्म था। हम भी उन्हीं के समान अपनी-अपनी पुण्य पारमिताओं को पूरा करते हुए ऐसा जन्म प्राप्त करें, जो कि हमारे लिए भी अंतिम जन्म साबित हो।

बोधिसत्त्व सिद्धार्थ गौतम ने वैशाख पूर्णिमा को ही सारे अनुशय क्लेशों को विदीर्ण करते हुए सम्यक संबोधि प्राप्त की और परम सत्य का साक्षात्कार किया। हम भी उन्हीं की तरह शील, समाधि और प्रज्ञा का अभ्यास करते रहें और शनैः शनैः अपने सारे क्लेश दूर करते हुए परम पद निर्वाण का साक्षात्कार कर लें।

सम्यक संबोधि प्राप्त करने के बाद पैंतालीस वर्षों तक उन महाकारुणिक भगवान तथागत सम्यक संबुद्ध ने सतत जनसेवा में निमग्न रहते हुए वैशाख पूर्णिमा को ही अस्सी वर्ष की परिपक्व अवस्था में महापरिनिर्वाण प्राप्त किया। यही उनकी अंतिम मृत्यु थी। हम भी इसी प्रकार आत्महित और परहित में निरत रहकर ऐसी मृत्यु प्राप्त करें जो कि हमारे लिए भी अंतिम मृत्यु साबित हो।

त्रिधा पुण्यमयी वैशाख पूर्णिमा का यही प्रेरणा-प्रसाद हमें धर्म धारण करने के अभ्यास में लगाए इसी अभ्यास में हमारा सच्चा कल्याण निहित है।

साधको! आओ, अपना सच्चा कल्याण साधें!

---o---

सत्य का साक्षात्कार

वैशाख पूर्णिमा की वह मंगलमयी रात धन्य हो उठी, जबकि उस युवा योगी सिद्धार्थ गौतम ने बोधिवृक्ष के तले अपने आप पर अनुपम विजय प्राप्त की। सारा अज्ञान अंधकार दूर हो गया, प्रज्ञा की आलोक रश्मियां प्रभास्वर हो उठीं। सूक्ष्म से सूक्ष्म आंतरिक क्लेशों का मैल धुल गया; नितांत विरज-विमल धर्मचक्षु

प्राप्त हो गए। अनेक जन्मों के पूर्व संस्कारों का सारा लेप उतर गया। अंतर्मन पूर्णतया निर्मल निर्लेप हो गया। सभी कर्म-बंधन टूट गए। चित्त सर्वथा बंधन-मुक्त हो गया। भविष्य के प्रति कोई तृष्णा नहीं रह गई, मन पूर्णरूपेन वितृष्ण हो गया। मोह-मूढ़ता, माया-मरीचिका, विभ्रम-विपल्लास का सारा कुहरा दूर हो गया। परम सत्य का साक्षात्कार हो गया। अनंत जन्मों का सत्प्रयत्न सफलीभूत हुआ। बोधिसत्त्व सिद्धार्थ गौतम सम्यक संबुद्ध हो गया।

अनुपम विमुक्ति रस का आस्वादन करते ही सम्यक-संबुद्ध के मुँह से परम हर्ष के उद्गार निकल पड़े। बड़े अर्थपूर्ण हैं ये उदान शब्द! बड़ा भावपूर्ण है यह हृदय उद्गार!

अनेकजातिसंसारं, सन्धाविस्सं अनिब्बिसं।
गहकारकं गवेसन्तो, दुक्खा जाति पुनप्पुनं॥
गहकारकं दिट्ठोसि, पुन गेहं न काहसि।
सब्बा ते फासुका भग्गा, गहकूटं विसङ्खतं।
विसङ्खारगतं चित्तं, तण्हानं खयमज्झगा॥

(धम्मपद १५३-१५४)

सम्यक संबोधि प्राप्त करने के पूर्व ध्यान समापत्तियों द्वारा जो अनेक सिद्धियां प्राप्त हुईं, उनके बल पर सिद्धार्थ गौतम ने अपने अनंत अतीत का दर्शन किया और देखा कि उस अपरिमित काल-प्रवाह में अनगिनत बार इस संसार में जन्म लेता ही रहा हूँ। हर बार जन्म लेने पर मृत्यु की ओर ही दौड़ लगती रही है। यह कौन है जो मुझे बार-बार जन्म दे रहा है? यह कौन है जो हर मृत्यु पर मेरे लिए एक नया जीवन तैयार कर देता है? एक नया घर बना देता है? इस घर बनाने वाले की खोज में कितने जन्मों में कितना समय बिताया और इस खोज में बार-बार दुःखमय जन्म ही लेते रहने पड़े। इस बार ऐसी सम्यक संबोधि प्राप्त हुई कि सारी सच्चाई आंखों के सामने आ गई। देख लिया उस घर बनाने वाले को। अब वह पुनः घर नहीं बना सकेगा मेरा। घर बनाने के लिए जिन सामग्रियों की आवश्यकता होती है, वे सारी नष्ट भ्रष्ट कर डाली हैं मैंने, घर बनाने वाला अब किस से घर बना पायेगा। बिखर गयीं घर की सारी कड़ियां, बिखर गया घर का शिखर स्तंभ। अब कोई आधार नहीं नए घर के बनने का, संस्कारों से पूर्णतया विहीन होकर परम परिशुद्ध हो गया यह चित्त, इस पर लगे हुए अतीत के सारे लेप उतर चुके। आगे कोई लेप लग सकने की संभावना नहीं क्योंकि भविष्य के प्रति मन में अब कोई कामना ही नहीं रह गयी। सारी तृष्णाएं जड़ से उखाड़कर फेंक दी गईं– कामतृष्णा भी, भवतृष्णा भी, विभवतृष्णा भी।

कौन था यह घर बनाने वाला जिसका दर्शन हो गया सम्यक संबुद्ध को? विमुक्ति के इस संग्राम के दौरान उस रात उसे देवपुत्र मार ही के तो दर्शन हुए थे। क्या यही मार घर बनाने वाला है? कौन है यह मार? हमारे अंतर्मन में समाए हुए सभी प्रकार के कुत्सित संस्कारों का व्यक्तिकरण ही तो मार है। सचमुच यह मार ही तो है जो कि बार-बार हमारे लिए नया-नया घर बनाता रहता है। नए-नए जन्म द्वारा नया-नया शरीर उत्पन्न करता रहता है। लेकिन अब यह मार सर्वथा लाचार हो गया, निहत्था हो गया, निर्बल हो गया। अब यह कैसे घर बना सकेगा भला! घर बनाने की सारी सामग्री यानी सारा पूर्व संचित संस्कार सचमुच ही छिन्न-भिन्न हो गया। नया संस्कार बनाने वाली सारी लालसाएं जड़ से उखड़ गईं। भूतकाल के संगृहीत संस्कार और भविष्य के प्रति जागने वाली तृष्णाएं ही तो हमारे लिए नए-नए भव का कारण बनती हैं। ये दोनों खत्म हो जायँ तो नया भव बनना रुक जाय। आग का जलावन समाप्त हो जाय तो आग अपने आप बुझ जाय। बिना जलावन आग किसको लेकर जले?

"खीणं पुराणं नवं नत्थि सम्भवं" पुराना क्षीण हो गया, नया बन नहीं रहा; यही तो विमुक्त-अवस्था थी। यही तो सम्यक संबोधि थी उस बोधिसत्त्व की। यही तो अंधकार पर प्रकाश की विजय थी। मृत पर अमृत की विजय थी। असत पर सत की विजय थी।

परंतु सिद्धार्थ गौतम की इस अनुपम उपलब्धि की बात सुनकर हम प्रसन्न-विभोर हो उठें और धन्य-धन्य कह उठें तो मात्र इतने से हमारा कोई विशेष लाभ हो जाने वाला नहीं है। हमारा वास्तविक लाभ तो स्वयं बोधि प्राप्त करने में है, स्वयं परम सत्य का साक्षात्कार करके विमुक्त हो जाने में है। अतः सिद्धार्थ गौतम की इस महान आत्म-विजय से हम समुचित प्रेरणा प्राप्त करें और स्वयं भी उस रास्ते चलकर, भले थोड़ी बहुत ही सही, इसी जीवन में चित्त-विमुक्ति प्राप्त करें तो ही हम सच्चे सुख के अधिकारी हो सकते हैं। इसलिए समझें कि सिद्धार्थ गौतम की सम्यक संबोधि क्या थी? और कैसे हासिल हुई?

यह कोई अलौकिक चमत्कारपूर्ण घटना नहीं थी जो कि किसी अदृश्य सत्ता की अनुकंपा स्वरूप घटी हो। यह तो मनुष्य के अपने ही अथक परिश्रम की श्रेष्ठतम उपलब्धि थी। किन्हीं कमनीय कपोल कल्पनाओं के सहारे प्राप्त हुआ, यह कोई थोथा बुद्धि किलोल नहीं था और न ही किसी प्रकार की अंधभक्ति का निरर्थक भावावेश था। यह तो सम्यक संबोधि थी, परम सत्य का प्रत्यक्ष साक्षात्कार था। इसे प्राप्त करने के लिए मिथ्या कल्पनाओं का सहारा नहीं लिया गया और न ही मिथ्या भावुकता का मस्तिष्क और हृदय को इन दोनों दूषणों से दूर रखकर ही नितांत निर्मलता प्राप्त की जा सकी। मस्तिष्क ने अपरिमित शुद्ध

ज्ञान हासिल किया और हृदय ने भावावेश की मलीनता से विहीन अनंत विशुद्ध मैत्री और करुणा उपलब्ध की और यह सब स्वावलंबन के बल पर ही किया गया। पराश्रित होकर कोई स्वतंत्र और स्वाधीन कैसे हो सकता है? विमुक्त कैसे हो सकता है? मनुष्य को अपने भीतर की लड़ाई स्वयं ही लड़नी पड़ती है। अपने दुर्गुणों से और अपनी मिथ्या दृष्टियों से स्वयं ही युद्ध करना पड़ता है। इसी लड़ाई में अज्ञान के घने बादल छिन्न-भिन्न होते हैं और उस अंधकार में से सत्य का प्रकाश प्रस्फुटित होने लगता है।

सत्य की खोज में लगा हुआ साधक अंतर्मुखी होकर यह जान लेता है कि उसके भीतर ही भीतर क्या कुछ हो रहा है और जो कुछ हो रहा है उसका यह–यह कारण है। वह जान लेता है कि जो कुछ कारणों से हो रहा है, उसका निवारण अवश्य ही किया जा सकता है। वह जान लेता है कि इस-इस प्रकार उन कारणों का निवारण किया जा सकेगा और ऐसा जान समझकर ही वह उन कारणों का स्वयं निवारण करके बंधनमुक्त होता है और निरभ्र आकाश में चमकते हुए सूर्य के समान प्रभास्वर हो प्रतिष्ठित होता है; यही सच्ची विमुक्ति है।

अनेक जन्मों में और इस अंतिम जन्म में भी अनेक प्रकार की विधियों के अभ्यास में भटकते रहने के बाद उस महामानव ने इसी विमुक्ति के लिए जो सहज सरल तरीका ढूंढ निकाला उसे ही हमारे लिए विरासत के रूप में छोड़ गए। हम उसका सही उपयोग करके वही प्राप्त कर सकते हैं जो कि उन्होंने प्राप्त किया।

क्या था वह तरीका? सच्चाई को उसके सही स्वरूप में देखते रहना, स्थूल सच्चाई को देखते-देखते उसे सूक्ष्मता की पराकाष्ठा तक देख जाना, मोटे-मोटे सघन सत्य का विभाजन विश्लेषण करते-करते उसके सूक्ष्मतम परमार्थ स्वरूप का साक्षात्कार कर लेना। सत्य की यह खोज तभी सफल होती है जबकि पूर्व मान्यताओं और पूर्वाग्रहों के सभी रंगीन चश्मे उतार दिए जायँ और स्वानुभूतियों के स्तर पर जो-जो सत्य सम्मुख आता जाय, उसे यथाभूत स्वीकार करते चलें। यही यथाभूत ज्ञान दर्शन है जो कि परम सत्य का साक्षात्कार कराता है। इसमें न कल्पना के लिए गुंजाइश है और न ही भावावेश के लिए। बोधिसत्व ने एक शोध वैज्ञानिक की तरह इन दोनों को ही दूर रखकर परम सत्य की खोज की और सफल हुए।

खुली प्रकृति में सिद्धार्थ गौतम का जन्म हुआ, खुली प्रकृति में ही उन्होंने सम्यक संबोधि उपलब्ध की और खुली प्रकृति में ही महापरिनिर्वाण प्राप्त किया, जीवन की तीनों महत्त्वपूर्ण घटनाएं खुली प्रकृति में ही घटीं। अतः उन्होंने जीवनभर खुली प्रकृति का खूब ही गहन अध्ययन किया। उन्होंने देखा कि इस जंगम जगत में सब कुछ गतिमान ही गतिमान है, कुछ भी तो जड़ नहीं है।

प्रतिक्षण सर्वत्र कुछ न कुछ घटित हो रहा है। प्रतिक्षण कुछ न कुछ बन ही रहा है, बदल ही रहा है। बदलते रहना, बनते रहना, यही इस संसार का स्वभाव है। इसीलिए यह भव संसार है जिन्हें हम जड़ भौतिक पदार्थ कहते हैं वे भी जंगम ही हैं। अत्यंत सूक्ष्म स्तर पर उनमें भी प्रतिक्षण परिवर्तन ही परिवर्तन हो रहे हैं। जिसे हम चैतन्य कहते हैं, वह भी प्रतिक्षण परिवर्तनशील ही परिवर्तनशील है। जो कुछ बाहर घट रहा है वैसा ही प्रत्येक प्राणी के भीतर भी प्रतिक्षण घट ही रहा है, कुछ न कुछ परिवर्तन हो ही रहा है। इसी सत्य को उन्होंने अपने अंदर अंतर्मुखी होकर देखा। प्रकृति का सारा रहस्य अनावृत्त हो गया। यह शरीर-स्कंध और ये चेतन-चित्त स्कंध जिनके साथ हमने तादात्म्य स्थापित कर लिया है और जिन्हें 'मैं' 'मैं' 'मेरा' 'मेरा' कहते हुए उलझते ही जा रहे हैं, मूंज की रस्सी की तरह अकड़ते ही जा रहे हैं, उनका सारा सत्य स्वभाव प्रत्यक्ष हो गया ऐंद्रिय और लोकीय जगत की इन सूक्ष्मतम सच्चाइयों के मरणशील स्वभाव का साक्षात्कार तो हुआ ही, उनसे परे इंद्रियातीत– लोकोत्तर निर्वाण के अमृत स्वभाव का भी साक्षात्कार हो गया। इस प्रकार प्रत्यक्ष अनुभूतियों के स्तर पर दुःख का साक्षात्कार हुआ, दुःख के कारण का साक्षात्कार हुआ और इन कारणों को दूर करके नितांत दुःख-विमुक्त स्थिति का भी साक्षात्कार हो गया। आओ, हम भी स्वानुभूतियों के स्तर पर स्वयं देखें, समझें कि हमारा यह शरीर स्कंध क्या है? यह चित्त-चेतन स्कंध क्या है? और इन दोनों की मिली-जुली यह जीवनधारा क्या है? इसमें किस प्रकार परिवर्तन होते रहते हैं? किस प्रकार ना-समझी के कारण भीतर ही भीतर गांठें बंधती रहती हैं? उलझने बढ़ती रहती हैं? किस प्रकार इन गाठों को बंधने से रोका जा सकता है? किस प्रकार पुरानी गाठें खोली जा सकती हैं? किस प्रकार सारी उलझने सुलझाई जा सकती है? और किस प्रकार परमसत्य का साक्षात्कार करके नितांत विमुक्ति रस का आस्वादन किया जा सकता है? वैशाख पूर्णिमा की यही पावन प्रेरणा है इसका लाभ लें।

हम भी अपने भीतर समाए हुए गृह निर्माता देवपुत्र मार का दर्शन करें और उसे पराजित कर निबल निहत्था बना दें। हम भी अपने विकारों का दर्शन करें और उन्हें क्षीण बना दें। मुक्ति इसी में है– मंगल इसी में है।

(वर्ष २ बुद्धवर्ष २५१६ वैशाख पूर्णिमा दि. १७-०५-७३ अंक ११)

रूप कथा (१)

हमने देखा कि सभी दुःखों का कारण तृष्णा है, आसक्ति है। परंतु इसे और स्पष्टतया समझ सकने के लिए हमें इस सच्चाई की अधिक गहराइयों में उतरना होगा। इससे संबंध रखने वाले अन्य अनेक तथ्यों का और अधिक अन्वेषण-विश्लेषण करना होगा।

पहले यह देखना होगा कि आखिर यह तृष्णा होती किसे है? इस तृष्णा की वजह से दुःखी कौन हो जाता है? यह कौन है? क्या है? जिसे हम 'मैं' 'मैं' माने जा रहे हैं? 'मेरा' 'मेरा' माने जा रहे हैं? जिसके साथ अहंभाव स्थापित करके यह तृष्णा जागती है? जिसके साथ ममभाव स्थापित करके यह आसक्ति उभरती है?

सच्चाई को जानने के लिए हमें अपने आपको देखना होगा। आत्म-निरीक्षण और आत्म-समीक्षण द्वारा यह जानना होगा कि 'मैं' क्या हूं? 'मैं' कौन हूं? 'मैं' कैसा हूं?

इस आत्म गवेषणा की ओर पहला कदम उठाते ही हमारे सामने यह स्थूल शरीर आता है, जिसके प्रति हमारा अस्मिताभाव अत्यंत स्पष्ट है। ज्ञान-विज्ञान की अनेक पोथियां पढ़ लेने के कारण, धर्म दर्शन के अनेक उपदेश सुन लेने के कारण, बौद्धिक स्तर पर भले हम यह मानते चल रहे हैं कि यह काया 'मैं' नहीं हूं, यह काया 'मेरी' नहीं है, देहात्म बुद्धि गलत है, अनर्थकारी है, परंतु ये सब तो बौद्धिक लेप हैं जो कि हमने बार-बार के बुद्धिविलास द्वारा अपने मन के ऊपरी सतह पर लगा लिए हैं। वास्तविक जीवन में इन लेपों का कोई असर नहीं होता। वहां तो हम इस शरीर को ही 'मैं' मानकर चल रहे है, 'मेरा' मानकर चल रहे हैं। इस शरीर के सुख-दुःख को ही 'मेरा' सुख-दुःख मानकर चल रहे हैं। कितना गहरा तादात्म्यभाव है हमारा इस शरीर के साथ! दुनियादारी के पारस्परिक व्यवहार संबंधों के लिए 'मैं' 'तू' का शाब्दिक प्रयोग करना अलग बात है परंतु यहां तो आत्मभाव के कारण इस शरीर के साथ कितनी गहरी आसक्ति हो गयी है।

अतः आओ, पहले इस शरीर को ही देखें कि यह क्या है? कैसा है? किस गुण-धर्म-स्वभाव वाला है? इसके सत्य-स्वरूप का सही अन्वेषण करने के लिए हमें इसके टुकड़े-टुकड़े करके देखना होगा तभी हम इसके प्रज्ञप्ति स्वरूप की माया को दूर करके इसका परमार्थ स्वरूप देख समझ पायेंगे। भौतिक जगत में यह जो कुछ हमें स्थूल-स्थूल, सघन-सघन दीख पड़ता है, उसी को प्रज्ञप्ति-सत्य कहते हैं। प्रज्ञप्ति सत्य माने ऐसा सत्य जो हमारे स्थूल नेत्रों के लिए और स्थूल बुद्धि के लिए

स्पष्ट-प्रत्यक्ष प्रज्ञापित है। ऐसा स्थूल सत्य जिसे देखने समझने में किसी भी सामान्य व्यक्ति को कोई कठिनाई नहीं होती। परंतु इसी प्रज्ञापित सत्य का विश्लेषण करते-करते जब हम उस स्थिति तक पहुँच जायं, जहां पहुँचकर उसका और अधिक विश्लेषण न हो सके तो वही उस स्थूल सत्य की सूक्ष्मतम गहराई है, उसी को परमार्थ सत्य कहेंगे। हर प्रज्ञापित सत्य में परमार्थ सत्य ऐसे ही समाया हुआ है जैसे कि तिलों में तेल अथवा गन्ने में रस। ऊपर-ऊपर से देखने में न तिलों में तेल दिखता है और न गन्ने में रस। परंतु जिसे तेल प्राप्त करने की या रस प्राप्त करने की कला विदित है वह तो प्राप्त कर ही लेता है। इसी प्रकार जो प्रज्ञापित प्रत्यक्ष सत्य के भीतर समाए हुए परमार्थ परोक्ष सत्य का साक्षात्कार कर सकने की विधि जानता है, वह तो सरलता से ऐसा कर ही लेता है। विपश्यना साधना द्वारा हम इसी विधि का प्रयोग करके प्रज्ञापित से परमार्थ की ओर, प्रत्यक्ष से परोक्ष की ओर, स्थूल से सूक्ष्म की ओर, दृश्य से अदृश्य की ओर, ज्ञात से अज्ञात की ओर, सिक्के के इस पहलू से उस पहलू की ओर, यात्रा करते चलते हैं और अंततः परम सत्य का साक्षात्कार कर ही लेते हैं।

इस स्थूल सत्य से सूक्ष्म सत्य की ओर जैसे-जैसे बढ़ते जाएंगे, वैसे-वैसे यह बात अधिक स्पष्ट होती जायगी कि पदार्थों का यह ठोसपन एक ऐसी माया पैदा करता है जो कि उसके सही स्वरूप और सही स्वभाव को देखने समझने में बहुत बड़ी बाधा है। सचमुच घनत्व एक माया है, मरीचिका है, धोखा है, विपल्लास है, भ्रम है, भ्रांति है। जैसे ही घन संज्ञा नष्ट होती है वैसे ही माया का यह पर्दा विदीर्ण होता है और परम सत्य प्रस्फुटित होने लगता है। जब मायावी स्थूल सघन टूटता है और अनावरित सूक्ष्म सत्य अपने सही स्वरूप में सामने आता है तो स्वतः आसक्ति टूटती है। अंधेरे में रहकर जिसे हमने कीमती हीरा समझकर अपनी मुट्ठी में भींच लिया था, प्रकाश में आते ही उसे निरा कंकड़ देखकर उसके प्रति उत्पन्न हुआ मूढ़तापूर्ण चिपकाव अपने आप छूट जाता है। इसीलिए प्रज्ञप्ति से परमार्थ तक की यह यात्रा अंधकार से प्रकाश तक की ही यात्रा है। मोह-मूढ़ता से विशुद्ध बोधि तक की ही यात्रा है, आसक्ति के बंधनों से विमुक्ति तक की ही यात्रा है।

जब तक हम अपने ठोस शरीर का उसके सघन संश्लिष्ट रूप में ही दर्शन करते हैं, तब तक हजार न चाहते हुए भी उसके साथ 'मैं' 'मेरे' की आसक्ति बनी ही रहती है। इसी प्रकार अन्य ठोस संश्लिष्ट शरीर के प्रति भी 'तू' 'तेरे' और 'वह' 'उसके' का गहरा भाव बना ही रहता है। इससे छूटने के लिए ही काया में कायानुपश्यना की यह विभज्जवादी प्रक्रिया है। शोध-विज्ञान का विद्यार्थी सदा विभज्जवादी ही होता है। संश्लिष्ट माया को दूर करता हुआ, वह विश्लेषण कर करके ही सत्य की तह तक पहुँचता है। सत्य की सही खोज– जुड़े हुए को

टुकड़े-टुकड़े करके देखने से ही होती है, मिले हुए को अलग-अलग करके देखने से ही होती है, संगृहीत समुच्यय को पृथक–पृथक करके देखने से ही होती हैं।

जब हम किसी को देखते हैं तो उसका स्थूल शारीरिक प्रज्ञप्ति स्वरूप ही देखते हैं और उसे देखकर कहते हैं यह पुरुष है, यह स्त्री है, यह घोड़ा है, यह बछड़ा है आदि आदि। पुरुष या स्त्री है तो रामू है या सीता है, श्यामू है या गीता है आदि आदि। यह मोटा है, यह पतला है, यह काला है, यह गोरा है, यह भारी है, यह हल्का है, यह टेढ़ा है, यह सीधा है, प्रज्ञप्ति शरीर की इसी पहचान के बल पर हम मानते हैं कि यह 'मै' हूँ, यह 'मेरा' शरीर है, यह 'तू' है, यह 'तेरा' शरीर है, यह श्यामू है, यह श्यामू का शरीर है। अहं-ममं, तुवं-तुम्हे, सो-तस्स, मैं-मेरा, तू-तेरा, वह-उसका की मुहारिनी इसी स्थूल सत्य से आरंभ होती है और अंतर्मन की गहराइयों में उतर कर गहन आसक्ति में बदल जाती है। जब तक हम इस स्थूल प्रज्ञप्ति सत्य की परिधि में ही बँधे हुए हैं, तब तक सत्य का सही स्वरूप हमें दीख नहीं सकता और तब तक 'मैं' 'मेरे' और 'तू' 'तेरे' की आसक्तिमयी माया हमसे छूट नहीं सकती।

तो आओ, इस दृश्यमान स्थूल संश्लिष्ट शरीरपिंड का खंड-खंड करके देखें और जानें कि यह क्या है? इसमें है क्या? किन-किन अवयवों से बना है यह? किन-किन पदार्थों से निर्मित है यह?

ऊपरी-ऊपरी तौर पर हम देखते हैं कि इस शरीर के दो हाथ हैं, दो पांव हैं, दो आंखें हैं, दो कान हैं, नाक है, होठ हैं, छाती है, पेट है, पीठ है, कमर है आदि-आदि यह बड़ा ही स्थूल विभाजन हुआ इस शरीर का इतना विभाजन करके भी हम बहुत स्थूल प्रज्ञप्ति क्षेत्र में ही हैं। क्योंकि इस विभाजन के बावजूद मेरा हाथ– मेरा हाथ ही है, रामू का हाथ– रामू का हाथ ही है। आखिर यह हाथ, पांव, धड़ आदि भी किससे बने है? क्या उस सूक्ष्मतर स्तर पर भी रामू के और मेरे शरीर में कोई पारस्परिक भेद है? इसे देखने के लिए शरीर का और विश्लेषण करें। अच्छा हो अस्पताल के किसी मुर्दा-घर में जब डाक्टर द्वारा चीर-फाड़ करके किसी शव की परीक्षा की जा रही हो, उस समय हम उपस्थित हों तो देखेंगे कि चाहे हाथ हो या पांव, सिर हो या धड़, बाहर से भिन्न-भिन्न आकृतियां लिए हुए हैं पर भीतर से सब में एकरूपता ही है। शरीर को चीर कर देखने पर हमारे सामने उसका बाहर-भीतर का स्पष्ट, विभक्त और सूक्ष्मतर सत्य स्वरूप प्रकट होता है। जिसे हम शरीर कह रहे हैं, वह क्या है? वह केश हैं, लोम हैं, नाखून हैं, दांत हैं, त्वचा है, मांस है, स्नायु है, हड्डी है, हड्डी के भीतर की मज्जा है; गुरदा है, हृदय है, लीवर है, तिल्ली है, फेफड़ा है, मोटी-पतली आंत है, पेट में खायी-पी,

चबायी-चाटी वस्तुएं हैं, मस्तिष्क की मज्जा राशि है, पित्त है, कफ है, पीप है, लहू है, पसीना है, मेद है, आंसू है, चरबी है, थूक है, सेंडा है, लार है, पाखाना है, पेशाब है। इस शरीर के दर्शन से लगेगा कि यह तो जैसा मेरा है, वैसा ही रामू का है, वैसा ही श्यामू का है, वैसा ही हर किसी का है। मांस-मांस ही है, लहू-लहू ही है, पाखाना-पाखाना ही है, उसके साथ तादात्म्य स्थापित करने को जी ही नहीं चाहेगा।

लेकिन इतने से ही हम परमार्थ सत्य तक नहीं पहुँचे। अभी भी प्रज्ञप्ति सत्य के क्षेत्र में ही विचरण कर रहे हैं। मांस ठोस मांस जैसा ही है, हड्डी ठोस हड्डी जैसी ही है। जीव-वैज्ञानिक यह बतायगा कि यह मांस और यह हड्डी भी असंख्य नन्हें-नन्हें जीव-कोषों से बनी हुई हैं। परंतु इन नन्हें जीवकोषों से भी सूक्ष्म कोई और सच्चाई है; इस सच्चाई का जब तक स्वयं साक्षात्कार न हो जाय, तब तक सूक्ष्मतम सत्य का साक्षात्कार नहीं हुआ। इसी सूक्ष्मतम अवस्था तक पहुँचने के लिए ही विपश्यना साधना की जाती है। काया में कायानुपश्यना, वेदना में वेदनानुपश्यना द्वारा काया की सूक्ष्मतम परमाणुविक इकाइयों तक पहुँच सकते हैं और उस सूक्ष्मतम स्तर पर होने वाली संवेदनाओं के बल पर उस सत्य स्थिति की स्वयं अनुभूति कर सकते हैं। इस स्वानुभूति में ही प्रज्ञप्ति सत्य की सारी माया छिन्न-भिन्न होती है, पहले नहीं, घन संज्ञा नष्ट होने पर ही स्थूल ठोसपने की भ्रांति दूर होती है। मांस हो या हड्डी, त्वचा हो या खून, सारे दैहिक अवयव, सभी देहगत पदार्थ एक ही जैसे अत्यंत सूक्ष्मातिसूक्ष्म भौतिक कणों से बने हुए हैं। विपश्यना प्रज्ञा के बल पर अपने भीतर जब ऐसे कण-पुंजों की स्वानुभूति होने लगे तो परम सत्य के उस धरातल पर पहुँच जाते हैं, जहां कि संघटित स्थूल का कोई भान ही नहीं रहता। जहां स्थूल पांव अथवा स्थूल हाथ का अलगाव नहीं रहता। जहां स्थूल मांस और स्थूल हड्डी का भेद नहीं रहता, जहां सारा आत्मभाव विलीन हो जाता है। न 'मैं' रहता है, न 'मेरा', न 'तू' रहता है न 'तेरा', न 'वह' रहता है, न 'उसका'। उस अनात्म बोध की स्थिति में आसक्ति टिक ही नहीं सकती, जहां कि समग्र देहपिंड अगणित अट्ठकलापों का पुंज ही पुंज प्रतीत होने लगता है।

क्या है यह अट्ठकलाप? कलाप कहते हैं समूह को, अट्ठकलाप माने आठ का समूह। किन आठ का! पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु– इन चार महाभूतों का और इन चार महाभूतों के अपने-अपने चार अलग-अलग गुण-धर्म-स्वभावों का। अत्यंत सूक्ष्म है यह कलाप; अणु से भी सूक्ष्म, परमाणु से भी सूक्ष्म, भौतिक जगत की सूक्ष्मतम इकाई है यह। परंतु फिर भी इन आठों को साथ समेटे हुए है। हर कलाप में ये आठों संघटित हैं, विघटित नहीं होते, साथ हैं; अलग नहीं होते, संयुक्त हैं; विभक्त नहीं होते। यह अट्ठकलाप अविभाज्य, अभेद्य और अटूट है– इसका अर्थ

यह नहीं कि इस इकाई में कोई ऐसा ठोस सार-तत्त्व है जो कि अजर है, अमर है, नित्य है, शाश्वत है, ध्रुव है। इसके सर्वथा विपरीत ये कलाप स्वभाव से ही अनित्य हैं, नश्वर हैं, भंगुर हैं, परिवर्तनशील हैं, इसलिए इन्हें रूपकलाप भी कहते हैं। आज रूप का सर्वमान्य अर्थ है– दृश्यमान आकार। इन कलापों के समूह संगठन से ही भिन्न-भिन्न रूप आकार तैयार होते हैं; इस माने में इन्हें रूप कहा जा सकता है। परंतु वस्तुतः जिस अर्थ में मूलतः इन्हें रूप कहा गया, वह सर्वथा भिन्न है। २५वीं शताब्दी पूर्व के भारत की जनभाषा में 'रुप्पन' कहते थे उखड़ने को, नष्ट होने को, विकृत होने को। अतः **'रुप्पं वा रूपं'** विकृत होने के अर्थ में रूप शब्द का इस्तेमाल किया गया था। विकृत होने के लक्षण वाला होने के कारण ही रूप "रूप" कहलाता था। **रुप्पतीति रूपं सीतुण्हादिविरोधिपच्चयेहि विकारमाप्पज्जति,** शीत-उष्ण आदि विरोधी प्रत्ययों से विकार को प्राप्त होता है, इसीलिए रूप हैं।

प्रत्येक रूप-कलाप प्रतिक्षण अगणित बार उत्पन्न हो-होकर नष्ट होते रहता है यह इसका नैसर्गिक स्वभाव है। इसी प्रकार अनेक रूप-कलापों का पुंज भी समूहगत उत्पन्न होता है, जर्जरित होता है और नाश को प्राप्त होता है, यही इसका नैसर्गिक स्वभाव है। जगत के सभी देहधारी प्राणी बीच-बीच में आकाश तत्त्व की शून्य पोल लिए हुए इन्हीं रूपकलापों से बने शरीर वाले हैं। अतः रूप के बने शरीर, इस कारण से या उस कारण से, देर-सबेर विकृत होकर विनाश को प्राप्त होते ही हैं। सर्दी-गर्मी से विकृत होकर नष्ट होते हैं या भूख-प्यास से विकृत होकर नष्ट होते हैं या विषैले जंतुओं के दंश से विकृत होकर नष्ट होते हैं अथवा अन्य किसी कारण से विकृत होकर नष्ट होते हैं। ऐसा कोई प्राणी नहीं, जिसका शरीर विकृत न हो, विनष्ट न हो। सजीव प्राणियों के शरीर ही नहीं, प्रत्युत समस्त निर्जीव भौतिक पदार्थ भी इन्हीं रूप कलापों से बने हुए हैं और इस कारण ऐसा कोई भौतिक पदार्थ नहीं जो कि जीर्ण होकर नष्ट न हो जाता हो। ऐसी ही प्रकृति है, इस रूप कलाप की और इन कलाप समूहों की।

भौतिक जगत की अंतिम इकाई होने के कारण ही इन्हें परमार्थ सत्य कहा गया। परमार्थ सत्य का अर्थ नित्य, ध्रुव कदापि नहीं। इन्हें अविभाज्य भी महज इसलिए कहा गया कि किसी भी अट्ठकलाप में से अग्नि तत्त्व, जल तत्त्व, पृथ्वी तत्त्व और वायु तत्त्व अथवा इन तत्त्वों के भिन्न-भिन्न गुण-धर्म अलग नहीं किए जा सकते। ऐसा नहीं होता कि अग्नि तत्त्व का कण अलग हो और जल तत्त्व आदि का अलग और ये सब जुड़कर अट्ठकलाप बन गए हों। चारों महाभूत एक साथ ही उत्पन्न होते हैं, एक साथ ही रहते हैं और एक साथ ही विनष्ट होते हैं, इसीलिए सहजात हैं, सहभू हैं, सहमृत हैं। ऐसा हो नहीं सकता कि कोई एक

महाभूत अन्य तीनों से जुदा रह सके। हां, इन कलाप समूहों में समय-समय पर अलग-अलग महाभूतों की कामोवेश तीव्रता और महत्ता प्रस्फुटित होती रहती है। कभी अग्नि तत्त्व की तीव्रता प्रकट होती है, तो तापमान की महत्ता महसूस होती है, कभी पृथ्वी तत्त्व की तीव्रता प्रकट होती है तो भारीपन या हल्केपन की महत्ता महसूस होती है आदि आदि। आखिरकार यह परमाणु कण या अट्ठकलाप किसी सांचे में ढालकर निर्मित की गई ऐसी जड़ ईंटे तो हैं नहीं, जिनमें कि आठों पदार्थ एक निश्चित मात्रा और परिमाण में मिश्रित होने के कारण सदैव एक जैसी बनी रहेंगी। यदि ऐसा होता तो ईंटों से तैयार हुआ यह भौतिक जगत भी सदा एक जैसा जड़ीभूत बना रहना चाहिए था; परंतु ऐसा तो होता नहीं। सच्चाई यह है कि समग्र भौतिक जगत– यह पृथ्वी, यह चांद, यह सूर्य, यह ग्रह-उपग्रह, यह नक्षत्र-सितारे, अनंत अंतरिक्ष के यह अनगिनत सूर्य-मंडल प्रतिक्षण परिवर्तित हो ही रहे हैं। क्योंकि छोटे से छोटे अथवा बड़े से बड़े सारे भौतिक पदार्थ इन सूक्ष्मतम रूप कलापों से ही बने हैं जो कि स्वयं प्रतिक्षण परिवर्तनशील हैं। रूप कलापों के परिवर्तनशील स्वभाव का स्वानुभूतिजन्य साक्षात्कार ही सही विपश्यना है, सही विदर्शना है, यही रूप जगत का सूक्ष्मतम सत्य-दर्शन है। माया-विहीन, मरीचिका-विहीन परम सत्य का यथार्थ दर्शन!

(वर्ष २ बुद्धवर्ष २५१७ ज्येष्ठ पूर्णिमा दि. १५-०६-७३ अंक १२)

पत्रिका संग्रह भाग १

(जुलाई १९७३ से जून १९७४ तक)

रूप कथा (२)

हमने देखा कि भौतिक जगत के सूक्ष्म से सूक्ष्म कण को रूप-कलाप क्यों कहा गया! कलाप इसलिए कि भौतिक पदार्थ की छोटी से छोटी इकाई होते हुए भी यह अनेक धातुओं और स्वभावों का समूह मात्र है। और रूप इसलिए कि प्रतिक्षण भंग होते रहना इसकी प्रकृति है।

अनंत देश और अनंत काल की लघुतम इकाई होने के कारण इस रूप-कलाप को किसी आधुनिक विद्वान ने 'बिंदु – क्षण' का नाम दिया। बिंदु कहते हैं देश की सूक्ष्मतम इकाई को और क्षण कहते हैं काल की सूक्ष्मतम इकाई को। भौतिक जगत की यह लघुतम इकाई, इस अनंत अंतरिक्ष में, एक नन्हें से क्षण के लिए, एक घटना की तरह घटकर खत्म हो जाय, एक चिनगारी की तरह जलकर बुझ जाय, तो उसे और क्या कहा जाय भला? रिक्त आकाश में एक नन्हें से कण का उत्पन्न होकर विलीन हो जाना कोई विशेष महत्त्व नहीं रखता। जुगनू की तरह एक चिनगारी का चमक कर बुझ जाना कोई मायने नहीं रखता और न ही कोई भ्रम पैदा करता है। परंतु यदि एक से एक सटी हुई ऐसी करोड़ों चिनगारियां एक साथ उत्पन्न होकर क्षण-भर में नष्ट हो जायँ तो एकाएक बिजली की सी चमक पैदा करके हमें चकाचौंध कर देती हैं। इसी प्रकार जब इस समूह की प्रत्येक चिनगारी के नष्ट होते ही बिना किसी अंतराल के दूसरी चिनगारियां उसके स्थान पर प्रकट होती चली जायँ और यूं नई-नई चिनगारियों के समूह के नष्ट और उत्पन्न होते रहने का अविरल तांता चिरकाल तक बना रहे, तब इस प्रकाश-पुंज में हमें स्थिरता और अक्षुण्णता का भ्रम पैदा हो जाता है। वैसे ही जैसे कि जलता हुआ सूरज वस्तुतः असंख्य कोटि चिनगारियों के प्रतिक्षण उत्पन्न और नष्ट होते रहने का घन-समूह मात्र है, पर हमें वह एक नित्य, ध्रुव, शाश्वत तेजपुंज जैसा प्रतीत होता है। ठीक इसी प्रकार दुनिया की प्रत्येक छोटी या बड़ी भौतिक वस्त ऐसे रूपकणों से बनी हैं जो कि घनीभूत समूह में उत्पन्न हो-होकर नष्ट होती रहती है और हमारे लिए उस वस्तु के ठोस स्थिर होने का भ्रम पैदा करती रहती है।

अनेक प्रकार की भ्रम-भ्रांतियों से यह दुनिया भरी पड़ी है। दूरी की वजह से उत्पन्न होने वाला भ्रम, सूक्ष्मता की वजह से उत्पन्न होने वाला भ्रम, तीव्र गति की वजह से उत्पन्न होने वाला भ्रम, घनसमूह से आच्छादित शून्य का दर्शन न होने की वजह से उत्पन्न होने वाला भ्रम। ऐसे ही और भी न जाने कितने कारणों से उत्पन्न होने वाले भ्रमजाल हमें विस्मित – विमूढ़ करते ही रहते हैं।

हमारी इन पार्थिव आंखों की देखने की क्षमता सीमित है। इस कारण दूर

की वस्तु दीखती ही नहीं और दीखती भी है तो भ्रामक रूप में। यह पृथ्वी नारंगी की तरह गोल है, परंतु हमारी आंखों के लिए इसका क्षेत्रफल बहुत विस्तृत होने के कारण हमें इसके चपटी होने का भ्रम होता है। दूरी के कारण ही क्षितिज पर पृथ्वी और आकाश के मिलने का भ्रम होता है। समानान्तर बिछी हुई रेल की पटरियां दूरी के कारण ही आगे जाकर परस्पर मिल जाने का भ्रम पैदा करती हैं। इसी प्रकार हवाई जहाज से यात्रा करते हुए बहुत ऊंचाई से हम किसी बड़े सरोवर को देखते हैं तो भ्रम पैदा होता है और वह हमें धरती पर पड़ा हुआ एक ठोस स्थिर दर्पण का चमकीला टुकड़ा नजर आता है। इसी प्रकार उसकी तटवर्ती भूमि भी ठोस जमीन की एक पट्टी जैसी ही नजर आती है। परंतु यह दूरी त्यागकर जब हम धरती पर उतरते हैं तब उस सरोवर के समीप जा पहुँचने पर यह भ्रम दूर हो जाता है। देखते हैं कि वह सरोवर स्थिर-कठोर नहीं, बल्कि तरल-तरंगित है; असंख्य जलबिंदुओं का समूह है और प्रतिक्षण लहरा रहा है। इसी प्रकार उस तटवर्ती भूमि पर अपने घुटने टेकते हैं तब देखते हैं कि वह असंख्य नन्हें बालू-कणों से बनी हुई है। दूरी के कारण पैदा हुई माया इस प्रकार समीप जाने पर विलीन हो जाती है।

परंतु यह नन्हा सा बालूकण भी अपनी अलग माया लिए हुए है। अत्यंत नजदीक आ जाने पर भी मानव की नंगी आखें इसके सही स्वरूप को देख सकने में सर्वथा असमर्थ हैं। अच्छी से अच्छी खुर्दबीन की सहायता भी काम नहीं आती। एक नन्हें से बालूकण में कितनी बड़ी संख्या में छोटे-छोटे परमाणुकण (Atoms) समाए हुए हैं? इन्हें गिन सकना आसान नहीं। कहते हैं कि किसी समुद्र तट पर जितनी संख्या में बालूकण हैं उतने ही परमाणुकण (Atoms) उस एक नन्हें से बालूकण में हो सकते हैं। आज का एक वैज्ञानिक बताता है कि इन नन्हें-नन्हें परमाणुकणों (Atoms) को एक से एक सटाकर आधा इंच लंबी सीधी रेखा पर रखें तो इतनी सी दूर में ये लगभग दस करोड़ की संख्या में समा जायेंगे। और जिन रूपकलापों की हम बात कर रहे हैं, वे तो इन परमाणुकणों से भी अधिक सूक्ष्म हैं।

नन्हें से बालूकण की तरह यह नन्हीं सी जलबूंद भी अपनी माया लिए हुए हैं। कितने परमाणुकण समाए हुए हैं इसमें? एक समुद्र में जितने ग्लास पानी हैं उतने परमाणु-जलकण एक ग्लास पानी में हो सकते हैं। एक वैज्ञानिक बताता है कि एक औंस पानी में लगभग-(एक के बाद २४ बिंदु लगाएं) १,०००,०००,०००,०००,०००,०००,०००,००० परमाणु-जलकण (Water Molecules) हैं। और इस पानी के हर कण (Molecule) में एक

ऐटॉम आक्सीजन का और दो ऐटॉम हाइड्रोजन के समाए हुए हैं। और एक-एक ऐटॉम में कितने रूपकलाप समाए हुए हैं – इनका हिसाब अलग। रूपकलापों की सूक्ष्मता की ही यह माया है जो कि हमें उनका सत्य स्वरूप देखने से वंचित रखती है। विभिन्न प्रकार के रूपकलापों के विभिन्न भांति के समूह, विभिन्न भौतिक पदार्थों की ठोस आकृतियां पैदा करते हैं जो कि स्थूल होने के कारण हमारी इन पार्थिव आंखों से देखी जा सकती हैं। परंतु इन भिन्न-भिन्न स्थूल आकृतियों में समाए हुए सूक्ष्म-सूक्ष्म रूपकलापों को देख सकना असंभव है। रूपकलापों के इन समूहों को ही पालि भाषा में घनसमूह कहा गया। विपश्यना-प्रज्ञा-जन्य बोधि-नेत्रों द्वारा ही इस घनसमूह की माया विदीर्ण कर सूक्ष्म सत्य का स्वयं साक्षात्कार किया जाता है।

घनसमूह की ही भांति घनसंतति की मरीचिका भी बड़ा भ्रम पैदा करती है। घनसंतति तीव्रगति की माया लिए हुए है और इसी कारण सत्य-दर्शन में बाधा उत्पन्न करती है। इस कमरे का पंखा तेजी से घूम रहा हो तो हम गिन नहीं पाते कि इसमें कितनी ताड़ियां हैं। हवाई जहाज का पंखा और अधिक तीव्र गति से घूमता है तो हमें संदेह होने लगता है कि इसमें ताड़ियां हैं भी या नहीं। रात के अंधेरे में एक जलती मशाल हाथ में लेकर मैं उसे देर तक जल्दी-जल्दी गोलाकार घुमाऊं तो दूर खड़े किसी व्यक्ति को भ्रम होगा कि यह एक स्थायी अग्नि-वृत्त है। पृथ्वी अपनी धुरी पर पश्चिम से पूर्व की ओर घूमती रहती है और भ्रम हमें यह होता है कि सूरज पूर्व में उगता है और पश्चिम में डूबता है। पावस की रात में पवन-वेग से बादल दौड़ते हैं और भ्रम यह होता है कि चांद ही विपरीत दिशा में दौड़ रहा है। तेज रेलगाड़ी में यात्रा करते हुए हम निकटवर्ती पेड़-पौधों और तार के खंभों को पीछे की ओर भागते देखते हैं जबकि सच्चाई यह है कि वे स्थिर हैं ओर हम ही गाड़ी में बैठे आगे बढ़ रहे हैं। यह सब तीव्र गति की माया से उत्पन्न हुए भ्रम हैं। हम सिनेमा में रजतपट पर किसी अभिनेता द्वारा कोई एक शारीरिक क्रिया संपन्न हुई देखते हैं। वस्तुतः उस एक छोटी सी क्रिया पूरी करने के लिए सैंकड़ों चित्र लिए जाते हैं। ये ही चित्र एक के बाद एक बिना किसी अंतराल के त्वरित गति से चलचित्र के रूपमें प्रदर्शित होते हैं तो हमें उस क्रिया की एकता का भ्रम होता है, जबकि वस्तुतः उस एक क्रिया में छोटी-छोटी सैकड़ों क्रियाएं समायी हुई हैं। रात के प्रथम पहर में मैं अपने कमरे में जो मोमबती या दीपक जलाकर सोता हूं, वही प्रकाश रात भर कायम रहता है, यह भ्रम मेरे मन में पैदा होता है। वस्तुतः तथ्य यह है कि उस दीपक या मोमबत्ती की एक-एक लौ प्रतिक्षण ऊपर की ओर उठती है और विलीन होती जाती है तथा नई-नई लौ पैदा होकर उसी में धँसती हुई उसका स्थान लेती रहती है और मुझे उसी लौ के निरंतर कायम रहने का भ्रम पैदा होता है। यह जो बिजली की ट्यूबलाइट इतनी देर से निरंतर प्रकाशमान है; हमें

लगता है कि इसमें का प्रकाश स्थिर है, कायम है, जैसे कि आरंभ में कहा गया – एक अकेली चिनगारी उत्पन्न होकर और अपनी चमक दिखाकर तुरंत नष्ट हो जाय तो उसके सही स्वरूप को पहचान लेना आसान होता है। अनेक चिनगारियां एक साथ, एक ही स्थान पर, एक ही बार चमक कर विलीन हो जायँ तो भी गनीमत हो। परंतु एक छोटी सी सीमित जगह में कोटि-कोटि चिनगारियां प्रतिक्षण उत्पन्न हो-होकर निरंतर नष्ट होती चली जायँ और नष्ट हो-होकर निरंतर उत्पन्न होती चली जायँ तो घनसमूह के कारण ही नहीं, बल्कि घनसंतति के कारण सदा एक जैसे कायम रहने वाले प्रकाशपुंज का भ्रम पैदा करेंगी ही। घनसमूह इस माने में कि इन चिनगारियों का समूह इतना घनीभूत है कि इनके बीच का आकाश हमें दीख नहीं पाता। घनसंतति इस माने में कि एक के नष्ट होने पर उसी की संतान स्वरूप दूसरी चिनगारी इतनी शीघ्र उत्पन्न हो जाती है कि दोनों के बीच का कोई मध्यान्तर हमें नजर नहीं आता। क्षेत्र में भी एक के साथ एक सटी होने के कारण और काल में भी एक के बाद एक सटी होने के कारण, घनत्व की यह माया दुहरी भ्रांति पैदा करती है। तभी इस बिजली की ट्यूबलाइट का प्रकाश हमें चिरकाल तक एक जैसा कायम रहने वाला नजर आता है। किसी पावरहाउस में उत्पन्न होने वाली विद्युतशक्ति प्रतिक्षण इस ट्यूब में आकर जल-जल कर नष्ट हो रही है; यह सच्चाई हमें नजर ही नहीं आती। प्रत्यक्ष भासमान ठोस सत्य, वास्तविक सूक्ष्म सत्य पर एक आवरण डाले हुए है; इसी कारण जो जैसा है, वैसा नहीं दीखता, कुछ और ही दीखता है।

किसी नौका पर सवार होकर मैं प्रातःकाल नदी के उस पार जाता हूँ और शाम को पुनः इस पार लौट आता हूँ। मुझे यह भ्रम बना रहता है कि सुबह जो नदी थी वही सायंकाल भी पार की गई। सुबह और शाम के बीच तो बड़ा समय निकल गया; मैं उस नदी में डुबकी लगाऊं और तुरंत अपना सिर ऊपर उठाऊं। इसी प्रकार दूसरी तथा तीसरी बार भी डुबकी लगा लगाकर अपना सिर ऊपर उठाऊं तो मेरे मन में यह भ्रम पैदा होगा कि मैंने उसी नदी में डुबकियां लगायीं; जबकि वस्तुतः हर डुबकी नई नदी में ही लगी। क्योंकि जिस जलधारा में पहली डुबकी लगायी उसका तो अगली बार एक कतरा भी नहीं रह गया। सारी की सारी जलराशि आगे बह गयी; जलराशि की यह धारा परस्पर सटी हुई प्रवाहित होती रहती है। बीच में कोई अंतराल या व्यवधान न होने के कारण हमें इसमें कहीं कोई अलगाव नजर नहीं आता।

नदी के प्रवाह में सटी-धंसी-बही जाती हुई जलराशि हमारे लिए भ्रम-भ्रांति पैदा करती है। नदी की बहती हुई जलराशि को हम एक दूसरे से अलग करके नहीं देख सकते। सारी जलराशि हमें एक जैसी ही लगती है। घनसंतति का यह

दृश्यमान प्रवाह बहुत तेज नहीं है, अतः नदी तट पर बैठकर जल प्रवाह को गौर से देखते हुए हम इस भ्रम को दूर कर सकते हैं। परंतु जहां घनसमूह और घनसंतति दोनों ही अत्यंत तीव्र हों, वहां भ्रम से बाहर निकलना आसान नहीं। मसलन जिस नदी में तीन बार डुबकियां लगायी गयीं उसको गौर से देखकर यह भ्रम दूर कर भी लें कि हर बार की डुबकी नई जलराशि में लगायी गयी, तो भी डुबकी लगाने वाले के संबंध में जो भ्रम है उसका निवारण सहज नहीं है। पार्थिव आंखों से यह जान लेना आसान नहीं है कि नई नई जलराशि में डुबकियां लगाने वाला वह व्यक्ति भी हर बार बदल जाता है। जिस परमाणु राशि से उसका शरीर बना हुआ है, वह भी प्रतिक्षण प्रवहमान है, परिवर्तनशील है और इस कारण तीनों बार डुबकियां लगाते हुए न केवल जलराशि ही बदलती चली गई, बल्कि डुबकी लगाने वाला भी बदलता चला गया। डुबकी लगाने वाले की परमाणु राशि तीनों बार वही नहीं बनी रही। एक डुबकी से दूसरी डुबकी में उसका कोटि-कोटि बार उदय-व्यय हो गया; वह कोटि-कोटि बार परिवर्तित हो गयी।

सभी ठोस भौतिक वस्तुओं के समान हमारा यह शरीर भी प्रतिक्षण परिवर्तनशील है। सूक्ष्मातिसूक्ष्म परमाणु कणों का समूह मात्र होने पर भी स्थूल ठोस होने का भ्रम पैदा करता है। निरंतर गतिशील रहने वाले परमाणुकणों का समूह मात्र होने पर भी स्थिरता का भ्रम पैदा करता है। कितनी तीव्र गति से उत्पन्न-नष्ट होने वाले हैं ये परमाणुकण? सामान्य आखें इन्हें कैसे देख सकती हैं! इनके अत्यंत अल्पायु होने की बात भी किसी ने बोधि-चक्षुओं से ही देखकर बतायी कि १७ नन्हें-नन्हें चित्त क्षणों में एक रूपकलाप एक बार उत्पन्न होकर नष्ट होता है। कितना अल्पायु है यह एक चित्तक्षण? इसके लिए कहा – **"एकस्मिञ्हि अच्छराक्खणे अनेकानि चित्तकोटिसतसहस्सानि उप्पज्जन्ति।"** *(संयुत्तनिकाय निदानवग्ग अट्ठकथा २.८७)* यानी एक बार चुटकी बजाएं, इतनी देर में अनेक शत-सहस्र-कोटि चित्त उत्पन्न हो जाते हैं। अतः चित्तक्षण से सत्रहगुणा अधिक आयुवान होने पर भी एक चुटकी बजाने मात्र के समय में एक-एक रूपकलाप का भी अनेक शत-सहस्र-कोटि बार संगठन-विघटन हो ही जाता है, सर्जन-विसर्जन हो ही जाता है, उदय-व्यय हो ही जाता है, उत्पादन-विलय हो ही जाता है। इसी सत्य को पाश्चात्य जगत के एक प्रसिद्ध भौतिक विज्ञान शास्त्री डा० अल्वरस ने पांच वर्ष पूर्व आधुनिक उपकरणों के बल पर खोज निकाला, इसी अनुसंधान के लिए उसे नोबल पुरस्कार मिला। उसने एक विशेष यंत्र का निर्माण करके इन परमाणुओं से भी सूक्ष्म कणों (Subatomic Particles) के उदय-व्यय को गिनकर देखा तो पाया कि यह एक सेकेण्ड में १०,०००,०००,०००,०००,०००,०००,००० बार उत्पन्न हो-होकर नष्ट हो जाते हैं। इतने अल्पजीवी हैं ये रूपकलाप! इतनी

त्वरितगति से उत्पादन और विनाश होते रहता है इनका। इसे हम अपनी सामान्य आंखों द्वारा कभी देख ही नहीं सकते। इसीलिए सूक्ष्मता और त्वरा की यह मिली-जुली माया हमारे लिए बड़ा भ्रम पैदा करती है।

बुद्ध-नेत्रों ने यह भी देखा कि इन अष्टकलापों में एक दूसरे के बीच का जो शून्य आकाश है वह परिमाण में इन कलापों से भी कई गुना अधिक है और ये कलाप भी स्वयं कोई ठोस कण नही हैं, बल्कि मात्र तरंगे ही तरंगें हैं। अतः ठोस से ठोस दीखने वाले एक शिलाखण्ड में परमार्थतः तरंगें ही तरंगें हैं, शून्यता ही शून्यता है। घनसंज्ञा की माया हमें इस परमार्थ-सत्य को देखने नहीं देती कि जिन्हें हम ठोस पदार्थ कहते हैं, वे वस्तुतः भिन्न-भिन्न प्रकार के गुण धर्मों वाली तरंगों के पुंज मात्र ही हैं। यह हमारा शरीर और इस शरीर की इंद्रियां जिन्हें हम ठोस मानते हैं, वे सब शून्य में क्षण-क्षण उत्पन्न और नष्ट होने वाली तरंगावलियां मात्र हैं। इसी प्रकार बाह्य जगत के ये सारे ऐंद्रिय आलंबन जिन्हें कि हम भिन्न-भिन्न रूप-रंग, गंध, शब्द, रस, स्पर्श आदि गुण-धर्म वाले ठोस पदार्थ मानते हैं, वे सब भी प्रतिक्षण शून्य में उदय-व्यय होने वाली तरंगें मात्र हैं। विषयी (Subject) और विषय (Object) दोनों तरंगें ही तरंगें हैं, शून्यवत ही शून्यवत हैं, निस्सार ही निस्सार हैं।

कैसी मायाविनी है यह प्रकृति! यह जो कुछ इतनी तेजी के साथ गतिमान है, जंगम है, वह हमें स्थिर और जड़ जैसा लगता है। जो इतना शून्य है, तरंगवत है, वह हमें कड़ा स्थूल जैसा लगता है। जो अनित्य है, क्षणभंगुर है, वह हमें नित्य, ध्रुव जैसा लगता है। हमारी इंद्रियां और इद्रियों के बाह्य विषय कितने अनित्य हैं, पर नित्य जैसे लगते हैं। इसी भ्रांति के कारण इस शरीर के प्रति, शरीर की इन इंद्रियों के प्रति और इंद्रियों के इन बाह्य विषयों के प्रति इतना गहरा आत्मभाव पैदा हो जाता है, विभिन्न ऐंद्रिय सुखों के साथ इतना गहरा चिपकाव पैदा हो जाता है। परमार्थ सत्य की आभ्यंतरिक अनुभूति न कर सकने के कारण ही हम जो अनित्य है उसे नित्य समझते रहते है, जो दुःख है उसे सुख समझते रहते हैं, जो अनात्म है उसे 'मैं' 'मेरा' समझते रहते हैं, जो अशुभ अशुचि है उसे शुभ-शुचि समझते रहते हैं। जो जैसा है उसे वस्तुतः वैसा देख-समझ ही नहीं पाते, सूक्ष्म परमार्थ सत्य से बिछुड़ जाते हैं और बाहरी-बाहरी भासमान स्थूल सत्य को ही देखते रह जाते हैं तथा उसके प्रति आसक्त हो-होकर अपने लिए दुःख ही दुःख पैदा करते रहते हैं। विपश्यना साधना द्वारा जब प्रज्ञा जागती है तो समूहघन, संततिघन, आलंबनघन और चौथे चित्तघन जिसकी कि चर्चा आगे चलकर चित्त की व्याख्या करते हुए होगी, इन चारों के ठोसपने की माया दूर होती है और हम

अनुभूतियों के स्तर पर घनसंज्ञा का विभेदन करते हुए, एक पर एक सूक्ष्म सत्य का स्वयं साक्षात्कार करते हैं, जिस स्तर पर जो बात जैसी है उसे ठीक वैसे ही देख समझ पाते हैं। दुनिया के ठोस संवृति यानी प्रज्ञापित भासमान सत्य को भी स्वीकारते हैं और साथ-साथ उसकी सूक्ष्म परमार्थ सच्चाइयों को भी। इस प्रकार दुनियावी सत्य के स्थूल एकांगी दर्शन द्वारा उत्पन्न दुःख को और उस दुःख के सही-सही कारण को समझते हुए शनैः शनैः उससे छुटकारा पाते हैं; यही विपश्यना का मंगल लाभ है।

(वर्ष ३ बुद्धवर्ष २५१७ आषाण पूर्णिमा दि. १५-०७-७३ अंक १)

रूप कथा (३)

बुद्ध और बुद्ध पुत्रों ने विपश्यना साधना द्वारा अंतर्मुखी होकर स्वानुभूतियों के स्तर पर भौतिक जगत के रहस्यों का उद्घाटन किया। उन्होंने देखा कि घनीभूत ठोसपन का मायावी आवरण चढ़ाए हुए यह संपूर्ण भौतिक जगत वस्तुतः सघनताविहीन प्रकंपनों का समूह मात्र है। सारा विश्व रूपकलापों की प्रकंप लहरियों का लहराता हुआ अनंत सागर है। एक नन्हा सा रूपकलाप जो कि भौतिक जगत का सूक्ष्मतम कण है, इस अनंत शून्य में न जाने कहां से एक चुंबकीय विद्युत प्रकंप की लहर के समान उत्पन्न होता है और उत्पन्न होते ही पल भर में विलीन भी हो जाता है। एक चिनगारी की तरह पैदा होता है और तत्क्षण बुझ भी जाता है। इन क्षणभंगुर रूपकलापों के समूहों से ही विश्व के सारे सजीव निर्जीव पदार्थ बने हुए है। अत्यंत सूक्ष्म अवस्था में इसी सच्चाई को देखकर उन्होंने कहा कि –

"सब्बो पज्जलितो लोको सब्बो लोको पकम्पितो।"

सचमुच भीतर-बाहर सर्वत्र सारे लोक इन परमाणुकणों के समूह रूप में प्रतिक्षण प्रज्वलित ही प्रज्वलित हो रहे है, प्रतिक्षण प्रकंपित ही प्रकंपित हो रहे हैं। स्थूल ठोस भौतिक जगत की यही सही सूक्ष्म परमार्थ सच्चाई है।

पाश्चात्य जगत भी अपने ढंग से इस सत्य की खोज में लगा रहा। हर बात को माप-तोल कर, जांच-परख कर, छान-बीन कर निश्चित नियमबद्ध गणना के आधार पर ही स्वीकार करने की यूनानी मनोवृति और कार्यपद्धति ने ही आज के पश्चिमी विज्ञान को जन्म दिया। भगवान बुद्ध के लगभग १०० वर्ष बाद यूनान के प्रसिद्ध विद्वान दमोक्रेतु (Demoeretus) ४६०-३७० ई० पू० को हम पश्चिम जगत में पहले पहले परमाणुकण की चर्चा करते पाते हैं। उसने इस कण को भौतिक जगत की सूक्ष्मतम इकाई कहा और इसे अभेद्य मानते हुए इसका नाम ऐटॅम (Atom) यानी अविभाज्य रखा। यही आज के विज्ञान जगत में ऐटॅम (Atom) के नाम से प्रख्यात है। अभेद्य मानने के कारण ही उसकी मान्यता में यह परमाणु एक ठोस कण था, सदा एक जैसा बने रहने के स्वभाव वाला परमाणुकण (Atom) अभेद्य, अविनाशी, ठोस, सारपूर्ण है ऐसा विश्वास पाश्चात्य जगत में तब से लेकर पिछली सदी तक मान्य चला आता रहा।

इतालवी गणना वैज्ञानिक गलीलियो (Galilio) (१५६४–१६४२ ई०)

से लेकर पिछली शताब्दी के अंत तक पश्चिमी विज्ञान ने विभिन्न क्षेत्रों में बहुत प्रगति की। भौतिक विज्ञान के क्षेत्र में इसे क्लासिकल युग (Classical Era) परंपराप्रधान युग कहा जाता है। इस युग में भौतिक विज्ञान ने भी सचमुच बहुत उन्नति की। परंतु इस लंबे समय में भौतिक क्षेत्र में जितनी खोज हुई, उससे कई गुना अधिक पिछली शताब्दी के अंतिम वर्षों से लेकर अब तक हुई। इनमें भी जितनी खोज पिछले एक-दो दशकों में हुई, वह तो अभूतपूर्व रही, आश्चर्यजनक रही और अब भी न जाने कितना रहस्य प्रकृति की गोद में समाया हुआ है। अब तक जितना प्रकाश में आया उतने से ही यह स्वयंसिद्ध हो गया है कि ये नन्हें-नन्हें परमाणुकण ईंट के से ठोस टुकड़े नहीं हैं, जिनसे कि यह जगत चिना गया हो। प्रत्युत ये कण विद्युत-विचुम्बित तरंगें मात्र हैं। पारस्परिक घात-प्रतिघात से ये विद्युत तरंग-कण चिनगारियों की तरह प्रतिक्षण जल-जलकर नष्ट होते रहते हैं और तत्क्षण नए उत्पन्न होते रहते हैं। लगता है कि दमोक्रेतु ने "अविभाज्य" अर्थ गलत समझा इसी कारण जांच परख कर स्वीकारने वाले पाश्चात्य विज्ञान जगत में भी इतनी सदियों तक यह भ्रांति बनी रही। दमोक्रेतु का यह ऐटॅम (Atom) क्लासिकल भौतिक युग में भी डालटन ऐटॅम (Atom) के रूप में ठोस कण ही बना रहा। वही सूक्ष्मतम परिमाण वाला अभेद्य भौतिक कण सृष्टि के निर्माण में ईंटों की तरह काम में आने वाला भवन निर्माण पदार्थ। हां, इस कण पर होती रहने वाली बार-बार की छानबीन ने इतना अवश्य किया कि इसमें किसी प्रकार की रासायनिक प्रतिक्रिया होने की संभावना मानी जाने लगी।

सत्य की खोज में लगे हुए पाश्चात्य वैज्ञानिक सदियों तक परमाणु जगत की ऊपरी सतह को कुरेचते-कुरेदते रहे। उनका यह परिश्रम अंततः कुछ-कुछ सफल होना शुरू हुआ। प्रकृति ने अपने चेहरे पर पड़े अनेक अवगुंठनों में से एक को अनावरित किया और पिछली शताब्दी का अवसान होते-होते सन् १८९७ ई. में जे. जे. थामसन (J. J. Thompson) नामक वैज्ञानिक ने ठोस डालटन ऐटॅम (Dalton Atom) की माया छिन्न-भिन्न करते हुए देखा कि जिस ऐटॅम को अब तक भौतिक जगत का सबसे छोटा अभेद्य कण मानते थे, उसका भेदन किया जा सकता है। इस भेदन द्वारा उसने पाया कि इस परमाणुकण में उससे भी अनेक गुना छोटे इलेक्ट्रान (Electron) नामक कण विद्यमान हैं। आर. ए. मिल्कन (R. A. Milkan) नामक वैज्ञानिक ने इलेक्ट्रान की सूक्ष्मता मापी और पाया कि यह परिमाण में एक हाइड्रोजन परमाणु कण (Hydrogen Atom) का केवल १८५० वां हिस्सा ही है। अतः यह स्पष्ट होने लगा कि ऐटॅम

(Atom) ही भौतिक जगत का सूक्ष्मतम कण नहीं है।

इन खोजों से यह बात भी प्रकाश में आयी कि परमाणु (Atom) की आंतरिक बनावट विद्युत-विभाजित है। प्रोटोन (Proton) की विद्युत प्रभावित घनात्मक (Positive) झिल्ली पर जो अनेक ऋणात्मक (Negative) कण प्रकट हुए, उन्हें ही इलेक्ट्रान कहा गया। सचमुच आणविक विज्ञान की यह एक महत्त्वपूर्ण खोज थी। यद्यपि परमाणु में विद्युत की विद्यमानता स्वीकार की गयी, परंतु अभी भी यह खोज बहुत ही स्थूल प्रारंभिक अवस्था में थी।

बीसवीं सदी के प्रथम दशकों में इस दिशा में नित्य नया अनुसंधान होता रहा और नए-नए तथ्य प्रकाश में आते रहे। सन १९१३ में लार्ड रुथरफोर्ड (Lord Rutherford) और उनके डेनमार्की विद्यार्थी नील्स बोहर (Neils Bohr) ने यह सिद्ध किया कि प्रत्येक परमाणु सौरमण्डल का ही सूक्ष्मतम प्रतिरूप है। इनमें भी सूर्य सदृश प्रोटोन नाम का एक केंन्द्रीय कण है, जिसके इर्द-गिर्द ग्रह-उपग्रह सदृश इलेक्ट्रान नाम के अन्य अनेक कण निरंतर चक्कर लगाते रहते हैं। इन दोनों को ही विद्युत-विचुंबित पाया गया। परंतु अब तक भी दोनों के दोनों ठोस ही माने जाते रहे।

शनैः शनैः डाल्टन ऐटॅम की तरह यह थाम्पसन ऐटॅम (Thompson Atom) का मॉडल भी पुराना पड़ने लगा। सन १९२४ में एक और रहस्यपूर्ण उद्घाटन हुवा। फ्रेंच वैज्ञानिक प्रिंस लुई डी प्रोगली (Prince Lewis de Proglie) ने इलेक्ट्रान कणों को ठोस मानने से अस्वीकार किया और उन्हें तरंगमय सिद्ध किया। परंतु प्रोगली के ऐटॅम का केंद्रीय प्रोटोन (Proton) तो अब भी ठोस और अभेद्य ही माना जाता रहा।

परिश्रमी वैज्ञानिक इस प्रोटोन की माया को भी विच्छिन्न करने में लगे रहे और इस पर लगातार आघात करते करते सन १९३२ में इसका भी विभाजन कर सकने में सफल हो गए। अब तक ठोस इकाई माने जाने वाले प्रोटोन में से न्यूट्रॉन (Neutron) नाम का एक और कण अलग करके देख लिया गया। १९६६ तक तो इसने अपने और छिपे हुए रूप दिखाए। उसमें के कई नए-नए कण प्रकाश में आने लगे। साथ ही यह निश्चित हो गया कि इन भिन्न-भिन्न कणों में से एक भी ठोस नहीं है, ध्रुव नहीं है; सभी परिवर्तनशील हैं, सभी विनाशधर्मा हैं। पहले न्यूयार्क के डेवीसन (Devison) और जर्मर (Germer) ने तथा इंगलैंड में जे. पी. थामसन (J. P. Thompson) ने यह सिद्ध किया कि इलेक्ट्रान स्वभाव से

तरंगमय हैं फिर भी जर्मनी के स्ट्रेन (Stren) ने यह सिद्ध किया कि ठीक यही हाल प्रोटोन (Proton) का भी है। पहले दबी जबान में कही जाने वाली बात अब दावे के साथ कही जाने लगी कि भौतिक जगत का सूक्ष्म से सूक्ष्मतम कण भी ठोस नहीं है, स्थिर नहीं है, बल्कि विनाशशील तरंग मात्र ही है।

आणविक क्षेत्र में विज्ञान की खोज निरंतर चालू ही है। इसी के दौरान इलेक्ट्रान (Electron) का गंभीर अनुसंधान करते हुए वैज्ञानिकों ने पाया कि उसे देखने के लिए प्रकाशकीय लघु तरंगों (Shortwave Lights) का प्रयोग करना पड़ता है। इनके बिना इलेक्ट्रान की स्थिति और गतिविधि देखी नहीं जा सकती परंतु इस इलेक्ट्रान पर जैसे ही ये प्रकाश तरगें पड़ती हैं, वैसे ही उसमें विभिन्न प्रकार की प्रतिक्रियाएं होने लगती हैं, वह अस्त-व्यस्त ढंग से सिकुड़ने लगता है। इस प्रकार दो विरोधी तरंगों के संघात से उनके विकृत होने की बात सामने आयी। धीरे-धीरे एक अन्य महत्त्वपूर्ण बात यह भी प्रकाश में आयी कि सदियों तक एक ठोस इकाई माने जाने वाले परमाणु (Atom) में जो अनेक तरंगमय लघु कण हैं, उनमें आठ अत्यंत प्रमुख हैं। इन आठों में के चार, अन्य चारों से सर्वथा विपरीत गुण-धर्म वाले हैं। एक बात यह भी स्पष्ट हुई कि इनमें पारस्परिक संघात हो-होकर इनका प्रतिक्षण नाश होते रहता है और इनके स्थान पर फिर उसी गुण-धर्म वाली नई कण-तरंगें उत्पन्न होती रहती हैं। परमाणु कण के इस अष्ट-समूह में एक प्रोटोन (Proton) है तो दूसरा उसका विरोधी एण्टीप्रोटोन (Anti Proton) तीसरा इलेक्ट्रान (Electron) है तो चौथा उसका विरोधी पोसीट्रोन (Positron) पांचवा न्यूट्रोन (Neutron) है तो छठा उसका विरोधी एण्टी-न्यूट्रोन (Anti Neutron) सातवां न्यूट्रियो (Neutreo) है तो आठवां उसका विरोधी एण्टी न्यूट्रियो (Anti Neutreo)

आठ की यह संख्या हमारे मन में किसी प्रकार का भ्रम न पैदा करे। अष्ट कलाप वाली आठ की संख्या से इसका कोई संबंध नहीं है। दर असल तो परमाणुकण में आठ ही नहीं, बल्कि इस प्रकार के बीस से भी अधिक कण प्रकाश में आ चुके हैं। यह जो आठ प्रकार के परस्पर विरोधी कण-तरंगों की बात कही है, वह केवल यह बताने के लिए कि आधुनिक विज्ञान की खोज के अनुसार किस प्रकार परस्पर विरोधी तत्त्व-तरंगें एक दूसरे से टकरा-टकरा कर, जल-जल कर नष्ट होती रहती हैं और नई-नई उत्पन्न होती रहती हैं। यह सच्चाई बुद्ध पुत्रों द्वारा बोधि नेत्रों से देखी गयी सच्चाई के कितनी समीप आ पहुँची हैं। उन्होंने भी

भौतिक प्रकृति के सूक्ष्मतम स्वरूप का अन्वेषण करते हुए यही तो देखा।

सब्बो पज्जलितो लोको,
सब्बो लोको पकम्पितो।

सारे लोक प्रज्वलित ही प्रज्वलित दीख पड़ते हैं, सारे लोक प्रकंपित ही प्रकंपित दीख पड़ते हैं। कहीं साधक ऐसे प्रतिपल भंगमान संसार के प्रति आसक्त होकर दुःखनिमग्न न हो जायँ इसीलिए स्वयं साक्षात्कार किए हुए लोकीय संसार का वर्णन करते हुए सम्यक संबुद्ध ने चेतावनी भरे शब्दों में कहा – "सारा लोक जल रहा है, चक्षु जल रहे हैं, रूप जल रहे हैं, कान जल रहे हैं, शब्द जल रहे हैं, नाक जल रही है, गंध जल रही है, जीभ जल रही है, रस जल रहे हैं, काया जल रही है, स्प्रष्टव्य पदार्थ जल रहे हैं, चित्त जल रहे हैं, चित्तवृत्तियां जल रही हैं, छहों इंद्रियां जल रही हैं, छहों इंद्रियों के आलंबन जल रहे है, सारा ऐंद्रिय जगत जल रहा है, प्रतिपल जल ही रहा है, सचमुच सूक्ष्मतर स्तर पर प्रज्वलन – प्रकंपन, प्रज्वलन – प्रकंपन के अतिरिक्त इस ऐंद्रिय जगत में और है ही क्या?

एक ओर परम परिशुद्ध प्रज्ञा द्वारा स्वयं साक्षात्कार करके इस प्रज्वलन और प्रकंपन के स्वभाव की सच्चाई देखी गई और दूसरी ओर बाह्य वैज्ञानिक उपकरणों के बल पर परमाणु कणों को पारस्परिक संघात से उत्पन्न-नष्ट होने वाली तरंगावलियां मात्र माना गया। एक ओर एक चुटकी बजाने के नन्हें से क्षण में सूक्ष्मतम भौतिक कण अष्टकलाप के अनेक शत सहस्रकोटि बार उत्पन्न-व्यय होने की सच्चाई देखी गयी दूसरी ओर एक सेकेंड में एक पर बाइस बिंदी लगाएं उतनी बार सूक्ष्म भौतिक कणों के उत्पन्न-नष्ट होने की सच्चाई जानी गई। एक ओर एक अंगुल की चौड़ाई पर (१ अंगुल= ७ धन्यमास, १ धन्यमास= ७ ऊका, १ ऊका= ७ लीखा, १ लीखा= ३६ रथरेणु १ रथरेणु= ३६ तज्जारि, १ तज्जारि= ३६ अणु, १ अणु= ३६ परमाणु; यानी– ७×७×७×३६×३६×३६=) ५८,११, ४७, १३६ परमाणु आ सकने की सच्चाई देखी गई और दूसरी ओर आधा इंच लंबी लकीर पर लगभग १० करोड़ ऐटॅमकण आ सकने की सच्चाई आंकी गई। दोनों ओर सूक्ष्मतर सच्चाई का अंकन किया गया। दोनों सच्चाइयों में अत्यधिक समानता भी है, परंतु फिर भी इन खोजों के परिणाम में बहुत बड़ा अंतर है। भौतिक जगत की इस सूक्ष्मतर सच्चाई को जान लेने वाला एक वैज्ञानिक सम्यक संबुद्ध नहीं बन जाता, नितांत दुःख-विमुक्त नहीं हो जाता। उसका जीवन अब भी राग-रंजित रहता है, द्वेष-दूषित रहता है, मोह-विमूढ़ित रहता है और परिणामतः दुःख-विकलित रहता है। यह इसलिए कि उसने सत्य का स्वयं साक्षात्कार नहीं किया। साक्षात्कार स्वानुभूतियों द्वारा ही हो सकता है। बाह्य उपकरण बौद्धिक

ज्ञान पैदा कर सकते हैं, परंतु साक्षात्कार के लिए तो बाधक ही होते हैं। बौद्धिक ज्ञान से बुद्धिविलास हो सकता है, विभिन्न प्रकार की जिज्ञासाओं की पूर्ति हो सकती है, कौतूहल शमन हो सकता है परंतु प्रज्ञा नहीं जाग सकती। वैसे ही जैसे कि यह लेख लिख देने से अथवा पढ़ लेने से कोई प्रज्ञाधर नहीं बन सकता। प्रज्ञा जागे बिना कोई व्यक्ति सूक्ष्म स्तर पर दुःख का साक्षात्कार नहीं कर सकता, दुःख के कारणों का साक्षात्कार नहीं कर सकता, दुःख-निरोध के उपाय का साक्षात्कार नहीं कर सकता, दुःख-निरोध का साक्षात्कार नही कर सकता, अतः दुःख विमुक्त नहीं हो सकता। विपश्यना प्रज्ञा के बल पर स्वानुभूतियों के स्तर पर देखी गई, भौतिक तत्त्वों की उपरोक्त सच्चाई, दुःख और दुःख के कारणों का साक्षात्कार करवाती है और परिणामतः अज्ञान अवस्था में उनके प्रति उत्पन्न होने वाली दुःखदायक आसक्ति तुड़वाती है। इसीलिए यह कल्याणकारी मंगल विद्या है।

(वर्ष ३ बुद्धवर्ष २५१७ श्रावण पूर्णिमा   दि. १३-०८-७३ अंक २)

उद्‌बोधन : ऐ मेरे मन! (१)

ऐ मेरे मन!

तू बड़ा उदास है आज! क्यों? क्या हुआ? किसी ने तेरा अपमान कर दिया? किसी ने तुझे अपशब्द कह दिये? औरों के सामने तुझे जलील कर दिया? तेरी इज्जत धूल में मिला दी? इसीलिए यह उदासी है? इसीलिए तेरे भीतर यह तूफान उठ रहा है? इसीलिए भीतर से तू गांठगठीला हुआ जा रहा है? इसीलिए तू जलभुनकर खाक हुआ जा रहा है? और इसीलिए तूने इस शरीर को भी उत्तापित कर दिया? देख तो, शांत प्रसन्न मुखमण्डल को कैसा विवर्ण बना दिया तूने! हृदय की गति कितनी तेज कर दी! सांस की गति कितनी तीव्र कर दी! भीतर ही भीतर कितनी बेचैनी, कितनी अशांति पैदा कर दी तूने!

अरे पगले! यह तूने क्या किया? स्वयं अपनी ही हानि कर बैठा। जिस अबोध व्यक्ति ने तुझे अपशब्द कहे, उसने तो जलते अंगारे उछाल कर अपने आपको जलाया ही, पर तूने उन अंगारों का उपहार क्यों स्वीकार कर लिया? अपने आपको जलाने के लिए? दुष्ट बचन तो मल-मूत्र की तरह त्याज्य हैं न! किसी ने ऐसा मल-मूत्र तेरी ओर फेंका और ऐसा करते हुए अपने आपको ही गंदा कर लिया। परंतु तूने पागलपन में मल-मूत्र के उस उपहार को ग्रहण क्यों कर लिया? स्वयं गंदा क्यों हो बैठा?

परदिन्नानि वच्चानि, पाभन्तन्ति नकोचिपि।
गण्हेय्येवं दुरुत्तानि, अगण्हन्तो खमे सतो॥

(चतुरारक्खदीपनी निद्देस ३, गाथा ५३)

यदि कोई मल-मूत्र का उपहार भेंट दे तो उसे कौन स्वीकार करेगा भला? यही जानकर हर साधारण व्यक्ति किसी के दुरुक्त-दुर्वचनों को ग्रहण नहीं करता और क्षमाशील रहता है। यही तो क्रोधजित भगवान बुद्ध की सर्वहितकारिणी साधना है। तू तो इस कल्याणकारी साधना का साधक है न? तूने इस उपहार को क्यों ग्रहण कर लिया? इस संत-पथ पर चलते हुए तूने यह क्या पागलपन किया? दुर्जन के कटु बचनों से अपने आपको विकृत कर लिया।

सतं दुज्जन वाक्येहि, न मनो याति विक्रियं।
नहि तापयितुं सक्का, गङ्गानदिं तिणुक्कया॥

(चतुरारक्खदीपनी निद्देस ३, गाथा २५)

दुर्जन के बचनों से संतों का मन विकृत नहीं हुआ करता। तिनकों की आग भला गंगा की धारा को क्या तापित कर पायेगी?

लेकिन तू तो उस पावन संत-पथ का पथिक होकर भी उस तिनकों वाली आग से तापित हो उठा। सचमुच पागलपन ही किया तूने! हां, हां, यह पागलपन ही तो है, उन्मत्तता ही तो है। तू केवल उपहार स्वीकार करके ही नहीं रह गया, बल्कि बदले में वैसा ही उपहार दिया भी तूने!

क्या कहा उसने तुझे? इतने कड़े अपशब्द कहे, तेरा घोर अपमान किया, तू उसे बदले में कुछ नहीं कहता तो वह तुम्हारे सिर पर चढ़ जाता। अरे नहीं पागल भाई! बदले में ऐसा कहकर तूने उसे अधिक सिर पर चढ़ा लिया, जरा समझ तो सही। सिर पर कौन चढ़ता है? क्या था जो उसके सिर पर चढ़ा हुआ था? अपने अहं के प्रति उसकी गहन आसक्ति और तज्जनित क्रोध और झुंझलाहट ही न! और यही तो तूने अपने पर चढ़ा लिया। जो बुरा था उसे ही अंगीकार कर लिया, उसे ही गले से लगा लिया। तो क्या तू सचमुच पागल नहीं हो उठा? क्रोध का शमन करने के बजाय, क्रोध का संवर्धन कर लिया तूने! उसकी बहती हुई धारा को बल प्रदान किया, उसके प्रवाह को और पुष्ट किया। इससे बढ़कर और क्या पागलपन होता भला? तू जरा समझ तो सही। उस व्यक्ति ने जब तुझे गंदी कड़वी बातें कही, तब क्या वह होश में था? या क्रोध के मारे उन्मत्त हो रहा था? यदि वह क्रोध में उन्मत्त था तो क्या तेरा भी उसी प्रकार उन्मत्त हो जाना सही हुआ? कोई शराबी वारुणी के नशे में अभद्र व्यवहार करने लगे तो क्या हम भी बदले में स्वयं वारुणी चढाकर प्रमत्त हो जायँ और उस जैसा ही व्यवहार करने लगें? क्या यही समझदारी है?

दोसमुत्तक वाचाय, नुम्मत्तो किं करिस्सति।
भवेय्युमत्तको सोव, तादिसं वचनं भणं॥

(चतुरारक्खदीपनी निद्देस ३, गाथा ५५)

प्रश्न तो ठीक ही है। क्रोध और द्वेष से उन्मत्त व्यक्ति जब कटु वचन बोले तो हम जो उन्मत्त नहीं है, क्या करें? क्या हम भी बदले में वैसे ही क्रोध के अधीन होकर कटु वचन बोलने लगें? तो क्या हम भी उस जैसे ही उन्मत्त नहीं हो गए? वारुणी से भी अधिक उन्मत्तता है क्रोध में। क्रोध में भला किसका होश ठिकाने रहता है?

कुद्धो अत्थं न जानाति, कुद्धो धम्मं न पस्सति।
सदा अन्धतमं होति, यं कोधो सहते नरं॥

(चतुरारक्खदीपनी निद्देस ३, गाथा ६)

क्रुद्ध व्यक्ति अपना भला-बुरा नहीं जानता। क्रुद्ध व्यक्ति धर्म-अधर्म नहीं जानता, उस अंधेपन के अंधेरे में उसे कुछ नहीं सूझता।

ऐ अबोध मन! तूने देखा कि वह व्यक्ति उस समय क्रोध में अंधा हो रहा है। तो ऐसे अंधे व्यक्ति के हाथ में तूने अपनी बागडोर सौंप दी। अपनी ही नाक में नकेल डालकर उसके हाथ में पकड़ा दी। तू स्वयं उसके हाथ की कठपुतली बन गया और उसके इशारे पर नाचने लगा। पागल कुत्ते के काटने से तू भी पागल हो उठा। अपना और पराया दोनों का अहित किया तूने, तू भी उसी की तरह पाप में प्रवृत्त हो गया।

तस्सेव तेन पापिय्यो, यो कुद्धं पटिकुज्झति।
कुद्धं अपटिकुज्झन्तो, सङ्गामं जेति दुज्जयं॥

(चतुरारक्खदीपनी निद्देस ३, गाथा ८)

कितना सच कहा गया है। वह व्यक्ति भी उतना ही पाप निमग्न हो जाता है जो कि किसी क्रुद्ध व्यक्ति के प्रत्युत्तर में स्वयं क्रुद्ध हो उठता है। असली संग्रामजित तो वही है जो क्रुद्ध व्यक्ति के प्रति क्रोध नहीं करता। सचमुच, दुर्जय है यह संग्राम। इसी संग्राम में विजयी होने के लिए तो यह विपश्यना साधना है।

यो वे उप्पतितं कोधं, रथं भन्तंव वारये।
तमहं सारथी ब्रूमि, रस्मिग्गाहो इतरो जनो॥

(धम्मपद गाथा २२२)

उत्पन्न हुए क्रोध को जो व्यक्ति उठते ही रोक लेता है जैसे कि कोई भ्रांत हुए रथ के बिगड़ैल घोड़ों को रोकता हो तो वही कुशल सारथी कहलाने योग्य है। बाकी सब तो व्यर्थ डोर पकड़े रहने वाले हैं।

अरे अबोध मन! इतना समझते हुए भी किसी के क्रोध से तू उत्तेजित हो गया और स्वयं क्रुद्ध हो उठा। तो तूने क्या साधना की? कुशल सारथी बनने का क्या अभ्यास किया तूने? तू भी बेलगाम घोड़ों को वैसे ही दौड़ाए जा रहा है, जैसे कि एक साधना-विहीन अज्ञानी व्यक्ति दौड़ा रहा है। क्या अंतर हुआ तुझमें और उस अबोध जन में? क्या कहा? डांट पड़ने पर ही वह ठीक रास्ते आ सकता था, उसका सुधार हो सकता था। अरे बावले! इतना तो समझ कि क्या कभी हमारे क्रोध से किसी का सुधार हो सकता है? किसी का क्रोध नष्ट हो सकता है? क्या कभी आग से आग बुझ सकती है? जलती आग में और जलावन डालें तो वह और अधिक धधकेगी ही। क्रोध से तो क्रोध भड़केगा ही। आग बुझाने के लिए तो शीतल जल का उपयोग करना होगा, जो कि आग के स्वभाव के विपरीत स्वभाववाला है। क्रोध बुझाने के लिए तो क्रोध के विपरीत स्वभाव वाला अक्रोध चाहिए।

अकोधेन जिने कोधं। *(धम्मपद २२३)*

-- क्रोध को तो अक्रोध से ही जीत सकते हैं।

कितने प्रज्ञाभरे शब्दों में भगवान ने मंगल-मंजुल उद्घोष किया–

न हि वेरेन वेरानि, सम्मन्तीध कुदाचनं।
अवेरेन च सम्मन्ति, एस धम्मो सनन्तनो॥

(धम्मपद - गाथा ५)

सचमुच यही तो सनातन धर्म है। सार्वकालिक धर्म, सार्वजनीन धर्म, सार्वदेशिक धर्म, वैर से वैर का शमन नहीं ही किया जा सकता। अवैर से ही वैर का शमन होगा, द्वेष से द्वेष का शमन नहीं ही किया जा सकता। द्वेषहीनता से द्वेष का शमन होगा। क्रोध से क्रोध का शमन नहीं किया जा सकता। अक्रोध से ही क्रोध का शमन होगा। प्रकृति की इस शाश्वत सच्चाई का नाम ही तो धर्म है। परंतु इस धर्म को केवल बौद्धिक स्तर पर जान लेने से ही तो काम नहीं चल सकता। इसे जीवन में धारण करना होगा। इसी में सब की भलाई है, तेरी भी और तेरे द्वेषी-द्रोही की भी।

उभिन्नमत्थे चरति, अत्तनोच परस्सच।
परं संङ्कुपितं ञत्वा यो सतो उपसम्मति॥

(संयुत्तनिकाय सगाथावग्ग १.१८९)

जो संत पुरुष अपने और पराए दोनों के भले के लिए आचरण करता है, वह किसी पराए को कुपित, क्रुद्ध देखकर उस क्रोध को शांत ही करता है। इसी में तो दोनों की भलाई है।

अरे अबोध मन! किसी को कुपित हुआ देखकर यदि तू भी कुपित हो उठता है, किसी को दुर्वचन बोलते देखकर यदि तू भी दुर्वचन बोलता है तो तू अपनी और परायी दुःख की आग को कैसे शांत कर सकेगा? जो बेचारा क्रोध में स्वयं जल रहा है, उस पर क्रोध का पेट्रोल मत छिड़क। उसके क्रोधभरे वचनों को मौन रहकर सहन कर। यही धर्मवंत का धर्म है, यही शीलवंत का शील है।

सिलाव सीलवा होतु, दुरुत्तानि तितिक्खतु
पच्चुत्ते दोससंबद्धो, अनुत्तोव पसम्भति॥

(चतुरारक्खदीपनी निद्देस ३, गाथा ७४)

सचमुच शीलवान शील के समान सुदृढ़ और अकंपित रहता है तथा दुर्वचनों को तितिक्षापूर्वक सहन करता है। यदि वह भी उत्तेजित होकर उत्तर देने लगे तो द्वेष दौर्मनस्य का संवर्धन ही होगा। द्वेष का शमन तो निरुत्तर रहकर सहन कर लेने में ही है।

द्वे उसेतीति दोसो सो, सपरं दय्हते द्वयं।
पहातब्बो स सब्बेसु, परत्थ सत्थमिच्छता॥

(चतुरारक्खदीपनी निद्देस ३, गाथा ५०)

अपना और पराया सब का भला चाहने वाला, उठे हुए द्वेष का सदा प्रहाण ही करता है, उसका शमन ही करता है अन्यथा वह उठी हुई आग दोनों को झुलसाती है। सच्चा साधक इस भूल से सदैव बचता है।

ककचेनत्त छेदेन्ते, वेरीकेपिनदोसये।
इच्चोवादं मुनिन्दस्स, सम्पटिच्छ जिनोरसो॥

(चतुरारक्खदीपनी निद्देस ३, गाथा ४१)

मुनिराज तथागत के मंतव्य को साधक भली प्रकार ग्रहण करे। दुर्वचन की आरी से न अपने आपको छेदे और न ही दूसरों का द्वेष-द्रोह जगाए।

जब यह जिह्वा दुर्वचन बोलती है तब कुल्हाड़ी का ही काम करती है। परस्पर का प्यार तुड़वाती है। जिस पर प्रहार होता है, वह तो पीड़ित होता ही है, बोलने वाला भी कम पीड़ित नहीं होता।

पुरिसस्स हि जातस्स, कुधारी जायते मुखे।
याय छिन्दति अत्तानं, बालो दुब्भासितंभणं॥

(चतुरारक्खदीपनी निद्देस ३, गाथा १२)

आदमी जन्मते ही अपने मुँह में दुधारी कुठार लेकर ही जन्मता है। वह मूर्ख हो तो दुर्वचनों द्वारा इसका दुरुपयोग करता है और इसके द्वारा स्वयं अपने आपका ही छेदन करता है और पीड़ित होता है। यह जीवन भी दु:ख में बिताता है और भावी जीवन के लिए भी दु:ख ही पैदा करता है। यह लोक भी बिगाड़ता है, परलोक भी बिगाड़ता है।

दोसोतु इह पीळेत्वा, दुक्खावहो भवेभवे।
महानत्थकरं दोसं, कस्मा वड्ढेति चेतसि॥

(चतुरारक्खदीपनी निद्देस ३, गाथा ४४)

द्वेष-द्रोह यहां भी पीड़ा देता है और अनेक जन्मों तक दु:खों का कारण ही बनता है। कितना महा अनर्थकारी है यह द्वेष दौर्मनस्य! चित्त में इसका संवर्धन क्यों करता है, पगले!

लेकिन कोई इस सच्चाई को नहीं समझता, तभी तो पागलपन में अपने लिए दु:ख का निर्माण करता है। ऐसा नादान व्यक्ति जो इस कुल्हाडी का प्रयोग करके स्वयं को पीड़ित करता है, उसके प्रति हम घृणा कैसे करें! उस पर क्रोध कैसे करें? उस पर तो करुणा करें, उसे तो प्यार करें। उस मानसिक रोगी का तो

अच्छा उपचार चाहिए, अच्छी दवा चाहिए और प्यार से बढ़कर कौन सी अन्य दवा अच्छी हो सकती है?

हने दोसू पनाहानि, अनत्थकारकानि हि।
तेस्व सन्तेसु सब्बेसु, मेत्ताहोति सुनिम्मला॥

(चतुरारक्खदीपनी निद्देस ३, गाथा २४)

महा अनर्थकारी द्वेष-दुर्मनता को दूर करने के लिए ही सबके प्रति संतों की मंगल मैत्री होती है। इसलिए –

मेत्ता सीतम्बुसेकेन, जिनोवाद मनुस्सरं।
महा नत्यकरं दोसं, निब्बायतु स चेतसि॥

(चतुरारक्खदीपनी निद्देस ३, गाथा ४५)

उस महाकारुणिक द्वारा सिखाई हुई मैत्री भावना का अनुसरण करके प्यार के शीतलजल से अपने चित्त की इस महा अनर्थ-कारी अग्नि को बुझा। इसमें ही दोनों पक्ष का कल्याण है।

परंतु ऐ नादान मन! तू सही मंगल मैत्री का अभ्यास कैसे कर सकेगा! जब तक कि स्वयं तुझमें इतनी कटुता भरी हुई है, क्षोभ भरा हुआ है? जब तक तुझमें यह चिन्तन चल रहा है कि इस व्यक्ति ने मेरा बुरा किया, तब तक तू उसका सही मंगल कैसे चाहेगा भला?

अवकोच्छि मं अवधि मं, अजिनि मं अहासि मे।
ये च तं उपनय्हन्ति, वेरं तेसं न सम्मति॥

(धम्मपद गाथा ३)

जब तक आदमी बार-बार के चिंत्तन द्वारा इसी बात की मन में गाठें बांधता रहता है कि इसने मुझ पर आक्रोश किया, इसने मुझे मारा, इसने मुझे पराजित किया, इसने मेरा हक छीन लिया, तब तक उसका बैर कैसे शांत हो सकता है भला?

और जब तक भीतर का बैर ही शांत न होगा, तब तक तू मंगल मैत्री कैसे कर सकेगा, भाई मेरे! जब तक तू दूसरे का दोष देखता रहेगा, तब तक उसके प्रति सच्चा प्यार जाग नहीं सकेगा तुझमें! इसलिए –

न परेसं विलोमानि, न परेसं कताकतं।
अत्तनो व अवेक्खेय्य कतानि अकतानिच॥

(चतुरारक्खदीपनी निद्देस ३, गाथा १९)

पराए का दोष न देख, पराए का कृत-अकृत न देख, यदि देखना ही है तो अपने को ही देख, अपना सुकृत-दुष्कृत ही देख।

तेरे दुष्कृत क्या कम हैं? यह जो तू पराया दोष देखकर विकारों से भर उठा है, क्या यही तेरा कम दोष है? जरा शांत होकर अपनी इस विकृति को यथाभूत क्यों नहीं निहारता? अपने विकारों को देखते-देखते ही तो तू विकार-विहीन होगा, शांत होगा, शुद्ध होगा। तभी तेरी मंगल-मैत्री निर्मल होगी, कल्याणकारी होगी, बलशाली होगी। विपश्यना द्वारा आत्म-निरीक्षण करते हुए एक बात तेरे लिए और भी बहुत स्पष्ट हो जायगी और वह यह कि जब भी कोई क्रोध के वशीभूत होता है तब वह स्वयं भीतर से अत्यंत संतापित हो उठता है। जब तू भी क्रुद्ध होने के कारण अपने आपको संतापित हुआ देखेगा तभी इस आत्मबोध के बल पर सही प्रज्ञा द्वारा यह बात तेरी समझ में आयगी कि जिस व्यक्ति ने क्रुद्ध होकर तुझे कटु वचन कहे, वह स्वयं ही इस क्रोध द्वारा भीतर ही भीतर कितना संतापित हो रहा है। तभी तुझे उसके दुःख का सही एहसास होगा, सही बोध होगा और तभी तुझमें उसके प्रति सही करुणा जागेगी, सही सहानुभूति जागेगी और तभी तेरी मैत्री निर्मल हो सकेगी। जब विपश्यना प्रज्ञा द्वारा तू अपने ही आक्रोश के अनर्थकारी परिणाम को स्वयं अपने भीतर भुगतकर देखेगा तो –

अक्कोसो मं न आगच्छि, तस्सेवा नत्थकारको।
इति ञत्वाव सपञ्ञो, अवकोसं न गरुं करे॥

(चतुरारक्खदीपनी निद्देस ३, गाथा ६०)

तो स्वतः यही कहने लगेगा कि मुझे कभी आक्रोश न आए। अरे, यह आक्रोश बड़ा अनर्थकारी है, मैं इसके अनर्थकारी परिणाम को स्वयं भुगत चुका हूं। प्रज्ञा द्वारा जान चुका हूं।

तो दूसरे के द्वारा अपने प्रति प्रकट किए हुए आक्रोश को तू क्या महत्त्व देगा भला! बल्कि उस आक्रोशी व्यक्ति के प्रति करुणा ही जागेगी तुझमें और तब तो –

मेत्तम्बुना सद्दोसो च, परदोसोच सम्मति।
मेत्तासेकेन सब्बेसु, सब्बतोग्गिं निवारये॥

(चतुरारक्खदीपनी निद्देस ३, गाथा ६२)

चाहे अपना द्वेष दौर्मनस्य हो अथवा पराया, सभी द्वेषाग्नियों का अपने निर्मल मैत्री जल से अभिषेक करके तू उन्हें शांत ही करेगा, बढ़ने नहीं देगा।

सदोस परदोसग्गिं, सब्बतो दिसतो ट्ठितं।
मेत्ता तोयेन वारेय्य, सिया निब्बुति सब्बधि॥

(चतुरारक्खदीपनी निद्देस ३, गाथा ६३)

तब तो अपने द्वेष की भी और पराये द्वेष की भी अग्नि जहां कहीं उठती हुई देखेगा, वहीं आग बुझाने वालों की तरह तुरंत मैत्री जल की ही वर्षा करेगा। क्योंकि तू इस सच्चाई को विपश्यना प्रज्ञा द्वारा स्वानुभूतियों के बल पर समझ चुका होगा, कि–

नगमे अत्तनो अग्गिं, परग्गिं वापि नागमे।
मेत्तम्बुनाव निब्बातु, सपरग्गि द्वयं भुसं॥

(चतुरारक्खदीपनी निद्देस ३, गाथा ६४)

न अपनी ही आग बढ़ने देनी चाहिए और न परायी ही। मैत्री जल से इन दोनो तेज आगों को तुरंत बुझा देनी चाहिए।

और मैत्रीजल आग को तभी बुझा सकेगा जब कि वह स्वयं निर्मल होगा। यदि तुझमें द्वेषमल होगा तो तेरी मैत्री विमल नहीं हो सकती। और मैत्री विमल नहीं होगी तो वह सार्थक नहीं हो सकती।

इसलिए ऐ मेरे मन! पराया दोष देखने की आदत छोड़! किसी क्रोधी व्यक्ति की आदत को बदलकर उसे सुधारने की भी दंभभरी आकांक्षा छोड़। स्वयं अपने आपको शुद्ध कर, अपनी मैत्री को शुद्ध कर। धवल विमल चांदनी की तरह शांतिदायिनी बना इसे।

दोसब्भा मल सञ्छन्नो, मेत्ताचन्दो न रोचति।
तंमुतस्स तु एतस्स, अतिस्सय पभावतो॥

(चतुरारक्खदीपनी निद्देस ३, गाथा ६७)

देख! तेरी मैत्री का चंदा द्वेष द्रोह वे मैले बादलों से आछन्न होकर कैसा मलीन, प्रभाहीन हो उठा है? इसे इस मैल से मुक्त कर और प्रभावान बना। अतिशय प्रभावान बना।

क्रोधी को शिक्षा देने की आदत छोड़ और ऐ मेरे मन! शांत रह! शांत रह! शांत रह! मौन रह! मौन रह! मौन रह! और मौन रहता हुआ ही शुद्ध मैत्री तरंगों से उर्मिल होता रह! अपने, पराए और सबके कल्याण के लिए! सब के मंगल के लिए!

(वर्ष ३ बुद्धवर्ष २५१७ भाद्रपद पूर्णिमा दि.१२-०९-७३ अंक ३)

उद्‌बोधन : ऐ मेरे मन! (२)

ऐ मेरे मन!

कितना समय बीत गया पर अब तक भी तेरा कुलबुलाना नहीं मिटा। तेरे भीतर क्रोध के अंगारे अब तक भी सुलग रहे हैं। अरे अबोध! इन अंगारों में तू किस कदर जल रहा है? कितना संतापित है तू इस जलन से? फिर भी, कितना दुर्बोध है रे तू? अपने भीतर धीरे-धीरे इस आग को सुलगाए ही जा रहा है। जब तक इसे शांत करने का कोई उपाय नहीं करेगा, तब तक तो यह आग अपने स्वभाव से शनैः शनैः बढ़ती ही जायगी। किसी ने ठीक ही तो कहा है: –

सिने सिप्पं सिने धनं, सिने पब्बतमाहं।
सिने कामस्स कोधस्स, इमे पञ्च सिने सिने॥

(लोकनीति गाथा १)

शनैः शनैः ही शिल्पज्ञान बढ़ता है। शनैः शनैः ही धन बढ़ता है। शनैः शनैः ही पर्वतारोहण होता है। शनैः शनैः ही काम और क्रोध बढ़ता है। ये पांचों शनैः शनैः ही बढ़ते हैं।

जैसे आग स्वयं अपने लिए नया-नया जलावन लेकर शनैः शनैः बढ़ती ही रहती है, वैसे ही स्वयमेव बढ़ते रहना इस क्रोध का सहज स्वभाव है।

अप्पो हुत्वा बहु होति, वड्ढते सो अखन्तिजो।

वह जो अशांति से उत्पन्न होने वाला क्रोध है, वह थोड़े से बढ़ता हुआ बहुत ही होते रहता है।

आसङ्गी बहुपायासो, तस्मा कोधं न रोचये।

(जातक गाथा १६)

इसका संग बहुत दुःखदायी है। ऐसा अनर्थकारी, पापी क्रोध किस समझदार को रुचिकर हो सकता है भला? परंतु तेरे जैसे नासमझ इसे बढ़ाने में ही लगे रहते हैं। वे समझ ही नहीं पाते कि इसका कितना बड़ा दुष्परिणाम होने वाला है।

वाणिजानं यथा नावा, अप्पमाणभरा गरु।
अतिभारं समादाय, अण्णवे अवसीदति॥

एवमेव नरो पापं, थोक थोकम्पि आचिनं।
अतिभारं समादाय, निरये अवसीदति॥

(जातक २. गाथा १२४५-४६)

जैसे किसी बनिए की थोड़े भार वाली नाव में अत्यधिक भार भर दिये जाने पर वह समुद्र में डूब जाती है वैसे ही थोड़ा-थोड़ा पाप-भार बढ़ाता हुआ नासमझ व्यक्ति अतिभार के कारण दुर्गतियों में डूब जाता है

चाहिए तो यह कि जिस प्रकार कोई सुनार धीरे-धीरे चांदी का थोड़ा- थोड़ा मैल दूर करता है, वैसे ही समझदार आदमी सत्प्रयत्न द्वारा क्षण प्रतिक्षण अपने मन का थोड़ा-थोड़ा मैल दूर करे। उसे द्वेषहीन बनाए, क्रोधहीन बनाए, पापहीन बनाए।

अनुपुब्बेन मेधावी, थोकं थोकं खणे खणे।
कम्मारो रजतस्सेव, निद्धमे मलमत्तनो॥

(धम्मपद गाथा २३९)

परंतु तू तो इतना नासमझ है कि अपने मैल को शनैः शनैः कम करने के बजाय उसे शनैः शनैः बढ़ाए ही जा रहा है और परिणाम स्वरूप इस आग से अपने आपको संतप्त ही किए जा रहा है। यह जो आग तेरे भीतर उत्पन्न हुई है, वह अन्य किसी को जलाए या न जलाए, तुझे तो अवश्य जलाएगी ही।

कट्ठस्मिं मत्थमानस्मिं, पावको नाम जायति।
तमेव कट्ठं डहति, यस्मा सो जायते गिनि॥

(जातक १. गाथा ५८)

जिस प्रकार किसी काठ में पारस्परिक रगड़ द्वारा उत्पन्न हुई आग उसी काठ को जलाती है, वैसे ही तेरे भीतर किसी के भी रगड़ से उत्पन्न हुई यह क्रोधाग्नि तुझे ही जला रही है।

किसी मूर्ख, अजान, अबोध से तेरी ऐसी रगड़-झगड़ हो गई कि उसके परिणाम स्वरूप तेरे भीतर यह क्रोध की अग्नि जागृत हो गई। पर तू भी तो कम अबोध नहीं कि इस आग में अब तक जले ही जा रहा है।

एवं मन्दस्स पोसस्स, बालस्स अविजानतो।
सारम्भा जायते कोधो, सोपि तेनेव डय्हति॥

(जातक ४४१. गाथा ५९)

चाहे जिस मंद-बुद्धि अबोध व्यक्ति की रगड़ से तेरे भीतर आग जल उठी हो, परंतु आग तो आग है और उसका स्वभाव है कि जहां उत्पन्न होती है, उसी को जलाती है। जिसकी रगड़ से यह आग लगी, वह जले या न जले, परंतु तू तो इस आग से जले ही जा रहा है।

जिसकी रगड़ से तेरे भीतर यह आग लगी है वह दुर्बोध हो, अज्ञानी हो अथवा कोई श्रमण हो, ज्ञानी हो, इससे क्या अंतर पड़ता है? यदि इस आग से तू

जल उठा है तो तुझे तो यह आग संतापित करेगी ही। नीम की लकड़ी की रगड़ लगी हो अथवा चंदन की लकड़ी की, यदि उस रगड़ से किसी काठ में आग उत्पन्न हो गई तो वह आग उस काठ को जलायेगी ही। जलाना ही उसका धर्म है। आग चाहे कोयले की हो अथवा पेट्रोल की हो, विद्युत की हो अथवा गैस की हो, आग तो आग है। जलायेगी ही। अतः समझदार आदमी सदैव इस बात से सतर्क रहता है कि आग चाहे जिस स्रोत से उत्पन्न हुई हो उसे बढ़ने न दे।

सुत्वान दुसितो बहुं वाचं, समणानं वा पुथुजनानं।
फरुसेन हि न पटिवज्जा, न हि सन्तो पटिसेनि करोन्ति॥

(चतुरारक्खदीपनी निद्देस ३, गाथा १७)

समझदार शांत-चित्त व्यक्ति किसी श्रमण से अथवा किसी मूढ़ अज्ञानी व्यक्ति से अनेक दूषित वचन सुनकर भी बदले में स्वयं कभी कटु-कठोर वचन का प्रयोग नहीं करता। स्वयं क्रुद्ध होकर उसका प्रतिकार नहीं करता। क्योंकि वह जानता है कि ऐसा करते ही वह स्वयं अपने भीतर आग जला लेगा। और उस दुर्भाषी व्यक्ति की क्रोध की आग में नया पेट्रोल छिड़क देगा। अपने और पराए भले को समझने वाला, न स्वयं अपनी ओर से कड़वे वचन बोलकर नयी आग लगाता है, और न ही किसी और के कड़वे वचन सुनकर उसे कड़वा प्रत्युतर देता है और उसकी आग को भड़काता है।

मा वोच फरुसं किञ्चि, वुत्ता पटिवदेय्युं तं।
दुक्खा हि सारम्भकथा, पटिदण्डा फुसेय्युं तं॥

(नरदक्खदीपनी चारित्त निद्देस गाथा १३७)

इसीलिए समझदार आदमी कभी कोई कड़वी वाणी न बोले। क्योंकि सुनने वाला क्रुद्ध होकर बदले में कड़वी वाणी ही बोलेगा। क्रोधभरा हर वचन दुःख ही पैदा करेगा। ऐसे वचनों का प्रयोग करने वाले हमेशा दुःखी होंगे।

यो कोपनेय्ये न करोति कोपं,
न कुज्झति सप्पुरिसो कदाचि।
कुद्धोपि सो नाविकरोति कोपं,
तं वे नरं समणमाहु लोके॥

(जातक १. गाथा २४)

सत्पुरुष कभी किसी पर क्रोध नहीं करता। वह तो किसी कोपभाजन पर भी क्रोध नहीं करता। क्रुद्ध हो जाय तो भी क्रोध प्रकट नहीं करता। ऐसा संयमित सत्पुरुष ही तो दुनिया में सच्चा संत कहलाता है। सचमुच समझदार के लिए क्रोध किसी भी अवस्था में उचित नहीं है।

अलसो गिही कामभोगी न साधु,
असञ्ञतो पब्बजितो न साधु।
राजा अनिसम्मकारी न साधु,
पण्डितो कोधनो तं पि नं साधु॥

(लोकनीति राजक ९३१. गाथा १२१)

आलसी कामभोगी गृहस्थ अच्छा नहीं होता, न ही संयमविहीन गृहत्यागी प्रव्रजित, बिना सोचे समझे निर्णय करने वाला शासक अच्छा नहीं होता, और न ही क्रोधयुक्त ज्ञानी पंडित व्यक्ति। कोई सचमुच ज्ञानी होगा तो वह क्रोध का गुलाम होगा ही नहीं।

समझदार व्यक्ति सदा अपनी सही सुरक्षा करता है। वह अपनी सुरक्षा में ही औरों की भी सुरक्षा देखता है। समझदार व्यक्ति सदा औरों की सही सुरक्षा करता है। वह औरों की सुरक्षा में ही अपनी भी सुरक्षा देखता है।

अत्तानं रक्खन्तो परं रक्खति,
परं रक्खन्तो अत्तानं रक्खति॥

(नरदक्खदीपनी चारित्त निद्देस गाथा १४५)

वह अपनी रक्षा करता हुआ औरों की रक्षा करता है। औरों की रक्षा करता हुआ अपनी रक्षा करता है। सचमुच, जो स्वयं क्रोध की पहल नहीं करता और किसी क्रोधी के पहल कर लेने पर प्रतिक्रिया स्वरूप भी क्रोध नहीं करता, ऐसा व्यक्ति ही तो अपनी और परायी सब की सही सुरक्षा करता है। ऐसा व्यक्ति ही तो सही माने में सत्पुरुष है।

उभिन्नमत्थं चरति, अत्तनोच परस्सच।
परं संकुप्पितं ञत्वा, यो सतो उपसम्मति॥

(नरदक्खदीपनी चारित्त निद्देस गाथा १४५)

अपने और पराये भले के लिए ही सत्पुरुष दूसरे को कुपित हुआ देखकर स्वयं शांति धारण करता है। सचमुच इसी में तो दोनों की भलाई है। कुपित हुए पर कुपित हो जायँ तो अपनी और उसकी दोनों की ही हानि हो।

ऐ मेरे भोले मन! तू जिस धर्म-पथ का पथिक है वह तो क्षांति का पथ है। शांति का पथ है, सहिष्णुता का पथ है, धीरज का पथ है। इस पथ पर चलने वाले सभी पथिक शांति का ही अभ्यास करते आए हैं। मैं जानता हूं कि यह तो अभी संभव नहीं है कि तुझे उन धर्मराज भगवान तथागत की तरह कभी, किसी भी अवस्था में, क्रोध आए ही नहीं, उनकी तरह तेरी भी भृकुटी कभी टेढ़ी हो ही नहीं। परंतु इतना तो अवश्य हो ही सकता है कि जब कभी तुझे क्रोध आए तब तू शीघ्र

से शीघ्र उसका शमन कर ले। उसे बढ़ने न दे। बुद्ध बनने के पूर्व उस नर-श्रेष्ठ ने भी तो जन्म जन्मान्तरों में यही अभ्यास किया था। भावी-बुद्ध बोधिकुमार ने सर्वथा उकसाने वाली स्थिति में भी इस दुष्ट क्रोध को अपने सिर पर सवार नहीं ही होने दिया। इसका सामना ही किया।

उप्पज्जे मे न मुच्चेय्य, न मे जीवतो।
रजंव विपुला वुट्ठि, खिप्पमेव निवारये॥

(जातक १. चूलबोधि जातक गाथा ५०)

उठते हुए क्रोध को देखते-देखते भावी बुद्ध को यह होश था कि यह उत्पन्न होगा तो मुझे नहीं छोड़ेगा, जीवन भर बांधे रखेगा जिस तरह उठती हुई धूल को विपुल वृष्टि द्वारा दबा दिया जाता है, वैसे ही इसका निवारण कर देना चाहिए। और यही तो उसने किया भी।

उप्पज्जि मे न मुच्चित्थ, न मे मुच्चित्थ जीवतो।
रजं व विपुला वुट्ठि खिप्पमेव निवारयिन्ति॥

(जातक १. चूलबोधि जातक गाथा ५२)

यह क्रोध जैसे ही उत्पन्न हुआ, मैं उसके अधीन नहीं हुआ। अतः यह मुझे जीवन भर अपना गुलाम बनाए न रख सका। (परन्तु अब) जिस प्रकार उठती हुई धूल का निवारण विपुल वर्षा द्वारा हो जाया करता है, वैसे ही मैंने इसका निवारण कर लिया।

यम्हि जाते न पस्सति, अजाते साधु पस्सति।
सो मे उप्पज्जि नो मुच्चि, कोधो दुम्मेधगोचरो ॥

(जातक १. चूलबोधि जातक गाथा ५४)

कैसा अनिष्टकारक है यह क्रोध! सज्जन इसके उत्पन्न होने के पहले ही भली-भांति देख समझ सकते हैं। इसके उत्पन्न होने पर तो सारी सूझ-बूझ नष्ट हो जाती है। ऐसे अनर्थकारी क्रोध के उत्पन्न होने पर मैं इसके अधीन नहीं हुआ। सचमुच क्रोध तो मूर्खों की ही गोचर भूमि है।

यस्मिञ्च जायमानम्हि, सदत्थं नावबुज्झति।
सो मे उप्पज्जि नो मुच्चि, कोधो दुम्मेधगोचरो॥

(जातक १. चूलबोधि जातक गाथा ५६)

जिसके उत्पन्न होने पर आदमी की सारी सद्बुद्धि नष्ट हो जाती है और वह स्वयं अपना भला बुरा भी नहीं समझ सकता, ऐसा दुष्ट क्रोध मुझमें उत्पन्न हुआ, परंतु मैं उसके वशीभूत नहीं हुआ। अहो, क्रोध तो मूर्खों की ही गोचरभूमि है।

येन जातेन नन्दन्ति, अमित्ता दुक्खमेसिनो।
सो मे उप्पज्जि नो मुच्चि, कोधो दुम्मेधगोचरो॥

(जातक १. चूलबोधि जातक गाथा ५५)

जब मुझमें क्रोध जागता है तो मेरे वे दुश्मन जो मेरा अनिष्ट चाहते हैं, जो मुझे दुःखी देखना चाहते हैं, उनकी इच्छा पूरी होती है, वे ऐसा देखकर प्रसन्न ही होते हैं। क्योंकि क्रोध को जन्म देकर मैं अपने दुःखों को ही जन्म देता हूं। इसीलिए मुझे क्रोधान्वित देखकर वे प्रसन्न ही होते हैं। ऐसा दुःखदायी क्रोध मुझमें उत्पन्न हुआ, परंतु मैंने उसका तुरंत शमन कर दिया। मैं उसका गुलाम न बन सका। अहो, क्रोध तो मूर्खों की ही गोचर भूमि है।

येनाभिभूतो कुसलं जहाति,
परक्करे विपुलञ्चापि अत्थं।
स भीमसेनो बलवा पमद्दी,
कोधो महाराज न मे अमुच्चथ॥

(जातक १. चूलबोधि जातक गाथा ५७)

जिसके वशीभूत होकर आदमी अपना कुशल खो देता है। बड़े से बड़ा लाभ गंवा देता है। हे महाराज! बड़े बड़ों का मर्दन कर देने वाला ऐसा भयावह बलशाली वह क्रोध मुझे अपने बंधन में न बांध सका। अहो, महा अनर्थकारी क्रोध का गुलाम होने से मैं बच गया। इस विजय की खुशी में भावी-बुद्ध बोधिकुमार प्रसन्न हो उठा।

ऐ मेरे बावरे मन! तू भी उसी संत के पावन पथ का अनुगामी बन। जीत, अपने उठते हुए क्रोध को जीत। इसे बढ़ने न दे, इसके वशीभूत न हो, नहीं तो यह तेरे भीतर ऐसा द्वेष-दौर्मनस्य भर देगा जो कि जीवन भर तुझ पर छाया रहेगा। जीवन भर तुझे दुःखी बनाता रहेगा। इसके पहले कि यह तुझे पछाड़ दे और सदा-सदा के लिए तुझे अपने वश में कर ले, शीघ्र इसके चंगुल से निकल, इसका गुलाम होने से बच। दौर्मनस्य के इस उठते हुए गर्द-गुब्बार पर प्रीति-प्यार की माधुरी वर्षा कर, मंगल-मैत्री की विपुल बौछार कर। और इसका शमन कर। शमन कर! शमन कर! ताकि तू भी प्रसन्नतापूर्वक कह सके–

सो मे उप्पज्जि नो मुच्चि, कोधो दुम्मेधगोचरो।

(जातक १. चूलबोधि जातक गाथा ५६)

वह दुष्ट क्रोध मुझमें उत्पन्न तो हुआ, पर मुझे अपने वशीभूत न कर सका। वशीभूत न कर सका। क्रोध तो मूर्खों की ही गोचरभूमि है।

(वर्ष ३ बुद्धवर्ष २५१७ आश्विन पूर्णिमा दि. १२-१०-७३ अंक ४)

उद्बोधन : ऐ मेरे मन! (३)

ऐ मेरे मन!

बता तो सही, वह कौन है जिसके बर्ताव से तू इस कदर तिलमिला उठा और अब तक तिलमिलाए ही जा रहा है? वह तेरा पुत्र है? पिता है? अनुज है? अग्रज है? पत्नी है? पति है? सास है? बहू है? गुरु है? शिष्य है? मित्र है? स्नेही है? अवश्य! अवश्य! इन्हीं में से कोई एक होगा तभी तेरा दौर्मनस्य अब तक दूर नहीं हो पाया। तभी तो प्रैशर कूकर की तरह अभी तक भीतर ही भीतर कुलबुलाए ही जा रहा है।

सचमुच, जो जितना निकटस्थ है, उसका दुर्व्यवहार उतना ही अधिक कटु लगता है। कोई घनिष्ठ स्वजन न होकर केवल सामान्य परिचित ही हो तो उसका दुर्व्यवहार जल्दी भुला दिया जाता है और यदि कोई नितांत अपरिचित ही हो तो उसके दुर्व्यवहार को बहुधा महत्त्व तक नहीं दिया जाता। परंतु वैसा ही दुर्व्यवहार यदि घनिष्ठ स्वजन करे तो वह देर तक हृदय को सालता रहता है। वर्षों तक और कभी-कभी तो जीवन भर जी जलाता रहता है।

कभी सोचा तूने कि ऐसा क्यों होता है? कभी समझा तूने कि भिन्न-भिन्न व्यक्तियों द्वारा प्रकट किया हुआ एक जैसा ही दुर्व्यवहार तुझे कम-अधिक पीड़ाजनक क्यों लगता है? जरा ध्यान देकर देख तो सच्चाई स्पष्ट नजर आने लगेगी। जिसे तूने अपना मान रखा है उसके आंख बदलने पर ही तू इतना व्याकुल हो उठता है। जिसे तूने कभी अपना नहीं माना था, उसके आंख बदल लेने पर दु:ख हो तो भी उतनी गहराइयों तक नहीं जाता और उतनी देर तक नहीं टिकता। अत: गहरा दु:ख महज गहरे दुर्व्यवहार के कारण नहीं है। गहरा दु:ख दुर्व्यवहार करने वाले व्यक्ति के प्रति तेरे स्वजनभाव के कारण है। जिसको तूने अपना मान लिया, उससे यह भी अपेक्षा करने लगा कि उसका सारा व्यवहार तेरे इच्छानुकूल होना चाहिए। तेरे इच्छानुकूल नहीं हो रहा है तो वह तेरा अपना कैसे हुआ? अत: जहां किसी अपने का अपनापन टूटने लगा, वहीं तेरा दु:ख बढ़ने लगा। क्योंकि जिसे अपना माना उसके प्रति अनेक स्वप्न भी तो संजोए और उस अपनेपन के टूटने के साथ-साथ वे स्वप्न भी तो टूटे। मसलन– यह मेरा पुत्र है। मैंने इसे पाल-पोसकर इतना बड़ा किया है, पढ़ाया है, लिखाया है, काम-धंधा सिखाया है और अब इसे कमाने योग्य बना दिया है। और यह सब इसलिए कि जब मैं बूढ़ा हो जाऊंगा, अपंग हो जाऊंगा, दुर्बल हो जाऊंगा, कमाने लायक नहीं रहूंगा तब यह मेरी देख-भाल करेगा, सेवा करेगा, आज्ञा-पालन करेगा, मेरी इच्छाओं की पूर्ति करेगा।

और अब एकाएक इस मोहक स्वप्न पर करारी ठोकर लगी। अपने पांव पर खड़ा होते ही यही पुत्र मेरी उपेक्षा करने लगा, अवहेलना करने लगा। इसे अब मेरी कोई आवश्यकता नहीं रह गई इसलिए मेरा निरादर तक करने लगा। मेरे स्वप्नों का सुंदर महल भरभरा कर ढह पड़ा। अथवा –

यह मेरा पिता है, यह मुझे कितना प्यार करता है। मुझसे कोई भूल भी हो जाय तो सदा माफ कर देता है। औरों के सामने मेरी भूल को छिपाता है और मेरे गुणों को बढ़ा-चढ़ाकर बताता है। किसी से झगड़ा हो जाय तो सदा मेरा ही पक्ष लेता है; मुझ पर कितना स्नेह बरसाता है। यह सदा ही मुझे ऐसा प्यार देता रहेगा। सदा मेरा ही पक्ष लेता रहेगा। पिता के संबंध में ऐसे स्वप्न मैंने संजो रखे हैं। परंतु एक दिन देखता हूं कि वह अपने छोटे बेटे को अधिक प्यार करने लगा है। उसे ही अधिक महत्त्व देता है। उसका ही अधिक पक्ष लेता है। मेरी कितनी अवहेलना करता है और उस पर कितना स्नेह बरसाता है। मेरी कितनी उपेक्षा करता है और उसका कितना ख्याल रखता है। मेरे पिता की जो स्नेह-मूर्ति मैंने अपने मन में गढ़ी थी वह इस प्रकार टूटने लगती है। अब वही प्यारा पिता मुझे कितना बुरा लगने लगता है। अथवा –

यह मेरा भाई है, सहोदर है। किस प्रकार मुझ पर अपना प्राण निछावर करता है। छोटा है तो मुझे कितना आदर सम्मान देता है। बड़ा है तो मुझ पर कितना प्यार उड़ेलता है। हम दोनों के परस्पर प्यार का संबंध लोगों के लिए चर्चा का विषय बन गया है। परंतु समय बदलता है और मैं देखता हूं कि मेरे भाई का जो सुंदर चित्र मैंने अपने अंतःपटल पर खींच रखा था, उसका रंग बदलने लगा है। वह मुझे अत्यंत असुंदर लगने लगा है। क्योंकि अब उसके अपने स्वार्थ उभर आये हैं जो कि मेरे स्वार्थों से टकराने लगे हैं। वह सदा अपने स्वार्थ की ही बात करता है। मेरे स्वार्थ की बात को सदा ही काटता है। ऐसा भाई अब मुझे भीतर ही भीतर काटने लगा। कचोटने लगा। अथवा –

यह मेरी पत्नी है। कितनी प्यारभरी! कितनी पतिव्रता! कितनी आज्ञाकारिणी! कितनी सेवामयी! इसके साथ प्यारभरा जीवन बिताने के कितने सुंदर स्वप्न संजोए थे मैंने! और अब इसे क्या हो गया? यह मेरे स्वप्नों की रानी! इसका रंग-ढंग बदला-बदला नजर आने लगा। इसकी वफादारी पर संदेह होने लगा मुझे। और इसके प्रति मन में जो इतना बड़ा आकर्षण था, वह कपूर की तरह कहां उड़ गया? अथवा –

यह मेरा पति है। प्यार का पुतला! स्नेह का समुंदर! मेरे सिवा किसी की ओर आंख उठाकर देखता भी नहीं। मेरे स्वप्नों का देवता! अरे, एकाएक इसको क्या हो गया? किस डाइन ने इस पर जादू कर दिया? अब यह मुझसे कितना

खिंचा-खिंचा रहने लगा। इसकी सारी हरकतें मुझे कितनी अप्रिय लगने लगीं। अथवा –

यह मेरी बहू है। घर में आई थी तो इसे लेकर कितने सुंदर स्वप्नों का संसार रचाया था मैंने! यह मेरी खूब सेवा करेगी। सदा मेरे मनोनुकूल रहेगी, मेरा आदर सम्मान करेगी। परंतु सारे स्वप्न कितनी जल्दी बिखर गए। स्वयं तो मनमानी करने ही लगी, मेरे प्रिय आज्ञाकारी पुत्र को भी किस प्रकार मेरे विरुद्ध कर दिया इस कलमुंही ने? अथवा –

यह मेरा गुरु है, मुझ पर कितनी कृपा है इसकी। मैं ही इसका पट्ट शिष्य साबित होने वाला हूं। मैं ही इसकी गद्दी का उत्तराधिकारी बनने वाला हूं। परंतु अरे, एकाएक क्या हो गया इसे? अब यह मुझको इतना महत्त्व क्यों नहीं देता? मुझसे कनिष्ठ शिष्यों को क्यों इतना महत्त्व देने लगा? अथवा –

यह मेरा शिष्य है। बड़ा विनीत! बड़ा श्रद्धालु! यह सदा ऐसा ही बना रहेगा। परंतु नहीं, ऐसा नहीं हुआ। कितना बदल गया, यह एकाएक! अब यह अपनी इच्छाओं को ही महत्त्व देने लगा। मेरी इच्छाओं के विरुद्ध मनमानी करने लगा। टूटा स्वप्न, टूटी आशाएं आदि आदि।

इस प्रकार जब कभी तेरा कोई भी प्यारा घनिष्ठ तेरी इच्छाओं के प्रतिकूल काम करने लगे, तेरे स्वप्नों के विपरीत काम करने लगे तब उसके प्रति उत्पन्न हुआ तेरा सारा स्नेह-संबंध छिन्न-भिन्न होने लगता है। इससे यह स्पष्ट है कि तुझे वस्तुतः न माता-पिता प्रिय हैं, न पुत्र-कलत्र, न भाई-बंधु, न सगे-संबंधी। सबसे बड़ा प्यार तुझे अपने आप से है। **नत्थि अत्त समं पेमं।** सबसे बड़ा प्यार तुझे अपने सपनों से है। अपनी महत्त्वाकांक्षाओं से है। जो-जो व्यक्ति इन सपनों को पूरा करने में तेरे साथ हैं, वे-वे प्रिय हैं। जो-जो अवरोधक हैं वे-वे अप्रिय हैं। जब-जब साथ हैं तब-तब प्रिय हैं, जब-जब अवरोधक हैं तब-तब अप्रिय है। जितने-जितने साथ हैं उतने-उतने प्रिय हैं। जितने-जितने अवरोधक है, उतने-उतने अप्रिय हैं। कोई तेरे सपनों के अनुकूल व्यवहार करता है तो वह पिता न होने पर भी तुझे पिता जैसा पूज्य लगने लगता है। पुत्र न होने पर भी पुत्र जैसा प्रिय लगने लगता है। भाई न होने पर भी भाई जैसा प्यारा लगने लगता है। उसकी हर हरकत तुझे बड़ी सुहावनी लगती है उसका हर बोल तेरे कानों में मिश्री घोलता है। परंतु यदि कोई तेरे स्वप्नों के विपरीत कुछ करने लगे तो वह पिता हो तो भी दुश्मन जैसा लगने लगता है। पुत्र हो तो भी बैरी जैसा लगने लगता है। भाई हो तो भी जहर जैसा लगने लगता है। उसकी हर हरकत तेरी आंखों में कांटे सी खटकती है। उसका हर बोल तेरे हृदय में बिष बुझे तीर-सा चुभता है। जिन-जिन व्यक्तियों के स्वप्न तेरे स्वप्नों से ताल मेल खाते हैं, जिन-जिन व्यक्तियों की आशा-आकांक्षाएं तेरी आशा-आकांक्षाओं के

समानांतर अनुकूल दिशागामिनी हैं, वे-वे व्यक्ति तुझे बड़े प्रिय लगते हैं। जिन-जिन के स्वप्न तेरे स्वप्नों से टकराने लगे, जिन-जिन की आशा-आकांक्षाएं तेरी आशा आकांक्षाओं से विपरीत दिशा की ओर जाने लगीं वे-वे तुझे कड़ुवे लगने लगे। किसी अनजान अपरिचित व्यक्ति के साथ तू अपने स्वप्नों का तालमेल नहीं बैठाता। जो निकटस्थ हैं घनिष्ठ हैं उनसे ही अपने भावी स्वप्नों के संबंध जोड़ता है। और उन्हीं को लेकर जब स्वप्न टूटते हैं तब वे ही खूब खारे लगने लगते हैं। उनका ही व्यवहार अत्यंत अप्रिय लगने लगता है। उनके ही बोल तुझे काटने लगते हैं।

तू चाहता है कि सब तुझसे मुस्कराकर बात करें। क्योंकि कोई मुस्कराकर बात करता है तो तुझे अच्छा लगता है। तू चाहता है कि कोई तेरा तिरस्कार न करे; क्योंकि तिरस्कार करता है तो तुझे बुरा लगता है। परंतु तू यह क्यों नहीं समझता कि कल तक जो व्यक्ति तुझे प्यार करता था और तेरा तिरस्कार नहीं करता था, वह आज एकाएक क्यों पलट गया? स्पष्ट है कि उसे पता चल गया कि अब तू भीतर ही भीतर उसके सपनों की जड़ खोदने लगा है। तू अपने सपने पूरे करने के लिए उसके सपनों पर कुठाराघात करने लगा है। और हर व्यक्ति के अपने-अपने सपने होते हैं। हर व्यक्ति को अपने सपनों से आसक्ति होती है। ऐसी अवस्था में अपने सपनों से आसक्त हुआ वह व्यक्ति तुझसे मुँह नहीं मोड़ लेगा तो और क्या करेगा? तू अपनी ओर देख। तू भी जब किसी को अपने सपनों के विरुद्ध जाते देखता है तब उसके प्रति किस प्रकार घृणा से भर उठता है और उससे अपने सारे प्रिय संबंध तोड़ बैठता है। उसके प्रति कड़ुवे बोल बोलने लगता है, उसका तिरस्कार करने लगता है। यदि ऐसे ही कोई अन्य भी तेरे प्रति करने लगे तो इसमें अनोखापन क्या है?

समझ, भोले मन, जो तेरी अवस्था है, वही सबकी अवस्था है। जैसे तुझे अपने सपने प्रिय हैं, वैसे ही औरों को भी अपने-अपने सपने प्रिय हैं। जैसे तुझे अपनी महत्त्वाकांक्षाओं को पूरा करने के अतिरिक्त और कुछ नहीं सूझता, वही दशा औरों की भी है। सबके सब एक जैसी आग की लपटों में जले जा रहे हैं।

समझ, इस स्वभाव के सही रहस्य को समझ! पहले तो तूने भविष्य के प्रति सुनहरी आशाओं के कपोल कल्पित सपने रच लिए। फिर इन सपनों के प्रति गहरी आसक्ति पैदा कर ली। और इन सपनों की पूर्ति में ही अपने भविष्य की सुरक्षा मान बैठा। यह सपने पूरे नहीं होंगे तो मेरा क्या होगा? इस भय और आशंका के मारे भावी कल के प्रति चिंतित-व्यथित रहने लगा। अपने आपको सदा असुरक्षित महसूस करने लगा। ऐसी अरक्षित अवस्था में अपने किसी निकटस्थ व्यक्ति को अपनी सुरक्षा के केंद्र के रूप में देखने लगा। उसके साथ तेरे सारे संबंध इस सुरक्षा को लेकर ही बने। जो जितना नजदीक है वह तेरे लिए अपनी सुरक्षा का उतना ही मजबूत गढ़ बन गया। और जब-जब यह गढ़ टूटता नजर आया, तब-तब तू बेहद

व्याकुल हो उठा। जिन अपरिचित लोगों के प्रति तेरे मन में भविष्य की सुरक्षा संबंधी कभी कोई आशा जगी ही नहीं, उनके अनचाहे व्यवहार ने तुझे इतना दुःखी कभी नहीं बनाया। परंतु जिन-जिन के प्रति तूने अपने भविष्य की सुरक्षा की आशा बांधी, उन-उन को बदलते देखकर तू इतना व्याकुल हो उठा। इसीलिए कहता हूं कि जिसके कटु वचनों ने तुझे अब तक इतना व्याकुल कर रखा है, वह अवश्य ही तेरा कोई निकटस्थ है। उसके प्रति तेरे मन में बड़ी-बड़ी आशाएं थीं। उसमें तू अपने सुनहरे सपनों की पूर्ति का साधन देखता था। और उसके इस अवांछित और अप्रत्याशित व्यवहार ने तेरी सारी आशाओं पर पानी फेर दिया। यही मुख्य कारण है तेरी गहरी बेचैनी का।

इसलिए, ऐ मेरे अबोध मन! अपनी बेचैनियों से मुक्ति पाने के लिए इन बेचैनियों के ऊपरी-ऊपरी कारणों से उलझना छोड़। मूल कारण को समझ कर उसे ही दूर करना सीख। यह जो तूने अपने आप के प्रति गहरी आसक्ति पैदा कर ली है अपने सपनों के प्रति गहरी आसक्ति पैदा कर ली है, इन सपनों को लेकर, इन स्वजनों के प्रति गहरी आसक्ति पैदा कर ली है, इसे दूर कर। किसी भ्रामक "मैं" के प्रति पैदा हुई यह आसक्ति, किसी कल्पित सपने के प्रति पैदा हुई यह आसक्ति, किसी भंगुर व्यक्ति के प्रति पैदा हुई यह आसक्ति, किसी परिवर्तनशील परिस्थिति के प्रति पैदा हुई यह आसक्ति, बेचैनी ही पैदा करने वाली है। अतः किसी की ओर आशाभरी आंखों से देख-देख कर उसके सहारे सुनहरे सपने संजोने की दुःखजननी आदत छोड़। ऐसे सपने सदा पूरे नहीं हुआ करते। कभी कोई पूरा हो भी जाय तो अनेक नए-नए सपने पैदा होने लगते हैं। तांता बँध जाता है इन आशाभरे सपनों का। और जब कोई भी एक सपना पूरा नहीं होता अथवा पूरा होकर नष्ट हो जाता है तब बड़ा दुःख होता है, और वह हर व्यक्ति जो इसका प्रत्यक्ष कारण बनता है, वही दुश्मन जैसा लगने लगता है। इस सच्चाई को समझते हुए किसी स्वजन पर क्रुद्ध होने के बजाय अपनी ही इन कमनीय कल्पित आशाओं की आसक्तियों से बाहर निकल। और विपश्यना साधना द्वारा इस दुःख की जड़ खोदकर, सच्चा सुख हासिल कर। शांति इसी में है। मुक्ति इसी में है। मंगल इसी में है।

(वर्ष ३ बुद्धवर्ष २५१७ कार्तिक पूर्णिमा दि.१०-११-७३ अंक ५)

रूप कथा (४)

प्रकृति के विस्तृत प्रांगण में हम महाभूतों के स्थूल-स्थूल दर्शन करते ही रहते हैं। यह ठोस धरती है - पृथ्वी महाभूत। समीप ही लहराता हुआ सागर है - जल महाभूत। पास ही धधकती हुई आग है– अग्नि महाभूत। आंधी का एक तेज झोंका है - पवन महाभूत। और यह अनंत अंतरिक्ष है– आकाश महाभूत।

इससे जरा छोटे दायरे में देखें। यह एक ऊंची अट्टालिका है। यह ईंट, पत्थर लकड़ी व लोहे से बनी है– पृथ्वी महाभूत। स्नान-घर में पानी बह रहा है– जल महाभूत। चूल्हे में आग जल रही है– अग्नि महाभूत। पंखे से हवा चल रही है– पवन महाभूत दीवारों से घिरा हुआ स्थान है– आकाश महाभूत।

इसी प्रकार और छोटे दायरे में अपने शरीर को देखें। हड्डी, नाखून, केश मांस, त्वचा है– ठोस है, घनीभूत है– पृथ्वी महाभूत, लहू, पीप, पसीना, आंसू, पेशाब है, द्रवीभूत है– जल महाभूत। प्राण, अपान, समान, व्यान और उदान वायु है– पवन महाभूत। शरीर की नैसर्गिक उष्णता है अथवा भोजन पचाने वाली जठराग्नि है– अग्नि महाभूत। नाक के विवर में, कान के छेद में शून्य है, पोल है, आकाश महाभूत।

परंतु महाभूतों का यह दर्शन भी स्थूल ही स्थूल है। यदि सूक्ष्म स्तर पर महाभूतों का दर्शन करना हो तो उनके स्वभाव का ही दर्शन करना होगा। इसीलिए सूक्ष्मतम स्थिति में प्रत्येक महाभूत को धातु ही कहा गया। पठवीधातु (पृथ्वीधातु), आपोधातु (जलधातु), तेजोधातु (अग्निधातु)। वायोधातु (पवनधातु) आकासधातु (आकाशधातु) धातु माने स्वभाव। **"अत्तनो सभाव धारेती'ति धातु।"** जो अपना स्वभाव धारण करती है, उसका नाम धातु। तो आओ, समझें कि इन महाभूतों की क्या-क्या धातु है? इनका क्या-क्या स्वभाव है? पहले उन चारों महाभूतों की धातु को जानें, समझें, जो कि प्रत्येक रूप कलाप में यानी भौतिक पदार्थ के सूक्ष्मतम परमाणुकण में समाए हुए हैं।

१. पठवीधातु (पृथ्वी धातु) : रूप कलाप का यह स्वभाव है कि वह शून्य को घेर लेता है, आकाश के किसी प्रदेश को ढक लेता है, रोक लेता है, कब्जे में कर लेता है। यह स्वभाव जो कि सभी भौतिक पदार्थों में प्रकट होता है, वस्तुतः पृथ्वी धातु का ही है। पृथ्वीधातु आवरण लक्षण वाली है। जो शून्य में प्रतिष्ठित है, वह पृथ्वी है यानी प्रतिष्ठापन पृथ्वी का स्वभाव है। इसीलिए प्रतिघात भी पृथ्वी का ही स्वभाव है। शून्य आकाश में जहां एक वस्तु प्रतिष्ठित हुई वहां दूसरी वस्तु नहीं

आ सकती। आए तो प्रतिघात होता है, टकराव होता है। महाभूत का अर्थ ही है – महान होना, यानी विकसित होना, प्रसारित होना। भौतिक पदार्थों का यह मूलभूत स्वभाव भी वस्तुतः पृथ्वी तत्त्व के कारण ही है। पृथ्वी तत्त्व फैलाव, बढ़ाव का ही तत्त्व है। फैलकर विशाल होती है, पृथुल होती है, इसीलिए पृथ्वी कहलाती है। आकाश के जिस हिस्से को उसने घेर लिया है, वह अन्य हिस्सों से अलग हो गया है, पृथक हो गया है। पृथक करने के स्वभाव वाली होने के कारण भी पृथ्वी कहलाती है। प्रस्तार के ऐसे स्वभाव वाली होने के कारण ही प्रस्तर है, पत्थर है – अतः पृथ्वी है।

आकाश को घेर लेना और स्वयं आकाश से घिर जाना, यह पृथ्वी का ही स्वभाव है। पृथ्वी धातु के इस प्रसरण यानी पसरने के स्वभाव के कारण ही आकार-प्रकार प्रकट होता है। विभिन्न आकृतियां बनती हैं। आकाश को जितना-जितना, जिस-जिस प्रकार से घेर लिया, वैसी-वैसी ही आकृति तैयार हो गई। त्रिपक्षीय आयाम का जो विस्तार है, वही तो पृथ्वी धातु है। कोई भी आकार हो वह इतना लंबा है, इतना चौड़ा है, इतना गहरा है, यह विस्तार पृथ्वी धातु का ही लक्षण है। पृथ्वीधातु सघनता का तत्त्व है। इसी कारण सारे भौतिक पदार्थ सघन होकर आकाश में स्थान ग्रहण करते हैं। पृथ्वीधातु के कारण ही शून्य में किसी सजीव अथवा निर्जीव भौतिक वस्तु का अस्तित्व बोध होता है।

पृथ्वी का एक और स्वभाव संधारण करना है। धारण करती है इसीलिए धरती कहलाती है। मोटे-मोटे तौर पर हम देखते हैं कि संधारण शक्ति के कारण ही पृथ्वी अपने पर पेड़-पौधों को, जीव-जंतुओं को धारण किए हुए है। परंतु सूक्ष्म तौर पर देखें तो पता चलेगा कि सभी भौतिक पदार्थों में पृथ्वी धातु ही आधारभूत रहकर अग्नि, जल, वायु, धातु को धारण करती है।

पृथ्वीधातु केवल ठोस धरती में ही है ऐसा समझ लेना गलत है। जल समूह में भी पृथ्वीधातु ही फैलाव का तत्त्व लिए हुए विद्यमान है। फैलकर आकाश को घेर लेना मात्र धरती का ही काम नहीं है। यह जो हमारी आंखों के सामने विशाल सागर लहरा रहा है, इसने भी तो इतना स्थान घेर रखा है। इसलिए यह भी पृथ्वी तत्त्व का ही परिचायक है। इसी प्रकार अंतरिक्ष में यह जो हवा भरी हुई है, यह जो बादल मंडरा रहे हैं, इन्होंने भी आकाश को घेर रखा है, इसलिए इन सब में पृथ्वीधातु का गुण समाया हुआ है।

शून्य में जो कुछ उभरे उसे हम भौतिक वस्तु कहते हैं। इस उभार को यानी इस वस्तु को जो भी आकृति है, इसका जो भी माप है, वह पृथ्वीधातु का ही प्रकटीकरण है। जैसे माप वैसे ही तोल भी पृथ्वीधातु का ही लक्षण है। कोई भी

पदार्थ हलका है या भारी है, उसका यह वजन पृथ्वीधातु का ही परिचायक है। अतः भारी से भारी और हल्के से हल्के तक का सारा क्षेत्र पृथ्वी धातु का ही गुण-क्षेत्र है। कोई भी भौतिक पदार्थ हो, सजीव हो अथवा निर्जीव हो, वह भारी-हल्का तो होगा ही। उसका कुछ वजन तो होगा ही। यह वजन ही उसके भीतर समायी हुई पृथ्वीधातु का परिचायक है। ऐसे ही वह पदार्थ या तो कठिन, कठोर, कर्कश, कड़ा, ठोस, खुरदरा होगा अथवा कोमल, सुकुमार, नरम, मुलायम, मृदुल, लचीला, गुदगुदा होगा। पदार्थों का यह जो कड़ापन या मुलायमपन है, कठोरपन या कोमलपन है, यह सब पृथ्वीधातु का ही गुण-क्षेत्र है। चट्टान की कड़ी से कड़ी कठोरता भी पृथ्वीधातु है और जल की नरमी भी पृथ्वीधातु है। वैसे ही जैसे कि पत्थर का भारीपन भी पृथ्वीधातु है और हवा का हल्कापन भी पृथ्वीधातु है। पृथ्वीधातु इन लक्षणों के भिन्न-भिन्न स्तरों का नाम है। कम-अधिक मात्रा में ये गुण सभी भौतिक पदार्थों में या रूप कलापों में पाए ही जाते हैं। अतः पृथ्वीधातु सभी भौतिक पदार्थों में अनिवार्य रूप से होती ही है।

२. **आपोधातु (जल धातु)** : इसका गुण नमी है और इसका स्वभाव अनुबंधन करना है यानी बांध लेना है। यों भी कह सकते हैं कि नमी (**Moisture**) और अनुबंधन स्वभाव (**Binding Nature**) ही आपोधातु है। यही सारे सजीव-निर्जीव प्राणियों व वस्तुओं को अपने आकार में बांधे हुए है, जोड़े हुए है, संश्लिष्ट किए हुए है, संयुक्त-संगृहीत-संयोजित किए हुए है, पिंड बनाए हुए है। बांधने की भी भिन्न-भिन्न मात्राएं होती हैं, भिन्न-भिन्न प्रकार होते हैं। जैसे भी बंधा हो, परंतु बांध लेने का यह सारा क्षेत्र जलधातु का ही गुणक्षेत्र है। जलधातु की यह नमी जब बहुत बढ़ जाती है तब वह द्रवीभूत या तरल हो जाती है जिसे कि उन दिनों की भाषा में पग्घरण कहा गया। पग्घरण यानी चूना, बहना, प्रवहमान होना। यह सब आपोधातु का ही स्वभाव है। जहां-जहां द्रवत्व है, स्नेहत्व है, वहां-वहां आपोधातु के स्वभाव का ही प्रकटीकरण है। द्रवत्व और स्नेहत्व बांध लेने का ही काम करते है और बांध लेने वाला सारा तत्त्व आपोधातु का ही तत्त्व है सभी भौतिक पदार्थों को बांधे रखना, बिखरने न देना, यही आपोधातु का स्वभाव है। अतः द्रवीभूत पदार्थ अपने आप में आपोधातु नहीं, परंतु द्रवीभूत पदार्थ में जो बांध लेने का सामर्थ्य है, वह आपोधातु है। जो पदार्थ जितना अधिक पिघला हुआ है, उसमें अनुबंधन का गुण उतना ही अधिक है, वह उतनी ही सरलता से स्वयं बँध जाता है तथा अन्य को अपने साथ बांध लेता है। दो द्रवीभूत पदार्थ परस्पर मिलते ही बँध जाते हैं, एक हो जाते है। परंतु किसी ठोस पदार्थ के दो टुकड़े हो जायँ तो आपस में जुड़ नही पाते। इन्हें जोड़ने के लिए उनमें गर्मी पैदा करनी पड़ती है, उन्हें पिघलाना पड़ता है। पिघलना शुरू हो जाय तो जुड़ना आसान हो

जाय। तो जो नमी है, पिघलना है, यही जोड़नेवाला है और यही आपोधातु है। इस विशाल समुद्र में जो हमें अनंत जलराशि दीख रही है, यह जलराशि अपने आपमें आपोधातु नहीं हैं। यह जो समूह एक जगह एकत्र हो गया है, इस जल समूह की एक-एक बूंद अलग-अलग छितराई हुई नहीं है, समूह रूप में बँधी हुई है, इसका यह बँधना ही आपोधातु है। यह जो उसे बांधे रखनेवाला गुण है यह आपोधातु है। जैसे सागर में तरल पानी का संग्रह है, वैसे ही हिमालय में कठोर चट्टानों का संग्रह है। दोनों ही तो संग्रहीभूत हैं। दोनों में ही जो अनुबंधन का स्वभाव है, वह आपोधातु है। इसी तरह यह बादलों का समूह है। इनमें जो एकत्र हुए रहने का, संगृहीत रहने का स्वभाव है, यह भी आपोधातु ही है। जोड़े रखना आपोधातु का गुण है। आपोधातु न हो तो सब कुछ बिखर जाय, साथ टिके न रह सकें। जब हम कोई वस्तु या व्यक्ति देखते हैं तो खुले शून्य में किसी पदार्थ के सीमाबद्ध फैलाव का ही दर्शन करते हैं। उस फैलाव के सीमाबंधन से ही एक आकृति बनती है। उस आकृति का वह फैलाव पृथ्वीधातु है, परंतु उसे जोड़े रखने वाली शक्ति आपोधातु है। वह न हो तो सारे भौतिक पदार्थ भरभराकर बिखर जायँ। यह जलधातु का ही गुण है कि इन्हें जोड़े रखता है, विश्रृंखलित नहीं होने देता। अतः सभी भौतिक पदार्थों में जलधातु विद्यमान है ही।

३. **तेजोधातु (अग्नि धातु)** : तपाना, जलाना, पकाना, यही इसका स्वभाव है। इसी के द्वारा सारे भौतिक पदार्थ परिपक्वता को प्राप्त होते हैं। शेष तीनों धातुओं को यह गर्माती है, तेज करती है, पकाती है। उष्णता से ही ऊर्जा पैदा होती है। यही इसका गुण है, सभी पेड़ पौधे, जीव-जंतु इस धातु के बल पर ही ऊर्जा पाते हैं, जीवन पाते हैं। उत्पन्न करना, बढ़ाना और नष्ट करना इसी का काम है। मुर्गी अपने अंडे को सेती है तो उष्णता से ही वह पकता है और चूजा जन्म लेता है। यह उष्णता ही सभी वस्तुओं, व्यक्तियों को, धातुओं को पकाती है और समय पाकर जरा जीर्ण कर देती है और नष्ट कर देती है।

तापमान ही तेजोधातु का गुण-धर्म-स्वभाव है। तापमान भी सापेक्ष है। शीतल तापमान को भी तेजोधातु ही कहेंगे। क्योंकि जिसे हम शीतल कहें, उससे जो अधिक शीतल है, उसकी तुलना में तो वह उष्ण ही है। किसी को हम ठंढा या गर्म कहते हैं तो दो के तापमान को परस्पर तुलना करके ही ऐसा कहते हैं। अथवा अपने शरीर के तापमान से तुलना करके ऐसा कहते हैं। मेरे शरीर का जो तापमान है, उससे कहीं जरा अधिक तापमान मुझे महसूस हो तो मैं उसे गर्म कहूंगा और जरा कम तापमान महसूस हो तो मैं उसे शीतल कहूंगा। इसीलिए गर्मी और शीतलता सापेक्ष ही हैं। अतः शीत से लेकर ऊष्णता तक का सारा क्षेत्र तेजोधातु का ही गुण-क्षेत्र है। शीत भी अग्निधातु का ही स्वभाव है यद्यपि गर्मी की अपेक्षा

इसमें तापमान कम है। भौतिक जगत में तापमान विहीन स्थिति होती ही नहीं। तेजोधातु सर्वत्र है ही।

४. **वायोधातु (पवन धातु)** : यानी गति लक्षण वाली धातु, स्थानांतरित कर देना, हिलाना-डुलाना, यही इसका स्वभाव है, लक्षण है। जो भी हलन-चलन है, वह वायुधातु का ही प्रकटीकरण है। इसके अतिरिक्त स्थंभन और स्थैर्य भी वायुधातु का ही प्रतीक है। स्थंभन से लेकर के तेज से तेज गति तक का सारा क्षेत्र वायुधातु का ही गुण क्षेत्र हैं। आखिर गति क्या है? यह भी तो सापेक्ष ही है। हम गति किसे कहें? कोई भी वस्तु गतिमान है या नहीं, इसे जानने के लिए किसी एक केंद्र बिंदु को हम स्थिर मान लेते हैं और उसी के आधार से यह मालूम करते हैं कि यह वस्तु या व्यक्ति गतिमान है अथवा इतना गतिमान है तथा इस दिशा में गतिमान है। परंतु जिसे हमने स्थिर मान लिया है, गतिहीन मान लिया है, ऐसा कोई केंद्र बिंदु इस जगत में है ही नहीं। हो ही नहीं सकता। सब कुछ गतिमान है। जिसे हम स्थंभन कहते हैं, वह भी तो गतिमान है। हां मात्रा-भेद अवश्य है। किसी अन्य की तुलना में गतिहीन जैसा लगता है। सर्वथा गतिहीन होने वाली स्थिति इस भौतिक जगत में हो ही नहीं सकती। गति सर्वत्र है ही। अतः वायुधातु सर्वत्र है ही।

दुनिया के प्रत्येक भौतिक पदार्थ में, रूपकलाप में, कण-कण में, अणु-अणु में, संयुक्त रूप से समाए हुए इन चारों महाभूतों को, उनके गुण-धर्म-स्वभाव के स्तर पर समझना और अनुभव करना और उनकी सही-सही प्रकृति को जानते हुए उनके बंधनों से मुक्त रहना ही विपश्यना साधना है। यही मंगल पथ है।

(वर्ष ३ बुद्धवर्ष २५१७ मार्गशीर्ष पूर्णिमा दि. १०-१२-७३ अंक ६)

उद्बोधन : शुद्ध धर्म का सार

मेरे प्यारे साधक-साधिकाओ!

आओ! शुद्ध धर्म ग्रहण करें।

लंबी परंपरा के कारण धर्म के नाम पर जो थोथे छिलके बच गए हैं, उनसे छुटकारा लें और शुद्ध धर्म के सार को ग्रहण करें, धर्म का सार ही मंगलदायक है। सार ही सार्थक है। केवल छिलके तो निरर्थक ही हैं, हानिप्रद ही हैं। सार प्राप्त हो तो ही सच्चा सुख प्राप्त होता है।

शुद्ध धर्म का सार शील है, सदाचार है। वाणी और शरीर के दुष्कर्मों से बचना है। शरीर और वाणी के दुष्कर्मों में लगे रहें तो मन की गंदगी यानी विकार बढ़ेंगे ही। क्योंकि शरीर और वाणी का हर दुष्कर्म गंदे मन से ही संपन्न होता है। बिना चित्त को दूषित किए हिंसा नहीं हो सकती, चोरी नहीं हो सकती, व्यभिचार नहीं हो सकता असत्य अथवा गंदा भाषण नहीं हो सकता, नशे का सेवन नहीं हो सकता। शरीर और वाणी के दुष्कर्मों से मन का पूर्व संचित मैल बढ़ता ही है, घटता नहीं, और मन का हर मैल हमें दुःखी ही बनाता है, सुखी नहीं।

शुद्ध धर्म का सार समाधि है, किसी भी कल्पनाविहीन यथार्थ आलंबन के सहारे चित्त को एकाग्र कर लेना ही समाधि है। एकाग्रता-विहीन चित्त मैला ही रहता है। इसी प्रकार कल्पना या कामना के आधार पर एकाग्र हुआ चित्त भी मैला ही रहता है। मैला चित्त हमें दुःखी ही बनाता है, सुखी नहीं।

शुद्ध धर्म का सार प्रज्ञा है। जीवन व्यवहार में आने वाले सभी बाह्यालंबनों को और अपनी ही भीतरी मनोस्थितियों को यथाभूत, यथास्वभाव जानते रहना, उनके साथ तादात्म्य स्थापित करने के बजाय, उनसे अनासक्त रहना; यही प्रज्ञा है। राग, द्वेष और मोह मन के मैल है, तज्जन्य आसक्तियां मन की मैल हैं। प्रज्ञा राग, द्वेष, मोहजन्य आसक्तियों का मैल दूर करती है। मैल रहे तो हम दुःखी ही रहते हैं, सुखी नहीं।

शील, समाधि और प्रज्ञा के अभ्यास का प्रत्येक कदम शुद्ध धर्म के अभ्यास का कदम है, धर्म के सार को ग्रहण करने का कदम है। सच्चे सुख को प्राप्त करने का कदम है। जिस किसी कर्म से न हमारा शील प्रतिष्ठित होता है, न शुद्ध समाधि पुष्ट होती है और न ही प्रज्ञा स्थिर होती है; वह कर्म थोथी परंपरा के कारण चाहे जितना धार्मिक कृत्य कहा जाय, पर वस्तुतः सत्य धर्म से दूर ले जाने वाला कर्म ही है। सार तत्व से दूर ले जाने वाला कदम ही है। ऐसे सभी निरर्थक

बाह्याचार, थोथे कर्मकांड, निर्जीव लकीरें, दंभपूर्ण दिखावे, आडंबरपूर्ण वेष-भूषाएं, उच्च जाति में जन्म लेने का अथवा धनवान होने का मिथ्या अहंभाव आदि-आदि निस्सार ही निस्सार हैं, दुःख ही दुःख हैं, अपने लिए भी; औरों के लिए भी।

अतः साधको! आओ, धर्म के सार को ही ग्रहण करें निस्सार को त्यागें! अपने सुख के लिए! औरों के सुख के लिए! अपने कल्याण के लिए! औरों के कल्याण के लिए!!

-----o-----

अध्यात्मविद्या का नवीन प्रयोग 'विपश्यना'

-- ले. हरिश्चंद्र विद्यालंकार

टेक्नालॉजी ने कई नयी बीमारियां पैदा कर दी हैं; जैसे स्नायविक (नर्वस) तनाव, खिंचाव, दबाव या कसाव; 'माइग्रेन' टाइप का सिरदर्द; ब्लड प्रेशर; अनिद्रा तरह-तरह की ऐलर्जी आदि शारिरिक रोग; तथा असंतोष, मानसक अस्थिरता, अधीरता, 'हीन-ग्रंथि' (इन्फीरियारिटी कांप्लेक्स) जनित यौन अक्षमताएं, हताशा (फ्रस्टेशन) आदि मानसिक रोग। जैसे-जैसे टेक्नालॉजी, कैंसर की तरह विनाशक वेग से बढ़ रही है, वैसे-वैसे ये रोग भी तेजी से बढ़ रहे हैं। अब वह अवस्था आ गई है कि यदि इन रोगों से मुक्ति के लिए हम 'जीवन को ऊंची ऊर्जाओं', यानी, आत्मिक शक्ति को प्रयुक्त नहीं करेंगे तो मनुष्य और मानव समाज दोनों का भविष्य अंधकारमय है। अध्यात्मविद्या भारत की गौरवशाली परंपरा है। हजारों वर्षों से मानव-कल्याण के लिए उसका प्रयोग होता आया है। परंतु, पिछले दो सौ वर्षों में 'टेक्नालॉजी' की चकाचौंध से यह परंपरा मंद पड़ती गयी है – यहां तक कि लोग इसको प्रायः भूल ही गये हैं।

उस पर आज के युग की कुछ विशिष्ट आवश्यकताएं भी हैं –

(क) आज आदमी के पास समय कम है, इसलिए वह उसी विद्या को पकड़ता है जो तेजी से सीखी जा सके।

(ख) जिसका तत्काल फल मिले।.... और, ...

(ग) जो व्यापक पैमाने पर भी उतनी ही उपयोगी हो।

भारत में जहां-जहां इस दिशा में जो प्रयोग किये जा रहे हैं उनमें से एक की चर्चा हम यहां कर रहे हैं; और वह है **'विपश्यना'** !

श्री सत्यनारायणजी गोयन्का का प्रादुर्भाव

भारत में आजकल 'विपश्यना' के प्रमुख आचार्य और लोकप्रिय प्रयोगकर्ता हैं– श्री सत्यनारायणजी गोयन्का, जो उद्योगपति होते हुए भी महात्मा और 'मिशनरी' (संदेशवाहक) का जीवन व्यतीत करते हैं। 'विपश्यना' के बारे में प्रामाणिक जानकारी लोगों को देने के उद्देश्य से लेखक ने श्री गोयन्काजी से दो बार मुलाकात की। इन मुलाकातों का सारांश प्रश्नोत्तर के रूप में यहां दिया जा रहा है।

कैसे आकृष्ट हुए?

प्रश्न - आप एक व्यापारी और उद्योगपति होते हुए **'विपश्यना'** की **'टेक्नीक'** के प्रति क्यों और कैसे आकृष्ट हुए?

उत्तर - पहली बात जो मैं कहना चाहता हूं वह यह है, कि लोगों ने 'विपश्यना' को (या अन्य किसी साधना को) सामान्य लोगों की पहुँच के परे की बात मान लिया था, यही बड़ी भूल थी। साधना का अर्थ जहां तक मेरा संबंध है, मैं यही समझता हूं कि साधना **'जीवन जीने की कला'** को सिद्ध करने का नाम है। और किसी साधना पर यह बात लागू हो या न हो, परंतु **'विपश्यना'** पर यह बात अवश्य लागू होती है। और फिर, व्यापारी हो या उद्योगपति हो, या यों कहूं कि किसी भी प्रकार के साधक के लिए 'विपश्यना' अत्यंत उपयोगी है और सहज भी है।

'अगली बात है कि मैं **'विपश्यना'** के प्रति कैसे आकृष्ट हुआ, इसकी एक लंबी कहानी है। २५ वर्ष लंबी कहानी।

'माइग्रेन' टाइप का सिरदर्द– अपना उत्तर जारी रखते हुए गोयन्काजी ने कहा– मैं बर्मा देश का नागरिक हूं, बचपन से मुझे 'माइग्रेन' टाइप की सिरदर्द रहती थी जिससे मेरे सारे सिर में भयंकर पीड़ा होती थी, मानो कि कोई सारे सिर को शिकंजे में कसकर निचोड़ रहा हो। पहले इस दर्द का आक्रमण साल में एक या दो बार हुआ करता था– सात-आठ घंटे बहुत परेशान रहता था, और फिर, सिरदर्द को यकायक आराम आ जाता था। यह तकलीफ पांच वर्ष की अवस्था में शुरू हुई थी। जैसे-जैसे आयु बढ़ने लगी, आक्रमणों का अंतराल कम होने लगा और 'दर्द की अवधि' एक से दो दिन तक की हो गयी। विशेषज्ञ डॉक्टरों के पास भी इसका कोई इलाज नहीं था।

कहानी को आगे बढ़ाते हुए गोयन्काजी ने कहा - 'ऐसी हालत में बर्मा के प्रसिद्ध डॉक्टरों से चिकित्सा करायी गयी, परंतु कोई लाभ नहीं हुआ। डॉक्टर मुझे

मॉर्फिया का इंजेक्शन देने लगे, जो निश्चय ही रोग का इलाज नहीं था बल्कि 'रोग के लक्षण' को दबाने का तरीका था। पांच साल बाद, इन्हीं डॉक्टरों ने कहना शुरू कर दिया कि 'यदि इस प्रकार मॉर्फिया दिया जाता रहा तो मैं इस मादक द्रव्य का आदी हो जाऊंगा और तब सिरदर्द के लिए नहीं बल्कि व्यसन-पूर्ति के लिए मॉर्फिया लेना पड़ेगा। इसलिए बेहतर यही होगा कि विदेश जाकर इसका इलाज कराएं। मैंने स्विटजरलैंड, जर्मनी, इंग्लैंड, अमरीका और जापान के विशेषज्ञ डॉक्टरों से इलाज कराया, बहुत-सा धन और समय नष्ट किया, परंतु मुझे कोई लाभ नहीं हुआ।

'विपश्यना आजमाने की सलाह' – अब गोयन्काजी मुख्य विषय पर आ गये थे। कहने लगे - 'लौट कर घर पहुँचा तो मेरे एक पुराने मित्र ने यह जोर डाला कि 'विपश्यना' साधना भी आजमाकर देखूं।'

'विपश्यना' के आचार्य ऊ बा खिन – सयाजी ऊ बा खिन उस समय बर्मा में एकाउंटेंट-जनरल थे और साथ ही विपश्यना भी सिखाते थे। उनसे विपश्यना की जानकारी प्राप्त की, सब कुछ अच्छा लगा, परंतु छः महीने तक 'विपश्यना-शिविर' में भाग लेने से झिझकता रहा।

– एक तो इसलिए कि शायद, यह भी धर्म के नाम पर चलने वाला कोई पाखंड हो।

– दूसरे इसलिए कि यह बौद्धों का मार्ग है और मैं हिंदू होने के नाते इसे परधर्म होने के कारण भयावह समझता था - (*'स्वधर्मे निधनं श्रेयः, परधर्मो भयावहः'*)।

– तीसरे, मुझे यह निवृत्तिमार्ग लगा, जबकि मैं प्रवृत्तिमार्गी था। मैं उस आयु में संन्यासी होने के लिए तैयार नहीं था।

परंतु जब छः महीने के बाद मैंने इस साधना को अपनाया, तब ये उपर्युक्त आशंकाएं मात्र भ्रम सिद्ध हुईं .... और .... 'दस दिन की साधना से ही मुझे उस सिरदर्द से छुट्टी मिल गयी, जो पच्चीस साल तक मुझे परेशान करती रही। इसके अतिरिक्त अन्य अनेक मानसिक गुत्थियों से भी छुटकारा मिला।'

'विपश्यना' साधना का 'सहज मार्ग'

प्रश्न - 'विपश्यना' का क्या अर्थ है? इसकी क्या विशेषता है? लाभ क्या-क्या हैं? तथा इसका सिद्धांत क्या है?

उत्तर - 'विपश्यना' का अर्थ है; विशेष रूप से देखना - अर्थात, शारीरिक और मानसिक विकारों का 'द्रष्टा' बनना, न कि 'भोक्ता' - अर्थात, 'आलंबन'

और 'उद्दीपन' के बाहरी घटकों से विमुख होकर साधक अपने भीतर विकार को उसकी सूक्ष्म अवस्था में देखें और उसके गुण-धर्म-स्वभाव को वस्तुगत दृष्टि से (आब्जेक्टिवली) समझें! आजकल के 'मशीनी युग' के अभिशाप 'मानसिक तनाव, दबाव और खिंचाव' से मुक्ति पाने के लिए यह 'तकनीक' एक सहज विधि है।

'स्थूल से सूक्ष्म सत्य' की ओर जाना कोई आसान काम नहीं है। इस विधि को समझ सकने के लिए, कम से कम, दस दिनों तक निरंतर और तीव्र अभ्यास अत्यावश्यक है। इसीलिए, 'विपश्यना' के दस दिवसीय निवासीय शिविर लगाये जाते हैं। शिविरों में अन्य सारे काम बंद करके, प्रथम ९ दिनों तक लगातार मौन रह कर अंतर्मुखी और स्वमुखी होने का अभ्यास कराया जाता है। दसवें दिन सभी प्राणियों के प्रति मंगलभाव रखने हेतु मंगल-मैत्री की साधना सिखायी जाती है। मनुष्य एक सामाजिक प्राणी है। उसे अपने साथ-साथ औरों के भले के बारे में भी सोचना ही चाहिए। इसीलिए इसका स्वानुभूतिपरक सक्रिय अभ्यास कराया जाता है। जैसे कोई हमें कष्ट दे, किसी प्रकार से भी हमें हानि पहुँचाये तो हमें अच्छा नहीं लगता। वैसे ही हम भी मन, शरीर या वाणी से ऐसा कोई काम नहीं करें, जिससे किसी अन्य को कष्ट हो, उसे हानि पहुँचे।

अंतर्मुखी होकर साधक स्वानुभव से जानता है कि 'मैं-मेरा' कहने के लिए यहां कुछ भी नहीं है। सब कुछ अनित्य है, परिवर्तनशील है। इस नश्वरता का अनुभव करते हुए साधक समझता है कि किसको 'मैं' कहूं? किसे 'मेरा' कह कर चिपकूं? इस प्रकार इसके अभ्यास से अहंभाव टूटता है। अपनेपन और परायेपन की दुर्भावना स्वतः दूर होती है। अब यह केवल मानने की बात नहीं रही, बल्कि स्वानुभव से जानते हुए मानव सही माने में मानव बनता है। अपना मानव जीवन सफल कर लेता है। यही है 'जीवन जीने की कला'। यही है विपश्यना की विशेषता और इसका लाभ।

विपश्यना का सिद्धांत यही है कि करना कुछ नहीं है। बिना कोई प्रतिक्रिया किये, समता एवं द्रष्टाभाव से केवल देखना है। यों देखते-देखते मन पर पड़ी हुई अपने पूर्व संस्कारों (विकारों) की परतें उखड़-उखड़ कर नष्ट होने लगती हैं और मन निर्मल होने लगता है। सारी परतें उखड़ गयीं तो मन पूर्णतया निर्मल हो गया। मनुष्य इसी जीवन में जीवन्मुक्त हो सकता है, अरहंत हो सकता है। इसके लिए अभ्यास की निरंतरता और उपयुक्त वातावरण अत्यंत आवश्यक है। इसीलिए योग्य प्रशिक्षक के मार्गदर्शन में निवासीय शिविरों की व्यवस्था की जाती है।

(वर्ष ३ बुद्धवर्ष २५१७ पौष पूर्णिमा (शक) दि. ०८-०१-७४ अंक ७)

उद्बोधन : धर्म धारण करें!

मेरे प्यारे साथी साधक-साधिकाओ!

आओ! धर्म धारण करें।

धर्म धारण करने में ही सच्चा कल्याण है।

धर्मचर्चा लाभप्रद भी हो सकती है, लाभप्रद नहीं भी हो सकती और कभी-कभी हानिप्रद भी हो सकती है।

धर्मचिंतन लाभप्रद भी हो सकता है, लाभप्रद नहीं भी हो सकता और कभी-कभी हानिप्रद भी हो सकता है।

परंतु धर्म धारण करना तो निश्चितरूप से लाभप्रद ही लाभप्रद है।

धर्म चर्चा करके धर्म के बारे में श्रुत-ज्ञान प्राप्त किया जा सकता है। यह श्रुतज्ञान हमें प्रेरणा दे, मार्गदर्शन दे और फलतः हम धर्म धारण कर लें तो धर्मचर्चा हमारे लाभ का कारण बन जाती है। परंतु इस श्रुत-ज्ञान से यदि हम केवल बुद्धिविलास करके ही रह जायँ तो धर्मचर्चा हमारे लिए लाभप्रद नहीं होती। यदि कहीं यह श्रुत-ज्ञान हममें ज्ञानी होने का मिथ्या दंभ पैदा कर दे तो उल्टे हमारी हानि का कारण बन सकता है।

यही बात धर्म चिंतन की है। धर्म चिंतन भी चिंतन ज्ञान पैदा करके निरर्थक बुद्धि विलास का कारण बन सकता है। अथवा थोथा दंभ पैदा करके हानि का कारण भी बन सकता है। परंतु यही चिंतन-ज्ञान यदि धर्म धारण करने की प्रेरणा पैदा करे, मार्ग दर्शन दे और फलतः हम धर्म धारण कर लें तो हमारे लिये कल्याण का कारण बन सकता है।

सचमुच, कल्याण तो धर्म धारण करने में ही है। मिथ्या बुद्धिविलास में नहीं। मिथ्या दंभ में नहीं।

अतः साधको, आओ! धर्म धारण करें! धर्म धारण कर स्वयं शीलवान बनें! स्वयं समाधिवान बनें! स्वयं प्रज्ञावान बनें!

यही मंगल मूल है।

---o---

विपश्यना साधना - एक परिचय

(ले. : ग्राहम गाम्बी) (*हिन्दी अनुवाद*)

अप्पमादो अमतपदं, पमादो मच्चुनो पदं।
अप्पमत्ता न मीयन्ति, ये पमत्ता यथा मता॥

अप्रमाद अमृत पद है। प्रमाद मृत्यु पद है। अप्रमादी मनुष्य मरते नहीं। प्रमादी मनुष्य मृत समान ही होते हैं। *(धम्मपद- २१)*

विपश्यना साधना व्यक्तिगत चित्तशुद्धि के लिए एक उत्तम साधन है। यह अप्रमाद यानी जागरूकता का उत्कृष्ट स्वरूप है। इसके द्वारा यहीं इसी क्षण उत्पन्न होने वाले प्रत्यक्ष सत्यों का और उनके परमार्थ का स्वबोध होता है। यह साधना भौतिक और चैतसिक प्रपंचों के स्वभाव का यथार्थ दर्शन कराती है और उनके बंधनों से मुक्त कराकर परम सत्य का साक्षात्कार कराती है।

बोधिसत्त्व सिद्धार्थ गौतम ने अनेक प्रकार के काया-कष्ट और चित्त दमन का कठोर अभ्यास किया परंतु देखा कि इनसे अनेक जन्मों के आवागमनजन्य दु:खों से नितांत छुटकारा नहीं होता। तदनंतर उसने मुक्तिदायिनी विपश्यना विधि का विकास किया और स्वयं बोधि प्राप्त करते हुए मुक्ति पाई। यह विपश्यना साधना विश्व को भगवान बुद्ध की अनुपम देन है।

विपश्यना साधना की यह विधि अत्यंत बहुमूल्य है। इसीलिए ब्रह्मदेश में इसे पिछले बाईस सौ वर्षों तक विशुद्ध रूप में सुरक्षित रखा गया। विपश्यना साधना भावना में कोई चमत्कार की बात नहीं है और न ही यह दिव्य शक्ति जगाने के लिए है। समाधि के बल से शक्तियां उत्पन्न होने पर भी इन्हें न केवल महत्त्व नहीं दिया जाता, बल्कि लक्ष्य तक पहुँचने में इन्हें बाधक भी माना जाता है। इसमें कोई जादू भी नहीं है। विपश्यना भावना द्वारा चित्त शुद्धि के परिक्रम में उन सभी संस्कारों, ग्रंथियों और कुंठाओं का उन्मूलन किया जाता है जिन्होंने शुद्ध चित्त पर आवरण डाल रखा है और मानव के विशिष्ट गुण मैत्री, करुणा, मुदिता और उपेक्षा को दबा रखा है। विपश्यना भावना में किसी रहस्य की कोई गोपनीय बात भी नहीं है। यह चित्त का एक ऐसा विज्ञान है जो आधुनिक मनोविज्ञान से कहीं उत्तम है। इसमें न केवल मानसिक क्रियाओं का बोध ही होता है, अपितु उनकी शुद्धि भी होती ।

विपश्यना भावना जीवन जीने की एक ऐसी कला है जो लोभ, द्वेष और मोह को कम करती है और अंततः उन्हें समाप्त कर जीवन को सार्थक बना देती

है। यह लोभ, द्वेष और मोह ही पारिवारिक संबंधों से लेकर अंतर्राष्ट्रीय संबंधों तक को दूषित करते रहते हैं। विपश्यना साधना भ्रामक कल्पना और मृगमारीचिकाओं को दूर कर उनसे उत्पन्न होने वाले दूषणों का खात्मा करती हुई सत्य का साक्षात्कार कराती है।

जिस प्रकार धधकती हुई आग पर ठंडा पानी फेंकने से छन्न-छन्न करके प्रतिक्रिया होती है, उसी प्रकार इस साधना के प्रारंभिक अभ्यास के समय साधक के दूषित चित्त पर कभी-कभी विचित्र प्रतिक्रियाएं होने लगती हैं जो कि कष्टदायक भी हो सकती हैं। फिर भी साधक को इन प्रतिक्रियाओं के बाद उन ग्रंथियों और तनावों से मुक्त होने की उतनी ही अद्भुत अनुभूति होने लगती है, जिन्होंने कि अब तक उसके अचेतन मन में गहराई तक पैठकर उस पर अपना प्रभुत्व जमाए रखा था।

किसी भी जाति, वर्ग या संप्रदाय का व्यक्ति हो, वह इस साधना द्वारा अपनी उन प्रवृत्तियों से मुक्ति पा सकता है, जिनके कारण जीवन काम-क्रोध, मद-लोभ, मोह-भय से त्रस्त-गस्त रहता है। विपश्यना भावना के अभ्यास काल में साधक को दत्त-चित्त होकर केवल एक काम करना पड़ता है और वह है अपने ही अज्ञान से संघर्ष। इस साधना में गुरु-पूजा या गुरु-कृपा द्वारा एक-दूसरे से आगे बढ़ जाने की प्रतिस्पर्धा जैसी कोई बात नहीं है। गुरु केवल कल्याणमित्र होता है और अपने अनुभव के आधार पर केवल रास्ता बता देता है।

तुम्हेहि किच्चं आतप्पं, अक्खतारो तथागता।

-- तथागत तो केवल रास्ता बताने वाला है, चलना तो तुम्हे ही पड़ेगा।

नियमित अभ्यास करने से विपश्यना के द्वारा चित्त शांत हो जाता है, मन में एकाग्रता आती है, जागरूकता बढ़ती है और साधक इस योग्य बन जाता है कि वह अलौकिक आंतरिक नैर्वाणिक शांति का स्वयं अनुभव कर सके।

जिस विधि द्वारा स्वयं भगवान बुद्ध को ज्ञान प्राप्त हुआ, उसी विपश्यना विधि द्वारा साधक अपने अंतर को गहराई से देखता है और जो कुछ उसे प्रतीति (अनुभूति) होती है, उसका विश्लेषण करते हुए वह इस परम सत्य का स्वयं प्रत्यक्ष अनुभव करता है कि परमाणुओं से भी लघु अट्ठकलापों से बना हुआ यह शरीर किस प्रकार क्षण-क्षण परिवर्तित हो रहा है।

विपश्यना का साधक न पुस्तकों का सहारा लेता है और न ही निरर्थक सिद्धांत निरूपण और थोथे बुद्धि विलास के चक्कर में पड़ता है। उसे अनित्य, दुःख और अनात्म का बोध स्वयं अपनी चित्तशक्ति से स्वभानुभूति द्वारा हो जाता है। इसके लिए उसे कोई दिमागी कसरत नहीं करनी पड़ती। शरीर और चित्त की

क्रियाओं को बांध रखने वाली किसी आत्मस्थिति की भ्रामक मान्यता से वह मुक्ति पाता है और परिणामस्वरूप 'मैं' तथा 'मेरे' की भ्रांति स्वतः दूर हो जाती है। इस आत्मभाव से उत्पन्न होने वाले राग-द्वेष से साधक सहज ही छुटकारा पा लेता है। मोह मूलक चिंतन और कुण्ठाग्रस्त कटु संघर्षणों से छूटकर साधक अपने ही सत्प्रयत्नों द्वारा अपने अंतर्मन की सच्चाइयों तक पहुँचता है।

शील यानी सदाचार विपश्यना भावना की आधारशिला है। समाधि यानी चित्त की एकाग्रता के द्वारा अभ्यास को दृढ़ किया जाता है और प्रज्ञा के द्वारा चित्त की विशुद्धि की जाती है। साधक अपने भीतर चार भौतिक तत्वों (पृथ्वी, जल, अग्नि और वायु) की प्रतिक्रायाओं को बिल्कुल निरपेक्ष यानी अनासक्त भाव से देखना सीखता है और अनुभव करता है कि आत्मबोध की यह अपूर्व क्षमता दैनिक जीवन में कितनी बहुमूल्य साबित होती है।

साधक जीवन की विषमताओं में अविचल रहना सीखता है। चारों ओर कठिनाइयां दिखाई पड़ने पर भी वह अविचल रहता है और दुःख में भी मुस्कराता है। क्योंकि अब वह स्वयं आंतरिक अनुभूतियों के बल पर यह जानने लगा है कि सब कुछ क्षणभंगुर है। वह स्वयं भी भौतिक और चैतसिक तरंगों का प्रवाहमात्र है जो कि अविश्वसनीय गति से प्रतिक्षण उत्पन्न होती हैं और विलय हो जाती हैं। इसी प्रकार यह जो दुःख उत्पन्न हुआ है, यह भी क्षण-क्षण परिवर्तनशील ही है।

जैसे कि ऊपर कहा गया विपश्यना साधना पद्धति विश्व को भगवान बुद्ध की अनुपम देन है लेकिन इसका उपयोग बौद्धों तक ही सीमित नहीं है। इसके अभ्यास के लिए धर्म परिवर्तन का कोई प्रश्न ही नहीं उठता। यह सभी के लिए सहज ग्राह्य है। क्योंकि सारी मानवजाति की समस्याएं समान हैं और उन समस्याओं का समाधान करने वाली विधि भी सार्वजनीन ही हो सकती है।

हिंदुओं, जैनों, सिक्खों, मुसलमानों, रोमन-कैथलिक तथा अन्य ईसाइयों ने समान रूप से विपश्यना भावना की है और अनुभव किया है कि यह साधना सारी मानव जाति के तनावों और विकारों को किस प्रकार समान रूप से समाप्त कर देती है। रोमन-कैथलिक धर्म के अनेक बड़े-बड़े पादरियों और साध्वियों ने विपश्यना साधना की है और देखा है कि उनके कार्य और विश्वास से इसका कहीं कोई द्वंद्व नहीं है।

(यही अनुभव अनेक जैन मुनियों और साध्वियों ने भी किया है। -- सं.)

ऐतिहासिक बुद्ध गौतम के प्रति साधक कृतज्ञता तो अनुभव करता है, क्योंकि दुःख से मुक्ति पाने के लिए उन्होंने ही विपश्यना का यह कल्याणकारी मार्ग दिखाया लेकिन यह श्रद्धा अंधश्रद्धा नहीं है। बुद्ध ने अपने प्रति अंधभक्ति

का भाव रखे जाने का सदैव निषेध ही किया था। 'इस अपवित्र शरीर के दर्शन से तुम्हें क्या मिलेगा? जो धर्म को देखता है यानी सत्य को देखता है, वही मुझे देखता है।'

---o---

दस दिन का अभ्यास क्रम

विपश्यना सीखने के इच्छुक साधक को कम से कम १० दिन अभ्यास करना पड़ता है। इस अभ्यासक्रम में उसे पंचशील का पालन करना पड़ता है। यानी जीव-हिंसा से, चोरी करने से, छूठ बोलने से, व्यभिचार करने से और किसी भी प्रकार के मादक द्रव्य का सेवन करने से विरत रहना पड़ता है। पूरे १० दिन के क्रम में उसे निर्धारित कार्य ही करने पड़ते हैं। निर्धारित समय पर खाने-पीने नहाने-धोने, सोने व ध्यान साधना के अतिरिक्त वह अन्य कोई काम नहीं कर सकता। तीन दिनों तक आना-पान यानी श्वास-प्रश्वास पर ध्यान केंद्रित करने और उसके परिणामस्वरूप संवेदनाओं की अनुभूति होने लगने के बाद साधक को पूरे शरीर की विपश्यना (जिसका अर्थ है - सम्यक प्रकार से देखना) सिखाई जाती है। इसके द्वारा वह प्रतिक्षण परिवर्तित हो रहे शरीर व मन की यथाभूत क्रियाओं-प्रतिक्रियाओं को ज्ञानपूर्वक देखना सीखता है और इस प्रकार उनके प्रति उत्पन्न होने वाले तादात्म्यभाव तथा आसक्तियों से मुक्त होता है। प्रतिदिन शाम को एक घंटे तक उस दिन की साधना के विषय में प्रवचन होता है।

साधना की समाप्ति पर ९ वें और १० वें दिन मैत्री भावना सिखाई जाती है, जिसमें साधक सारे प्राणियों के प्रति मैत्री भावना प्रकट करता हुआ, उन्हें अपना संचित पुण्य वितरित करता है। चित्त की वृत्तियों के निरोध व शुद्धिकरण को ही इस साधनाक्रम में सर्वोच्च महत्ता दी जाती है। साधना का परिणाम साधक स्वयं प्रत्यक्ष रूप से अनुभव करता है। दर्शन और करुणापरक चर्चाओं को शिविर में प्रश्रय नहीं दिया जाता।

साधना प्रतिदिन भोर में साढ़े चार बजे प्रारंभ हो जाती है और रात में नौ बजे तक चलती है। इस अवधि में साधक को जलपान, भोजन, शयन, स्नान आदि की अवधि का समय निकालकर नित्य कम से कम कुल ११ घंटे तक साधना सीखने का अभ्यास तो करना ही पड़ता है। साधना सीखने के लिए कोई शुल्क नहीं है। परंतु भोजन और आवास का व्यय साधक स्वेच्छा से आने वाले साधकों के लिए दे सकता है। साधक की प्रगति उसकी अपनी पूर्व पारमिता और श्रद्धा, स्वास्थ्य, निष्ठा, श्रम तथा ज्ञान इन पांच वर्तमान गुणों पर निर्भर करती है।

अब तक सैकड़ों देशों के लोगों ने विपश्यना भावना की है और इसमें साधारणतया नियमों के पालन में किसी को कहीं कोई कठिनाई प्रतीत नहीं हुई। शिविरों में साधना में सहायक स्वास्थ्यवर्धक शाकाहारी और अधिकांश साधकों के मनोनुकूल स्वादिष्ट भोजन दिया जाता है।

भारत में विपश्यना के प्रमुख शिक्षक हैं - बर्मी नागरिक ऊ सत्यनारायण गोयन्का, जो स्वयं गृहस्थ हैं और व्यापारी वर्ग के हैं। उन्होंने बर्मा के इण्टरनेशनल मेडिटेशन सेंटर में स्वर्गीय सयाजी ऊ बा खिन से १४ वर्ष तक यह साधना सीखी है। जुलाई १९६९ में भारत आने के बाद देश के विभिन्न भागों में आयोजित साधना शिविरों में श्री गोयन्काजी अब तक चार हजार से अधिक साधकों को विपश्यना की यह दुर्लक्ष और आशु फलदायिनी विधि सिखा चुके हैं।

भवतु सब्ब मङ्गलं!

(वर्ष ३ बुद्धवर्ष २५१७ माघ पूर्णिमा (शक) दि.०६-०२-७४ अंक ८)

उद्बोधन : स्व-पर गुण दोष दर्शन

मेरे प्यारे साथी साधको!

प्रज्ञा सजग रखते हुए,

आओ, अपने गुण देखें, और अपने दोष भी देखें।

आओ, पराए गुण देखें, और पराए दोष भी देखें।

इसी में व्यवहार जगत की सर्वांगीणता है।

केवल अपने गुण ही गुण देखें और पराए दोष ही दोष देखें तो जीवन-जगत का एकांगी दर्शन होगा। इसी प्रकार केवल अपने दोष ही दोष देखें और पराए गुण ही गुण देखें तो भी जीवन-जगत का एकांगी दर्शन ही होगा।

यदि हम अपने गुण ही गुण देखें तो अहंभाव से भर जाने का डर है। यदि अपने दोष ही दोष देखें तो हीनभाव से भर जाने का डर है। दोनों ही अवस्था में मानसिक समता खो बैठने का डर है। भयावह ग्रंथियों में गिरफ्त हो जाने का खतरा है।

इसी प्रकार यदि हम पराए दोष ही दोष देखें तो घृणा से भर उठने का डर है। यदि पराए गुण ही गुण देखें तो ईर्ष्या से भर उठने का डर है। दोनों ही अवस्था में मानसिक समता खो बैठने का डर है। भयावह ग्रंथियों में गिरफ्त हो जाने का खतरा है।

साधारणतया हर व्यक्ति में कमोवेश मात्रा में गुण-दोष दोनों ही होते हैं। सत्य-दर्शन की संपूर्णता दोनों को देखने में है। एक पक्षीय दर्शन अतिरंजनाओं की ओर ले जा सकता है। दूसरे पक्ष को जानबूझकर छुपाए रखने की प्रवृत्ति की ओर ले जा सकता है।

अतः दोनो पक्ष देखें, यथाभूत गुण देखें, यथाभूत दोष देखें। अपने भी, पराए भी, घटा-बढ़ाकर नहीं देखें। जैसे हैं, जितने हैं; वैसे ही, उतने ही देखें।

और प्रज्ञापूर्वक भी देखें। कैसे देखें प्रज्ञापूर्वक?

अपने गुण देखकर नम्रता से भर जायँ। इन गुणों के संरक्षण और संवर्धन के लिए सचेष्ट हो जायँ।

अपने दोष देखकर उनका न्यायीकरण न करने लगें, बल्कि उनके निराकरण में लग जायँ।

पराए गुण देखकर मुदिता से भर जायँ। स्वयं भी वैसे ही गुण प्राप्त करने की प्रेरणा प्राप्त करने के लिए प्रयत्नशील हो जायँ।

पराए दोष देखकर करुणा से भर जायँ, मानो किसी रोगी का रोग देख रहे हों। उस रोगी को रोगमुक्त करने के लिए, उस दोषी को दोषमुक्त करने के लिए हर संभव प्रयत्न करें, साथ-साथ इस बात के लिए भी सजग रहें कि कहीं वह रोग हमें न लग जाय, यह दोष हमें न लग जाय।

यही स्व-पर गुणों को, दोषों को प्रज्ञा-पूर्वक देखना है, जो कि मंगल का स्रोत है।

----o----

विपश्यना भावना और जीवन के लिए उसका महत्त्व (१)

सभी धर्मों, सभी विचारों के लिए समान रूप से ग्राह्य - साधना

ले. श्यामाप्रमाद "प्रदीप" (दैनिक "आज", वाराणसी का स्तंभ लेख)

मनः एव मनुष्याणां कारणं बन्ध मोक्षयो'

(भगवद्गीता) और'

मनोपुब्बङ्गमा धम्मा, मनोसेट्ठा मनोमया।'

(धम्मपद- १)

में एक ही बात कही गई है। मन ही मनुष्य के बंधन और मोक्ष का कारण है; मन ही सभी धर्मों कार्यों का पूर्वगामी है, मन ही प्रधान है और सब कुछ वस्तुतः मनोमय है। इसी मान्यता पर आधृत 'विपश्यना भावना' योग के क्षेत्र में भगवान बुद्ध की अनुपम देन है। किसी देवी, देवता, तंत्र, मंत्र, गुरुकृपा या कल्पना का सहारा न लेकर इस मन को ही सभी धर्मों का पूर्वगामी तथा बंधन और मोक्ष का कारण मानती है और चित्तशुद्धि करके साधक को निर्वाण तक प्राप्त कराने का सामर्थ्य रखती है।

विपश्यना का प्रादुर्भाव

आज से २५६८ वर्ष पूर्व २९ वर्ष की अवस्था में घर-बार छोड़ने के बाद सिद्धार्थ गौतम ने उस समय के सबसे बड़े योगी आलार कालाम को अपना गुरु बनाया। सारी योग साधनाएं सीख चुकने के बाद सिद्धार्थ ने जब उनसे पूछा - क्या इससे आगे भी कोई साधना है, तो उन्होंने कहा - मैं सात स्तर तक की साधनाएं जानता था; वह सब मैंने तुम्हें सिखा दिया। मेरी जानकारी में यही योग

का चरम बिंदु है। हां, मैंने अवश्य यह सुना है कि गया में उद्दकरामपुत्त (रुद्रक रामपुत्र) नामका एक ब्राह्मण योगी मुझसे आगे आठवीं साधना जानता है। तुम उसके पास जाओ। सिद्धार्थ गौतम ने उद्दकरामपुत्त के पास पहुँचकर उनसे अपनी जिज्ञासा प्रकट की और उद्दकरामपुत्त ने उन्हें कृपापूर्वक ८ वें स्तर (ध्यान) की योग-साधना सिखायी। लेकिन इसके बाद भी सिद्धार्थ को वह शांति न मिली जिसकी खोज में उन्होंने वृद्ध, रोगी, मृत और संन्यासी को देखकर प्रव्रजन किया था। उन्होंने कहा - ७ वीं ध्यान साधना से मैं अपने अतीत को देख रहा हूँ। करोड़ों जन्मों में मैं क्या था, यह विश्व क्या था, मुझे सब दिखाई पड़ रहा है। ८ वीं ध्यान साधना से मैं भविष्य को देख रहा हूं। सारी ऋद्धियां - सिद्धियां मुझे सुलभ हैं। लेकिन नितांत दुःख विमुक्ति अभी नहीं हुई है। अतः ध्यानस्थ होकर सत्य की खोज के लिए स्वयं प्रयास किया। इसी खोज में नवें स्तर की योग-साधना' विपश्यना' (पाली में विपस्सना) अर्थात सम्यक प्रकार से देखने की साधना का उदय हुआ।

सिद्धार्थ 'गौतम बुद्ध' हो गए। उन्होंने ध्यान के द्वारा देखा कि यह सारा ब्रह्मांड, यह मेरा सारा शरीर अणुओं से नहीं, अणु से छोटे परमाणुओं से भी नहीं, अपितु परमाणुओं से भी सूक्ष्म अट्ठ (अष्ट) कलापों से बना हुआ है। पृथ्वी, जल, वायु और अग्नि तत्व तथा इन चारों के चार गुणों से निर्मित यह अट्ठकलाप हर क्षण बदलते रहते हैं। दीपक की क्षणक्षंगुर लौ की तरह एक क्षण में यह शत शहस्र कोटि अर्थात १० खरब बार नष्ट तथा उत्पन्न होते हैं। मन अट्ठकलापों से भी १७ गुना अधिक चंचल यानी नश्वर है। अर्थात अट्ठकलाप जितनी देर में एक बार बदलते हैं, मन उतनी देर में १७ बार बदल जाता है। यही अनित्यता या क्षणभंगुरता का बोध है।

इस अनुभूति के बाद बुद्ध ४९ दिनों तक अपने आसन पर अमृतपान जैसा आनंद लेते हुए बैठे रहे। फिर उन्होंने लोक-कल्याण की भावना से इस विपश्यना भावना का मानव मात्र के लिए प्रसार किया। उन्होंने कहा - मैं इस विषय में जो कुछ कहता हूं, उसी पर विश्वास मत करो क्योंकि योग किसी के कहे वचनो को नहीं, अपनी प्रत्यक्ष अनुभूति को सत्य मानता है। तुम भी ध्यान करो और देखो कि तुम क्या हो? कितने क्षणभंगुर हो? सत्य क्या है?

कालांतर में बौद्ध धर्म के साथ-साथ यह अमूल्य साधना भी भारत से लुप्त हो गई। तिब्बत में यह तंत्र-मंत्र के साथ परिवर्तित रूप में पहुँची। लेकिन ब्रह्मदेश ने इसे अशोक के समय में प्राप्त होने के बाद से अब तक गुरु-शिष्य परंपरा से शुद्ध रूप में सुरक्षित रखा है। अब यह इस युग के प्रसिद्ध विपश्यना-योगी तथा बर्मा के

अकाउंटेंट जनरल ऊ बा खिन के यशस्वी शिष्य सत्यनारायण गोयन्का की कृपा से करीब २२ सौ वर्ष बाद फिर अपनी आदिभूमि भारत में वापस आयी है।

सरल प्रक्रिया

विपश्यना की प्रक्रिया बहुत ही सीधी, सरल और वैज्ञानिक है। पहले जंगली हाथी जैसे अनियंत्रित चित्त को वश में करने के लिए ध्यान करना पड़ता है। चित्त एकाग्र करने के लिए मूर्ति, मंत्र और स्वरूप का भी ध्यान किया जा सकता है, लेकिन बुद्ध ने इसे ठीक नहीं समझा। मूर्ति, मंत्र और आकृति के सहारे काम करने पर उसी प्रकार आत्मविश्वास और क्षमता नहीं प्राप्त हो सकती, जैसे कि नकल करके परीक्षा पास करने वाले विद्यार्थी या सिफारिश अथवा घूस देकर नौकरी पाने वाले प्रत्याशी को अफसर होकर भी अपना काम कुशलतापूर्वक करने का साहस तथा क्षमता नहीं होती। कर्मों से बँधे देवी-देवता एक सीमा तक ही मदद कर सकते हैं। मुक्ति या निर्वाण प्राप्त कराना उनकी शक्ति के बाहर है। फिर मंत्र, देवी-देवता, ईश्वर, अनीश्वर, प्रतीक आदि के मामले में सभी लोग एक मत के नहीं हैं, जबकि योग मानवमात्र के लिए समान रूप से ग्राह्य होना चाहिए।' **सबहि सुलभ सब दिन सब देसू'** की वाणी उस पर सर्वाधिक लागू होती है। अतः बुद्ध ने श्वास -प्रश्वास पर ध्यान देने के लिए कहा। सांस सबको आती है। जाति-धर्म, विचार, आस्तिक-नास्तिक आदि के आधार पर उसमें कोई अंतर नहीं होता। ध्यान वर्तमान का किया जाता है, भूत और भविष्य का नहीं। और सांस वर्तमान में रहने का सर्वोत्तम बोध कराती है।

लेकिन सांस पर ध्यान देने की यह प्रक्रिया– जिसे आनापान अर्थात श्वास के आने और जाने पर ध्यान रखने की साधना कहा गया है– यह पूरक, कुंभक और रेचक प्राणायाम की तरह नहीं है।

योग की एक धारा (खासकर हठयोग की) सांस को ही प्राण मानती है। विपश्यना के योगी इसके विपरीत सांस को मन की स्थिति की प्रतिछाया मात्र मानते हैं। क्रोध, घबराहट, प्रसन्नता, शांति आदि मन की विभिन्न स्थितियों में सांस भी उसी प्रकार भिन्न-भिन्न तरह से चलती है। इसलिए सांस को बांधकर मन को बांधने की कोशिश एक प्रकार से परछाईं के द्वारा प्राणी को पकड़ने की कोशिश जैसी ही है। **'निसिचर एक सिंधु मँह रहई, करि माया नभ के खग गहई'** का तरीका समुद्र में रहने वाले निशिचर के लिए आसान रहा होगा, लेकिन सांस रूपी छाया को बांध कर मनको बांधना बड़ा कठिन काम है और पूर्णरूप से शुद्ध कर लेना तो असंभव ही है। और पूर्ण चित्तशुद्धि के बिना कोई विश्वामित्र तपस्या करके कितनी भी बड़ी शक्ति क्यों न प्राप्त कर ले, मेनका को देखते ही मन में छिपे

विकाररूपी बारूद का कण वासनारूपी आग की गर्मी मिलते ही फूट पड़ेगा। इसलिए बुद्ध ने परछाईं के बजाय व्यक्ति के पकड़ने की अर्थात श्वास बांधने के बजाय मन को शुद्ध करने की प्रक्रिया अपनायी। चित्त ठीक होने पर सांस स्वतः ठिकाने आ जायगी।

चतुर्थ प्राणायाम की तरह

आना-पान में उन्होंने सांस के आने-जाने पर ध्यान केंद्रित करने की जो विधि अपनाई वह बहुत कुछ पातंजल योग सूत्र के दूसरे पद के ५१ से लेकर ५५ वें सूत्र तक में वर्णित प्रक्रिया की तरह है। योग सूत्र कहता है - **बाह्याभ्यंतर विषयोक्षेपी चतुर्थ** *(२-५१)* अर्थात सांस भीतर जा रही है, बाहर आ रही है, इसी पर ध्यान रखने को चतुर्थ प्राणायाम कहते हैं। **ततक्षीयते प्रकाशावरणम्** *(२-५२)* अर्थात तब संचित कर्म संस्कार तथा अविद्या आदि क्लेश दुर्बल होने लगते हैं और **धारणासु च योग्यता मनस***(२-५३)* अर्थात मन में धारणा करने या एकाग्र होने की क्षमता आ जाती है। ५४ और ५५ वें सूत्रों के अनुसार इसके फलस्वरूप इंद्रियां सर्वथा वश में हो जाती हैं। **ततः परमावश्यतेन्द्रियाणाम्** *(२-५५)*

लेकिन पतंजलि चतुर्थ प्राणायाम को सहज रूप में परिवर्तित करके साधना की चरम ऊंचाई पर ले जाने की उस प्रक्रिया का वर्णन नहीं करते जो बुद्ध की देन है - शायद इसलिए कि योग सूत्र में सारी बातें सूत्र के रूप से कही गई हैं या इसलिए कि एक मत के अनुसार बुद्ध का पूर्वगामी होने अथवा दूसरे मत के अनुसार बुद्ध के बाद इस साधना का लोप हो जाने के युग में उत्पन्न होने के कारण, उन्हें यह सूक्ष्म तत्त्व मालूम ही नहीं था।

(वर्ष ३ बुद्धवर्ष २५१७ फाल्गुन पूर्णिमा (शक) दि. ०८-०३-७४ अंक ९)

उद्‍बोधन : यथाभूत ज्ञानदर्शन

मेरे प्यारे साथी साधको!

आओ यथाभूत ज्ञान-दर्शन करें।

क्या है यथाभूत ज्ञान-दर्शन?

यह जो आंख, नाक, कान, जीभ, त्वचा और मन के जो भी आलंबन हैं, विषय हैं, केवल उनके दर्शन करके ही न रह जायँ, बल्कि इन आलंबनों के संपर्क से हमारे शरीर में और मन में प्रतिक्रिया स्वरूप जो संवेदनाएं उत्पन्न होती हैं, उनका भी दर्शन करें। इन आलंबनों के संपर्क से उद्दीप्त होकर इन संवेदनाओं में कहीं डूब न जायँ। इन्हें सुखद मानकर सुख में न डूब जायँ, दुःखद मानकर दुःख में डूब जायँ। सदा सिर पानी के ऊपर रखते हुए दोनों ही अवस्थाओं को अनासक्तभाव से, साक्षीभाव से देखें, समझें। अनुभूतियों के घरातल पर उनके बदलते रहने वाले अनित्य स्वभाव को देखें, समझें, उनके आसक्तिजन्य दुःख स्वभाव को देखें, समझें। उनके मैं-मेरे विहीन निस्सार स्वभाव को देखें, समझें। आलंबन और आलंबित, उद्दीपन और उद्दीप्त, विषय और विषयी दोनों के ही सही स्वभाव को देखें, समझें।

सच्चाई से दूर नहीं भागें। शुतुर्मुर्ग की तरह उससे मुँह न छिपाएं। नग्न सत्य को जैसे है, वैसे ही स्वीकार करें, वह चाहे जितना कटु क्यों न हो। उसका सामना करें। खुरदरे यथार्थ पर कपोल कल्पनाओं का रंग न चढाएं, आकर्षक कामनाओं का रोगन न चढ़ाएं, सुनहरे स्वप्नों का मुलम्मा न चढ़ाएं। आलंबन जैसा भी है, उसे उसके सही स्वभाव में देखें, समझें। साथ-साथ उसके कारण जो शारीरिक और मानसिक संवेदनाएं उत्पन्न हुई हैं, उनको भी जैसी हैं, वैसी उनके सही स्वभाव में देखें, समझें। प्रिय हैं तो प्रिय, अप्रिय हैं तो अप्रिय, सुखद हैं तो सुखद, दुःखद हैं तो दुःखद, सूक्ष्म हैं तो सूक्ष्म, स्थूल हैं तो स्थूल, जैसी भी हैं, संवेदनाएं संवेदनाएं ही हैं। उन्हें यथाभूत स्वीकार करें। उन्हें साक्षीभाव से देखें, उन्हें रोक रखने की व्यर्थ चेष्टा न करें। उन्हें संवर्धित करने की व्यर्थ चेष्टा न करें, उन्हें दबाने या हटाने की चेष्टा न करें। उन्हें अपने स्वभाव पर छोड़ दें। केवल प्रज्ञापूर्वक देखते ही रहें, साक्षीभाव से देखते ही रहें।

उनके साथ तादात्म्यभाव स्थापित न होने दें। तादात्म्यभाव आते ही "मैं-मेरा", "मैं-मेरा" आते ही आसक्ति, और आसक्ति आते ही दुःख। उनका मूल्यांकन भी न करें। मूल्यांकन करते ही अच्छा-बुरा, अच्छा-बुरा करते ही

चाहिए-नहीं चाहिए, चाहिए-नहीं चाहिए माने राग-द्वेष और राग-द्वेष आते ही दुःख।

प्रकृति के इस अटूट नियम को समझते हुए यथाभूत ज्ञान-दर्शन में लगे रहें। बिना राग-द्वेष के अनासक्तिभाव से देखने का अभ्यास बढ़ाएं, बिना राग-द्वेष के समत्वबुद्धि द्वारा सम्यक दृष्टि से जो जैसा है, उसे वैसा ही ज्ञानपूर्वक देखने का अपना एक सुख है, जो सब सुखों से परे है, उत्तम है, प्रणीत है, श्रेष्ठ है, ग्रहणीय है। यही परमपद निर्वाण के साक्षात्कार की पूर्व भूमिका है।

अतः साधको आओ! यथाभूत ज्ञान-दर्शन करें। यह सही माने में मंगलप्रद है।

----o----

विपश्यना भावना और जीवन के लिए उसका महत्त्व (२)

जन्म-जन्मान्तर से अर्जित विकारों को नष्ट करने की प्रक्रिया

लेखक : श्यामप्रसाद 'प्रदीप' (दैनिक 'आज', वाराणसी)

(गतांक से आगे...२रा)

साधक को आनापान का सहारा बहुत जल्दी- प्रायः तीन-चार दिन में ही - छोड़ देना पड़ता है। इस अवधि में आना-पान का अभ्यास करते हुए उसे नासिकाग्र में नथुनों के नीचे, ऊपरी होठ पर उंगली की नोंक भर स्थान में वेदना अर्थात विभिन्न प्रकार के स्पन्दनों की अनुभूति होने लगती है। तब शिक्षक, जो अपने को गुरु नहीं बल्कि मात्र कल्याण-मित्र मानता है, साधक को विपश्यना भावना सिखाता है।

कहने और पढ़ने में तो यह साधारण भाषा में साधारण बात लगती है, लेकिन है यह बहुत असाधारण। आज के मनोचिकित्सक मस्तिष्क के रोगों को शव-आसन कराने के साथ सांस के आने-जाने पर ही ध्यान केंद्रित कराकर स्वस्थ करते हैं। इससे अनिद्रा, तनाव, स्वभाव में चिड़चिड़ापन, झुंझलाहट, घबराहट, रक्तचाप आदि अनेक रोग बहुत जल्दी दूर हो जाते हैं। भारत में बौद्ध धर्म के पुनरुद्धारक अनागारिक धर्मपाल ध्यान साधना के क्षेत्र में केवल आनापान स्मृति समाधि ही जानते थे। उस समय उनका देश श्रीलंका महानायक स्थविर सुमंगल और गुणानंद जैसे विश्वविख्यात भिक्षुओं की भूमि होने के बावजूद विपश्यना से अवगत नहीं था, तो वे ऊंची साधना जान भी कैसे पाते। लेकिन शिकागो की विश्व धर्म परिषद १८९३ में उनके भाषण के बाद अमेरिकी पत्रों ने जब लिखा कि विवेकानंद

ओजस्वी ओथेलो लगते हैं और धर्मपाल जीसस क्राइस्ट तो स्वभावतः अनेक लोगों ने उन्हें इनकी पीली पोशाक के कारण योगी समझ लिया। इसलिए स्वदेश वापस आते समय उनका जहाज हवाई की राजधानी होनोलुलू में रुका तो एक अधेड़ महिला उनके पास आई और उनसे कहा - मै यहां पुराने राजपरिवार की हूं, मुझे सारे वैभव प्राप्त हैं, लेकिन अपने चिड़चिड़े, उद्विग्न, अशांत स्वभाव के कारण मैं सुखी नहीं हूं। कोई मुझे प्रिय नहीं है और न मैं किसी को प्रिय हूं। आप कोई विधि बताइये जिससे मैं ठीक हो जाऊं। धर्मपाल बड़े धर्मसंकट में पड़ गए। उन्होंने डायरी में उस स्त्री का नाम नोट किया और उसे **आनापान करने के लिए कह दिया**। १८९६ ईसवी में धर्मपाल फिर अमेरिका गये और लौटते समय उनका जहाज फिर होनोलुलू में रुका तो उस स्त्री ने पुनः उनसे भेंट की और उन्हें बताया कि उनकी साधना करने से वह बिल्कुल ठीक हो गई और अब बहुत सुखी है। श्रीमती मैरी एलिजाबेथ फोस्टर नामकी इस महिला ने धर्मपाल को अपने पुत्र जैसा माना और अपने जीवन में उन्हें उस सस्ती के जमाने में कुल मिलाकर १० लाख रुपया दिया। इस युग की विशाखा कही जाने वाली उस महानारी के पैसे से धर्मपाल ने कई धर्मकार्य किये। सारनाथ में महाबोधि सभा की 'मैरी एलिजाबेथ फोस्टर लाइब्रेरी' उसी की स्मृति में है।

नाक में सांस के भीतर जाने और बाहर आने पर मन लगा रहे और बार-बार भागने पर भी पकड़कर आनापान पर ला दिया जाय, इसकी विधियां हैं। धीरे-धीरे एकाग्रता की प्रवृत्ति आने पर मन जंगली हाथी से पालतू हाथी की स्थिति में आने लगता है और तब नासिकाग्र पर अर्थात ऊपरी होठ पर नथुनों के नीचे उंगली के पोर के बराबर स्थान में वेदना यानी स्पंदन की अनुभूति होने लगती है। सभी के स्पंदन एक जैसे नहीं होते। किसी को फरफराहट, किसी को सुरसुराहट, किसी को चींटी की चाल जैसी तो किसी को गरम, किसी को ठण्डी अलग-अलग और तरह-तरह की अनुभूतियां अपनी प्रकृति के अनुसार होती हैं। इससे मन और शरीर का तनाव कम होने और शांति की अनुभूति होने के साथ-साथ सांस और भी धीमी तथा पतली हो जाती है। और कुम्भक तथा पतली हो जाती है। और कुम्भक स्वतः होने लगता है। सारे शरीर की स्थिति से इस अनुभूति का कितना संबंध है और यह चित्त को किस प्रकार एकाग्र तथा शांत करती चलती है, इसे एक किसान ज्यादा समझ सकता है। कड़ाह का रस खूब पक जाने पर जब चासनी के अनुसार गुड़ बनाने लायक हो जाता है तो किसान उबलता हुआ गाढ़ा रस कड़ाह से निकाल कर चाक पर फैला देता है। कुछ देर बाद तापमान घटकर एक निश्चित अवस्था में आ जाने पर वह चाक में किनारे किसी एक स्थान पर लकड़ी के 'दबिला' से धीरे-धीरे थोड़ी चोट कर देता है। वहां थोड़ी देर में गरम रस जमकर ठोस हो जाता है। फिर हाथ से उसके तापमान की परीक्षा कर किसान चाक पर फैला सारा माल बटोर देता

है और गुड़ की भेली या टिकिया बना लेता है। ठीक वही स्थिति नासिकाग्र पर होने वाले प्रकंपन या स्पंदन की है। जब यह अनुभूति होने लगती है तब कल्याण मित्र शिक्षक साधक को विपश्यना भावना के लोक में ले जाता है। दस दिन के कोर्स में साढ़े तीन दिन के आनापान के बाद इतनी सूक्ष्मता आ जाती है कि साधक इसके सहारे आगे बढ़ सकता है और विपश्यना करने में समर्थ हो जाता है।

विपश्यना की विधि

विपश्यना की विधि भी आनापान की तरह बहुत सरल है, लेकिन शिक्षक के निर्देशन के बिना करने में - खासकर विकारों के वेग से निकलने और संस्कारों की प्रतिक्रिया प्रकट होने की स्थिति में साधक के घबरा जाने की समस्या होने से वह अनुभवहीन व्यक्ति के लिए पूर्णतः निरापद नहीं है। इसीलिए इस विधि के संबंध मे बहुत नहीं लिखा जा सकता और केवल उतना या उसे कुछ अधिक कहना ही समीचीन है जितना परम हंस योगानंद ने अपनी प्रसिद्ध पुस्तक 'आटोबायोग्राफी ऑफ ए योगी' के क्रिया योग संबंधी अध्याय में क्रियाओं के विषय में बहुत नपी-तुली भाषा में क्रियायोग के विषय में बहुत नपी-तुली भाषा में बहुत संक्षेप के साथ कहा है। नासिका छिद्रों के नीचे ऊपरी होंठ पर वेदना की अनुभूति होने, मन थोड़ा-थोड़ा पकड़ में आने के बाद शिक्षक साधक को सहस्रार पर सिर के ऊपर तालु अर्थात उस स्थान पर जहां बचपन में हड्डी नहीं होती, ध्यान ले जाने और स्पंदन की अनुभूति करने के लिए कहता है। वहां से मन धीरे-धीरे मस्तक, आंख नाक, गाल, ठुड्डी, होंठ आदि पूरे चेहरे पर, फिर कान, पृष्ठभाग आदि पूरे सिर पर और इस तरह बढ़ते-बढ़ते पूरे गले, दोनों हाथों, धड़ के अगले-पिछले भागों, दोनों पैरों आदि सभी हिस्सों के एक-एक अंग पर ध्यान करते हुए आगे बढ़ता है फिर क्रमशः बढ़ते हुए साधक एक मात्र पूरे सिर, पूरे धड़, दोनों हाथों तथा दोनों पैरों पर ध्यान एकाग्र करके वेदनानुभूति करता है। इसके बाद एक साथ पूरे शरीर की विपश्यना करते हुए वह सारी शारीरिक रासायनिक क्रिया को एकाग्र चित्त से देखता अर्थात अनुभव करता है।

स्पंदन शरीर में शिराओं और धमनियों में दौड़ने वाले रक्त की गति के कारण भी होती है लेकिन सूक्ष्म मन को इस ध्यान में जिस स्पंदन की अनुभूति होती है, उसकी गति रक्तकी गति से अगणित गुनी होती है। अष्टकलापों के हर क्षण अगणित बार नष्ट और उत्पन्न होने की अनुभूति होती है। इसी अनुभूति की प्रक्रिया में ध्यान गहरा होता जाता है। पश्चिमी मनोविज्ञान की भाषा में चेतन और अचेतन मन समान स्तर पर आ जाते हैं और **'समत्व योग मुच्यते'** व्याख्या चरितार्थ होने पर, मन विकारों को निकालने की क्रिया प्रारंभ कर देता है। फलतः इस जन्म के ही नहीं, अगणित जन्म-जन्मांतरों से संचित संस्कार निकलने लगते हैं।

अनुभूति को व्यक्त करने की सामर्थ्य शब्द में नहीं होती, फिर भी ध्यान द्वारा विकार निकलने की प्रक्रिया को उदाहरण से इस प्रकार समझा जा सकता है:- प्रायः हर व्यक्ति ने इस जन्म में या पिछले अनेक जन्मों में हत्या, नशा, चोरी, व्यभिचार, असत्य, धोखाधड़ी आदि करके अगणित कुसंस्कार अर्जित कर लिए हैं। वे सब मन में ग्रंथि के रूप में बराबर विद्यमान चले आ रहे हैं। तरह-तरह के रोगों के सर्जक भी ज्यादातर यही विकार हैं। विपश्यना की स्थिति में मन उन अग्राह्य संस्कारों को बाहर फेंकना शुरू करता है। चूंकि क्रोध अग्नि तत्व से बना है, जिसका गुण है ताप। इसलिए क्रोध के संस्कारों से ग्रस्त साधक के ध्यान में डूबने पर शरीर से गर्मी की लपटें निकलनी शुरू हो जाती हैं, और कभी-कभी तो ताप उस बिंदु पर पहुँच जाता है जहां ज्वर पहुँचने पर रोगी की मृत्यु हो जाती है। इस स्थिति में ध्यान से साधक देखता और अनुभव करता है कि उसका शरीर गर्मी से जला जा रहा है। कोई व्यक्ति उस शरीर पर हाथ रख दे तो हाथ को वह गर्मी असह्य लगेगी, लेकिन मुँह में थर्मामीटर लगाया जाय तो वह शरीर का ताप सामान्य ही बतायगा। कुछ मिनटों में क्रोध की प्रतिरूप यह असह्य गर्मी रोम-रंध्रों, हाथ-पैर के तालुओं आदि से विकार निकलने पर वह उसी प्रकार क्लांत भी हो जाता है, जिस प्रकार फोड़े का आपरेशन होने पर मवाद निकलने के बाद रोगी क्लांत हो जाता है। मानो मवाद ही उसका जीवन था। फिर वह प्रत्यक्ष अनुभव करता है कि उसमें भारी अंतर आ गया है और अब वह नया जीवन प्राप्त करके नया आदमी बन गया है। इसी प्रकार भय कंपन के रूप में, अहंकार असह्य पीड़ा के रूप में, पित्त का आधिक्य या नशे का प्रभाव मिचली के रूप में, निकलता है। अगणित जन्मों से अर्जित ये सारे विकार एक ही स्तर पर नहीं होते, बल्कि इनकी पर्त पर पर्त जमी है। साधना बढ़ने के साथ ये उत्तरोत्तर निकलते जाते हैं और चित्त शुद्ध होता जाता है। चित्त शुद्ध या विकार रहित होने पर सांस भी स्वभावतः सूक्ष्म होती जाती है। पारमिता वाले साधक को सांस तो प्रायः घंटों रुक जाती है। लंबा कुंभक, जिसे आज लोग 'समाधि' कहने लगे हैं विपश्यना से स्वतः इस तरह होने लगता है जबकि पूरक, रेचक और कुंभक जैसे प्राणायाम द्वारा कई वर्षों बाद भी वह स्थिति नहीं प्राप्त कर सकता।

बहुत ही वैज्ञानिक

विकार निकलने की यह प्रक्रिया बहुत ही वैज्ञानिक हैं, इसमें चमत्कार की कोई बात नहीं है। हम सभी जानते और देखते हैं कि स्थूल शरीर में त्वचाओं में अगणित कोशिकाएं हैं। ये कोशिकाएं एक प्रकार से 'लघु प्राण' हैं और हर क्षण की सूचना अपने मुख्यालय, मस्तिष्क, को देती रहती हैं। ग्राह्य चीज को लेना और अग्राह्य को फेंक देना इनका गुण है। रक्त से पोषक तत्व लेकर शेष अंश यह छोड़

देती हैं। स्थूल स्तर पर शरीर में होने वाली यह प्रक्रिया सोये मनको जगा देने से सूक्ष्म स्तर पर भी होने लगती है। मन जब साधना के द्वारा इस सूक्ष्म स्थिति में पहुँच जाता है तब अगणित विकारों को वह निकाल कर फेंकने और अहिंसा, सत्य, अस्तेय, इंद्रिय-निग्रह, करुणा, मैत्री आदि उन गुणों को ग्रहण करने का काम शुरू कर देता है, जिन्हें हम मूल्य कहते हैं। मूल्य वह है जिसे हम अपने पास रखना चाहते हैं। सत्य मूल्य है, क्योंकि हम उसे अपने पास रखना चाहते हैं। चोरी मूल्य नहीं है क्योंकि हम उसे अपने पास नहीं रखना चाहते। शुद्ध चित्त की प्रवृत्ति ऐसी ही बन जाती है और यह कहना अधिक सही होगा कि शुद्ध चित्त जिसे ग्रहण करे वही मूल्य है, वही ठीक और वही कल्याण-कर है और जिसे ग्रहण न करे वह मूल्य नहीं है इसलिए विपश्यना की साधना करने से झूठ बोलने, चोरी करने व्यभिचार में लिप्त रहने, मादक द्रव्यों का सेवन करने, घूस लेने, मुनाफाखोरी करने आदि जैसी सारी बुरी आदतें अपने आप छूटती जाती हैं।

सांख्य दर्शन की भाषा में जिस प्रकार कहा जा सकता है कि प्रकृति, नेचर अर्थात स्वभाव से मुक्त हो जाने पर केवल पुरुष रह जाता है, उसी प्रकार विपश्यना की भाषा में कहें तो विकारों से मुक्ति पा जाने पर चित्त केवल निर्मल रूप में रह जाता है। विपश्यना का साधक अच्छा पिता, अच्छा पुत्र, अच्छी भार्या, अच्छा पति, अच्छा व्यापारी, अच्छा कर्मचारी बनता है तो बच्चे अनुशासित और अध्ययनशील विद्यार्थी बनते हैं। अफसर, घूसखोर नहीं रह जाते तो स्त्रियां मर्यादा का पालन करने में ही जीवन की सार्थकता समझती हैं। सामान्यतः एक सदाचारी व्यक्ति शराब इसलिए नहीं पीता या चोरी-व्यभिचार आदि अवगुण नहीं करता कि समाज उसे बुरा कहेगा, उसका परिवार उजड़ जायगा और बाल-बच्चे बिगड़ जायँगे। विपश्यना का साधक इन लतों में इसलिए नहीं पड़ता कि उसके मन में इस प्रकार की प्रवृत्ति ही नहीं होती। यही है, **योगःकर्मसु कौशलम्** और यही है जीने की कला जिसे चित्त को निर्मल करने वाली विपश्यना सहज ही प्रदान कर देती है।

(वर्ष ३ बुद्धवर्ष २५१७ चैत्र पूर्णिमा (शक) दि. ०६-०४-७४ अंक १०)

उद्बोधन : सौमनस्यता बढ़ायें

मेरे प्यारे साथी साधको!

आओ, अपना कुशल साधें!

अपना सही कुशल किस बात में है?

अपना सही कुशल अपने मन को स्वच्छ, साफ रखने में है। अपना सही कुशल अपने मन को मंगल मैत्री से भर लेने में है।

जब-जब हम द्वेष-दौर्मनस्य से भर उठते हैं, जब-जब हम कड़वे, कठोर वचन बोलते हैं, तब-तब हम अपने ही मन की स्वच्छता खो बैठते हैं। और जब-जब हम अपने मन की स्वच्छता खो बैठते हैं, तब-तब हम अपने मन की सुख-शांति खो बैठते हैं।

जब-जब हम स्नेह-सौमनस्य से भर उठते हैं, जब-जब हम मीठे बोल बोलते हैं, तब-तब हम अपने मनके मैल से मुक्त रहते हैं। और जब-जब हम मनके मैल से मुक्त रहते हैं, तब-तब हम अपने मनकी सुख-शांति प्राप्त करते हैं।

सौमनस्यता से भरा हुआ मन स्वयं सुखी रहता है। दौर्मनस्यता से भरा हुआ मन स्वयं दुःखी ही रहता है।

दुर्मन मन औरों को भी दुःखी बनाता है। किसी-किसी अवस्था में औरों को दुःखी नहीं भी बना पाता। परंतु दुर्मन मन सभी अवस्थाओं में अपने आपको दुःखी ही बनाता है। जब-जब मन द्वेष-दुर्भावनाओं से दुर्मन हो उठता है, तब-तब अनिवार्य रूप से स्वयं बेचैन हो ही उठता है। यह प्रकृति का अटूट नियम है, यह ऋत है, यह धर्मनियामता है।

सुमन मन औरों को भी सुखी बनाता है। किसी-किसी अवस्था में औरों को सुखी नहीं भी बना पाता। परंतु सुमन मन सभी अवस्थाओं में अपने आपको तो सुखी बनाता ही है। जब-जब मन स्नेह-सद्भावनाओं से सुमन हो उठता है, तब-तब अनिवार्यरूप से स्वयं तो शांति चैन भोगता ही है औरों को भी सुखी-शांत बनाता है। यह प्रकृति का अटूट नियम है, यह ऋत है, यह धर्मनियामता है।

साधको! प्रकृति के इस अटूट नियम के प्रति, इस ऋत के प्रति, इस धर्मनियामता के प्रति सतत जागरूक रहें और अपने मन को सौमनस्यता से भरने का प्रयास करते रहें। अपने मन को दौर्मनस्यता से दूर रखने का प्रयास करते रहें।

इसी में अपना सही कुशल है, इसी में अपना वास्तविक मंगल है।

---o---

विपश्यना भावना और जीवन के लिए उसका महत्त्व (३)

मज्जन फल देखिय तत्काला : यहीं और इसी समय लाभ

ले. श्यामाप्रसाद 'प्रदीप' (दैनिक 'आज', वाराणसी)

(गतांक से आगे... ३रा)

किसी भी धर्म, किसी भी साधना की उपादेयता और सार्थकता इस बात में है कि वह सामाजिक पशु कहे जाने वाले मनुष्य को देवता नहीं तो कम से कम सही अर्थ में मनुष्य ही बनाये और उस धर्म, उस साधना का लाभ यहीं, अभी और इसी जीवन में मिले। मनुष्य में वही प्रवृत्तियां हैं जो पशु में, लेकिन उसे प्रवृत्ति मूलक चेतना के साथ-साथ बुद्धि भी मिली है। पशु अपनी आहार, निद्रा, मैथुन आदि प्रवृत्तियों की सहजरूप में पूर्ति हो जाने के बाद संतुष्ट हो जाता है, लेकिन मनुष्य अपनी सारी प्रवृत्तियों, कामनाओं, भावनाओं और आकांक्षाओं की पूर्ति के लिए बुद्धि का दुरुपयोग भी करता है। इस कारण वह वस्तुतः पशु से भी हीन अवस्था में पहुँच गया है। उत्तरोत्तर सभ्यता के प्रसार के साथ-साथ उसमें बहुत सारे अवगुण बढ़ते गए हैं कि आज वह कबायलियों से भी अधिक गया बीता है। मन में उसनें ईर्ष्या, द्वेष, काम, क्रोध, मद आदि इस तरह दबा रखे हैं, प्रतिस्पर्धा की भावना से वह इस तरह ग्रस्त है कि सहज प्रवृत्तियों के मामले में पशु से गया बीता होने के साथ-साथ वह बुद्धि-युक्त होने के कारण अनेक नयी-नयी बीमारियों, मानसिक रोगों और तनावों के कारण जीवन को नारकीय बना बैठा है। इन विकारों से मुक्त करके मनुष्य को प्रवृत्ति-मूलक चेतना तथा बुद्धिमूलक चेतना से ऊपर उठाना और आध्यात्मिक चेतना की अनुभूति कराना ही साधना का काम है। हठयोग प्राणायाम के द्वारा सांस पर मनचाहे नियंत्रण की कला प्रदान करता है और शरीर पर नियंत्रण तथा महाशक्ति की प्राप्ति होती है। लय योग से इच्छा पर नियंत्रण होता है और चिद्शक्ति मिलती है भक्तियोग दिव्य प्रेमशक्ति, शक्तियोग प्राकृतिक शक्तियों को जगाने की सामर्थ्य तथा यंत्र और मंत्रयोग चमत्कार व शक्तियां प्रदान करते हैं तो राजयोग विवेक प्रदान करता है। ज्ञानयोग, कर्मयोग, कुण्डलिनीयोग और समाधियोग इसी राजयोग के अंग हैं। विपश्यना अपनी कतिपय विशेषताओं के साथ ज्ञानयोग और कर्मयोग ही नहीं, बल्कि अन्य योगों की सामर्थ्य भी कई अर्थों में प्रदान करती है। लेकिन इसमें अन्य योगों की तरह शक्ति या चमत्कार अथवा रेखागणित की तरह कल्पनाओं के आगे कोई बात नहीं है और न यह कुण्डलिनी योग की तरह मन को मेरुदण्ड में स्थित

स्वाभिष्ठान, मणिपुर, अनाहत, असंख्य आज्ञा चक्रों को पार करते हुए सहस्रार से जोड़ने की कल्पना करती है। अंग-अंग की विपश्यना और पूरे शरीर में एक साथ विपश्यना करने में जब एक-एक अट्ठकलाप की कड़ियों को देखते हुए ध्यान गहराई में चला जाता है तब किसी-किसी में चक्र भी जग जाते हैं, प्रकाश दिखायी पड़ने लगता है लेकिन विशुद्धि होने, चमत्कार के मोह में न पड़ने का स्वभाव बनने तथा आनंद की अवस्था से भी ऊंची निर्विकार अवस्था में पहुँच जाने का लक्ष्य होने से सुख-दुःख की तरह चक्रों के जागरण, सहस्रार-कुण्डलिनी के संयोग के प्रति भी निरपेक्ष भाव बन जाता है। चक्र जगे, प्रकाश दिखायी पड़े तो साधक उनके चक्कर में नहीं पड़ता। थोड़ा कुतूहल हो जाय यह दूसरी बात है।

तुलनात्मक दृष्टि से

'योगश्चित्तवृत्ति निरोधः' योग चित की वृत्तियों के निरोध को कहते हैं। **'मनः' प्रगमनोपायो योगः 'इत्थभिधीयते'** मन के शमन का उपाय ही योग है अथवा **'एकग्गभावो समाधि'** या **'समाधिश्चितस्येकाग्रतेति'** एकालंबनतारूपी एकाग्रता या चित्त की एकाग्रता ही समाधि अर्थात योग है। चित को इस एकाग्र स्थिति में ले जाने और उसे विकारों से मुक्त करते हुए पूर्णतः जागृत कर देने से जो अवस्था प्राप्त होती है। वह आज के विज्ञान और मनोविज्ञान से परे की वस्तु है। इसीलिए उसका वर्णन भाषा में नहीं हो पाता। मनोविज्ञान की भाषा में चेतन और अचेतन दो मन हैं। इस अवचेतन मन में अपरिमित रूप में सारी शक्तियां भरी हुई हैं और इस मन को अभी पांच-छह प्रतिशत ही समझा जा सका है। समुद्र में तैरते हुए हिमखंड की तरह इसका अधिकांश छिपा हुआ है। चेतन मन की प्रबल तरंगों के मुकाबले इसकी तरंगे बहुत सूक्ष्म हैं। इसलिए चेतन मन की तरंगें अचेतन मन की तरंगों को काटती रहती हैं। सुषुप्तावस्था में जब चेतन मन काम नहीं करता तब अवचेतन मन अपनी इच्छा के अनुसार तरह-तरह की सृष्टि कर लेता है, भूत, भविष्य, वर्तमान किसी भी काल और किसी भी देश में पहुँचकर स्थिति का अवलोकन कर लेता है। योग में अवचेतन मन की इन तरंगों को इतना सक्रिय कर दिया जाता है कि वे चेतन मन की तरंगों की बराबरी पर आ जाती हैं या किसी मतानुसार उनसे भी कहीं अधिक प्रबल हो जाती हैं, तब शुद्धचित्त साधक जाग्रत अवस्था में भी वह सब कहीं अधिक एवं सही रूप में कर तथा देख सकता है जो सामान्यजन का विकारग्रस्त मन स्वप्नावस्था में कर सकता है।

अमेरिका में एक वैज्ञानिक डाक्टर डेलिगाडो ने ऐसा प्रयोग किया भी है। उन्होंने सिर के पृष्ठ भाग में, जहां छोटे मस्तिष्क का स्थान कहा जाता है, बाल से बारीक छेद किया और मकड़ी के जाल जैसा तार लगा दिया। इस तार से बहुत

हल्की बिजली देकर अवचेतन मनकी तरंगों को इतना प्रबल बना दिया गया कि वे चेतन मनकी तरंगों के समान हो गयीं या चेतन मन की तरंगें उनके आगे दब गईं। उस अवस्था में विभिन्न व्यक्तियों ने न केवल एक दूसरे के मन द्वारा प्रेषित संदेश सुन लिए बल्कि उनके मन में विद्यमान भावना की भी अनुभूति कर ली। लेकिन ऐसे प्रयोग से असामान्य अनुभूति करने वाले व्यक्तियों की न तो यह अपनी शक्ति थी और न प्रयोग समाप्त होने के बाद उनमें कोई ऐसी प्रवृत्ति उत्पन्न हुई कि वे विकारमुक्त हो जायँ, उनका चित्त शुद्ध हो जाय। अमेरिका के ही कैलिफोर्निया विश्वविद्यालय के वैज्ञानिक डाक्टर अलवरिस ने १५ वर्ष तक अनुसंधान करके सिद्ध किया कि इस शरीर की संरचना जिन अट्ठकलापों या 'सब एटमों' से हुई है वे एक सेकेण्ड में दस हजार महासंख (एक अंक के आगे बाइस बिंदी) बार बदल जाते हैं। इसके लिए छः वर्ष पूर्व डा. अलवरिस को नोबल पुरस्कार भी मिला। लेकिन मन से नहीं, बल्कि जड़ वस्तु यंत्र से प्राप्त यह जानकारी वह बोध नहीं करा सकती जो साधक को प्रज्ञा कराती है और न वैज्ञानिक सम्यक संबुद्ध या विकार से मुक्त समभाव कामनायुक्त वीतराग योगी ही हो सकता है। इसीलिए विज्ञान कितनी भी ऊंचाई पर क्यों न पहुँच जाय, मनुष्य को वास्तविक अर्थ में मनुष्य बनने और फिर देवताओ से भी ऊंचा उठने के लिए आत्मचेतना और विश्व चेतना को एक करने वाले योग या बौद्ध शब्दावली में समाधि का आश्रय लेना ही पड़ेगा। विपश्यना समत्व प्रदान करने वाली साधना है। **समत्वं योगमुच्यते,** हठयोग में 'ह' अर्थात सूर्यस्वर या इडानाड़ी और 'ठ' अर्थात चंद्रस्वर या पिंगलानाड़ी सामान्य भाषा में नाक की दायीं सांस और बायीं सांस को समत्व पर लाने से लक्ष्यप्राप्ति होती है और विपश्यना में चेतन तथा अवचेतन मन समान स्तर पर पहुँच कर साधक को क्षणभंगुरता का बोध कराकर समत्वभाव लाते हैं तथा भव के ताप से मुक्त कराते हैं।

अद्भुत उपचार

जैसे-जैसे साधक का चित्त निर्मल हो जाता है, वैसे-वैसे मन से संबंधित या मन से उत्पन्न सारे रोग भी निकलते जाते हैं। विपश्यना के समर्थ शिक्षक सत्यनारायण गोयन्का, जो बर्मा के प्रमुख उद्योगपति हैं और रंगून उद्योग तथा वाणिज्य मण्डल के अध्यक्ष रह चुके थे, असह्य शिर:शूल या माइग्रेन के असाध्य रोगी थे। जब शिर में पीड़ा व्यथित करती तब उनकी इच्छा होती थी कि सिर पत्थर पर पटक कर फोड़ डाला जाय। इस पीड़ा से मुक्ति के लिए उन्हें मॉर्फिया का इंजेक्शन दिया जाता था जिसकी प्रतिक्रिया भी कम भयानक नहीं होती थी। हर बार इंजेक्शन के बाद मिचली और वमन का क्रम चलता और जीवन नरक

तुल्य हो जाता था। सिर दर्द को दबाने के लिए मॉर्फिया, फिर मॉर्फिया का प्रभाव दबाने के लिए मॉर्फिया का अभ्यस्त हो जाना अपरिहार्य हो गया। लोगों ने इससे त्राण पाने के लिए उन्हें विदेश जाकर इलाज कराने की सलाह दी। अतः आज से २० वर्ष पूर्व उन्होंने स्विटजरलैंड, जर्मनी, ब्रिटेन और अमेरिका एवं जापान जाकर अपना इलाज कराने में काफी धन खर्च किया। लेकिन शिर की वह बीमारी ठीक नहीं हुई। वे जीवन से निराश हो गये, तभी बर्मा के सर्वोच्च न्यायालय के जज ऊ छान ठुन ने उन्हें इस बीमारी से मुक्ति के लिए 'इण्टरनेशनल मेडीटेशन सेन्टर' में जानें और ऊ बा खिन से विपश्यना सीखने की सलाह दी। गोयन्काजी कुछ दिनों तक तो इसलिए रुके रहे कि 'स्वधर्मे निधनं श्रेय, पर धर्मे भयावह' को उन्होंने जो धर्म समझा था, वह उन्हें बौद्ध धर्म की साधना एक अभारतीय से सीखने से रोक रहा था। उन्होंने यह नहीं समझा कि धर्म इन भेदों से उपर है। ध्यान साधना मजहब से ऊपर और वैज्ञानिक तथा संप्रदाय निरपेक्ष होती है। एक बार वे आश्रम में गए और बात-चीत करके भी साधना करने से कतराते रहे। अंततः मरता क्या न करता के अनुसार साधना सीखनी ही पड़ी। दस दिन की साधना से बिल्कुल ठीक हो गये। फिर तो ऊ बा खिन के चरणों में बैठकर उन्होंने १४ वर्षों से अधिक समय तक इस साधना में अद्भुत दक्षता प्राप्त की और १९६९ में भारत केवल एक वर्ष के लिए आने पर, मुंबई में अपने वृद्ध माता-पिता को विपश्यना सिखाने के बाद उन्हें ऐसी प्रेरणा मिली कि गुरु के आदेश से वे सारे व्यापार और कल कारखानों का भार भाइयों तथा पुत्रों के भरोसे छोड़कर लोक-कल्याण के लिए विपश्यना का प्रसार करने लगे और एक-एक वर्ष की वीसा बढ़ाते गये। हमारा ख्याल है कि साधना सिखाने के क्षेत्र में आज उनकी तुलना के दूसरे व्यक्ति शायद ही मिलें। देश के विभिन्न भागों में दस-दिन के ८४ शिविर लगा कर वे चार हजार से अधिक भारतीयों तथा विदेशियों को यह अमूल्य साधना सिखा चुके हैं और बहुत आग्रह होने पर भी उन्हें अभी श्रीलंका, अमेरिका, जापान आदि देशो में साधना सिखाने के लिए जाने की फुर्सत नहीं मिल रही हैं।

(वर्ष ३ बुद्धवर्ष २५१८ वैशाख पूर्णिमा (शक) दि. ०६-०५-७४ अंक ११)

धर्म क्या है ?

धर्म क्या है?

जीवन जीने की एक कला है! स्वयं सुख से जीने की कला! औरों को भी सुख से जीने देने की कला! सभी सुखपूर्वक जीना चाहते हैं। सभी दुःखों से मुक्त रहना चाहते हैं। परंतु जब हम यह नहीं जानते कि वास्तविक सुख क्या है और यह भी नहीं जानते कि उसे कैसे प्राप्त किया जाय तो झूठे सुख के पीछे बावले होकर दौड़ लगाते हैं और वास्तविक सुख से दूर होते हुए अधिकाधिक दुःख-निमग्न ही होते हैं। स्वयं ही नहीं औरों को भी दुःख-निमग्न ही करते हैं।

वास्तविक सुख आंतरिक शांति में है और आंतरिक शांति चित्त की विकार-विहीनता में है, चित्त की निर्मलता में है। चित्त की विकार-विहीन अवस्था ही वास्तविक सुख है, वास्तविक शांति है।

अतः सच्ची शांति और सच्चा सुख वही भोगता है जो निर्मल चित्त का जीवन जीता है। जो जितना विकारमुक्त रहता है उतना ही दुःख-मुक्त रहता है। उतना ही सुखलाभी होता है। जो जितना विकार-मुक्त रहता है, उतना ही जीवन जीने की सही कला जानता है, उतना ही सही माने में धर्मवान होता है। निर्मल चित्त का आचरण ही धर्म है, यही जीने की कला है। इस कला में जो जितना निपुण है वह उतना ही अधिक धर्मवान है। यही धर्मवान होने की सही परिभाषा है।

प्रकृति का एक अटूट नियम है जिसे कोई ऋत कह ले अथवा धर्म-नियामता कह ले, नाम के भेद से कोई अंतर नहीं पड़ता। नियम यह है कि ऐसा ऐसा होगा तो ऐसा-ऐसा परिणाम आयेगा ही, ऐसा-ऐसा नहीं होता तो ऐसा-ऐसा परिणाम नहीं आ सकेगा। कारणों के परिणामस्वरूप जो कार्य संपन्न होता है, उन कारणों के नहीं रहने से वह कार्य नहीं ही हो सकता। इस नियम के अनुसार जब-जब हमारा मन द्वेष से, दौर्मनस्य से, क्रोध से, ईर्ष्या से, भय आदि से आक्रांत हो उठता है, तब-तब हम व्याकुल हो ही जाते हैं, दुःख-संतापित हो ही जाते हैं, सुख से वंचित हो ही जाते हैं। जब-जब हमारा मन ऐसे विकारों से विकृत नहीं रहता, तब-तब हम व्याकुलता से मुक्त रहते हैं। दुःख-संतापित होने से बचे रहते हैं, अपनी आंतरिक सुख-शांति के मालिक बने रहते हैं।

जो कला हमें ऐसे विकारों से मुक्त रहना सिखाती है वही जीवन जीने की सही कला है, वही शुद्ध धर्म है। शुद्ध धर्म का स्वरूप बड़ा मंगलमय है, बड़ा कल्याणमय है। हम जब-जब विकार-विमुक्त होकर निर्मलचित्त का आचरण करते है, तब-तब स्वयं तो वास्तविक सुख-शांति भोगते ही हैं। औरों की भी सुख-शांति

का कारण बनते हैं। इसी प्रकार जब-जब विकारग्रस्त होकर मैले चित्त का आचरण करते हैं, तब-तब स्वयं तो संतापित रहते ही है औरों के भी संतापन का कारण बनते हैं, समाज की शांति भंग करते हैं।

क्रोध, लोभ, वासना, भय, मात्सर्य, ईर्ष्या, अहंकार आदि मनोविकारों का शिकार होकर ही हम हत्या करते है, चोरी करते हैं, व्यभिचार करते है, झूठ-छल-कपट करते हैं, कड़वा-कठोर बोलते हैं, चुगली-परनिंदा करते हैं, निरर्थक बकवास, करते हैं और जब-जब ऐसा करते हैं, तब-तब आत्म-संतापन और पर-संतापन का कारण बनते हैं। इन मनोविकारों के बिना कोई भी शारीरिक या वाचिक दुष्कर्म संपन्न हो ही नहीं सकता। परंतु यह आवश्यक नहीं कि मनोविकारों के उत्पन्न होने पर हम कायिक और वाचिक दुष्कर्म करें ही। बहुधा प्रबल मनोविकारों के उत्पन्न होने के बावजूद आत्म दमन द्वारा हम ऐसे कायिक, वाचिक दुष्कर्मो से बच जाते हैं। बचते हैं तो प्रत्यक्षतः औरों की हानि नहीं करते, परंतु फिर भी यदि मन ही मन दूषित विकारों से आक्रांत होकर कुलबुलाते रहते हैं तो मानसिक दुष्कर्म तो कायम रहता ही है। इससे अपनी शांति खोते ही है; परोक्षतः औरों की शांति भी भंग करते हैं। हमारे मन की दूषित तरंगें आस-पास के वातावरण को प्रभावित करती हैं और उसे दूषित किए बिना नहीं रह सकती।

जब-जब हमारा मन विकारविमुक्त होता है, निर्मल होता है; तब-तब स्वभाव से ही स्नेह और सद्भाव से भर जाता है, मैत्री और करुणा से भर जाता है। उस समय स्वयं तो सुख-शांति का अनुभव करते ही हैं, परोक्षतः औरों की भी सुख-शांति का कारण बनते हैं। हमारे निर्मल चित्त की तरंगे आस-पास के वातावरण को प्रभावित करती ही हैं, उसे यथाशक्ति निर्मल बनाती ही हैं।

अतः आत्मदमन ही धर्म की सर्वांग संपूर्णता नहीं है। लेकिन धर्म धारण करने का पहला कदम यहीं से आरंभ होता है। पहले तो संयम-संवर द्वारा ही हम कायिक और वाचिक दुष्कर्मों से विरत होते हैं और फिर सतत अभ्यास द्वारा मानसिक दुष्कर्मों से भी छुट्टी पा लेते हैं। मानसिक दुष्कर्मों से छुट्टी पाने का अर्थ है मानसिक विकारों से छुट्टी पाना। विकारविहीन निर्मल चित्त अपने सहज स्वभाव से ही कोई दुष्कर्म नहीं कर सकेगा। न मानसिक और न ही शारीरिक या वाचिक। अतः मुख्य बात है अपने चित्त को विकारों से विमुक्त रखना।

हम अपने प्रत्येक कर्म के प्रति जागरूक रहकर ही उसे दूषणमुक्त बना सकेंगे। हम अपने चित्त के प्रति और चित्त के विकारों के प्रति जागरूक रह कर ही उसे विकारमुक्त रख सकेंगे। अपने चित्त के प्रति अनजान रहते हुए, मूर्छित रहते हुए हम उसकी स्वच्छता कदापि हासिल नहीं कर सकते, उसकी स्वच्छता को कदापि कायम नहीं रख सकते। अतः अपने शारीरिक, वाचिक और मानसिक कर्मों का, अपने चित्त और चित्त-वृत्तियों का सतत निरीक्षण करते रहने का अभ्यास ही

धर्म धारण करने का सही अभ्यास हो सकता है। कोई कर्म करने के पूर्व भी और करते समय भी हम यह प्रत्यवेक्षण करें कि इस कर्म में हमारा तथा अन्यों का मंगल समाया हुआ है अथवा अमंगल। यदि मंगल है तो करें और यदि अमंगल हो तो न करें। इस प्रकार भलीभांति प्रत्यवेक्षण करके किया गया कर्म सर्व मंगलमय ही होगा। अतः धर्ममय ही होगा। यदि कभी अनवधानतावश बिना प्रत्यवेक्षण किए कोई कर्म कर लिया गया जो कि अपने तथा अन्यों के लिए अहितकर साबित हुआ तो उसे लेकर प्रायश्चित करते हुए रो-रोकर किसी अपराध ग्रंथि से ग्रस्त न हो जायँ, बल्कि शीघ्र से शीघ्र अपने किसी साथी साधक अथवा गुरुजन से मिलकर उनके सम्मुख अपनी भूल प्रकटकर उसे स्वीकार कर लें और इस भार से मुक्ति पायें तथा भविष्य में और अधिक सावधान रहने के लिए कृतसंकल्प बनें। इसी प्रकार जागरूकता का अभ्यास बढ़ाते हुए जब-जब चित्त पर कोई विकार जागे तत्क्षण उसका निरीक्षण करें। साक्षी की तरह निरीक्षण करने मात्र से वह दुर्बल होते-होते विनष्ट हो जायगा। कभी अनवधानतावश हम उसका निरीक्षण न कर पाये और परिणामतः वह हमारे सिर पर सवार हो गया तो उसे याद कर करके रोएं नहीं, बल्कि और अधिक सावधान रहने के लिए कृतसंकल्प हों और जागरूकता का अभ्यास बढ़ाएं। शुद्ध धर्म में प्रतिष्ठापित होने का यह वैज्ञानिक तरीका है।

जिस अभ्यास से अपने कर्मो के प्रति जागरूकता और सावधानी बढ़ती हो वही शुद्ध धर्म का अभ्यास है। जिस विधि से अपने कर्मों को सुधारने वाली चित्त-निर्मलता प्राप्त होती है, वही धर्मविधि है।

जब हम आत्म निरीक्षण करते हैं तो अपनी ही अनुभूतियों के बल पर देखते हैं कि प्रत्येक दुष्कर्म का कारण अपने ही चित्त की मलीनता है, अपने ही चित्त का कोई न कोई विकार है। हम यह भी देखते हैं कि प्रत्येक विकार का कारण अपने ही अहम् के प्रति उत्पन्न हुई गहन आसक्ति है। जब-जब आसक्ति के अंधेपन में इस "मैं" को अत्यधिक महत्त्व देकर इससे चिपक जाते हैं, तब-तब संकुचित दायरे में आबद्ध होकर मन मलीन कर लेते हैं और कोई न कोई ऐसा कर्म कर ही लेते हैं जो कि परिणामतः अकुशल ही होता है।

आत्मनिरीक्षण के अभ्यास द्वारा स्वानुभूतियों के बल पर ही यह स्पष्ट होता है कि जब-जब स्वार्थांध होकर हम विकार-ग्रस्त होते हैं तब-तब औरों का अहित तो करते ही हैं, अपना सच्चा स्वार्थ भी नहीं साधते। और जब-जब इस अंधेपन से मुक्त रहते हैं तब-तब आत्महित और परहित दोनों साधते हैं। आत्महित और परहित साधने का नाम ही तो धर्म है। जहां आत्म लाभ के साथ-साथ पर लाभ संलग्न हो जाता है वही धर्म है। जहां किसी का भी अहित होता है, वहां अधर्म ही अधर्म है। आत्मोदय और सर्वोदय का सामंजस्यपूर्ण स्वस्थ जीवन ही तो धर्म है आत्मोदय और सर्वोदय अन्योन्याश्रित है।

हमारे सत्कर्म, हमारे दुष्कर्म केवल हमें ही सुखी-दुःखी नहीं बनाते, बल्कि हमारे अन्य संगी साथियों को भी उसी प्रकार प्रभावित करते हैं। मनुष्य अपने समाज के अन्य सदस्यों के साथ रहता है। वह समाज का अविभाज्य अंग है। समाज द्वारा स्वयं प्रभावित होता है और समाज को भी थोड़ा-बहुत प्रभावित करते ही रहता है। इसलिए धर्म-साधन द्वारा जब हम नैतिक जीवन जीते हैं, दुष्कर्मों से बचते हैं, सत्कर्मों में लगते हैं तब केवल अपना ही भला नहीं करते, बल्कि औरों का भी भला साधते हैं। केवल औरों का ही भला नहीं करते, अपना भी भला साधते है।

जीवनमूल्यों के लिए ही तो धर्म-साधन है। यदि धर्म के अभ्यास से जीवनमूल्य ऊंचे नहीं होते, हमारा लोक-व्यवहार नहीं सुधरता, हम अपने लिए तथा औरों के लिए मंगलमय जीवन नहीं जी सकते तो ऐसा धर्म हमारे किस काम का? किसी के किस काम का? धर्म इसलिए है कि हमारे पारस्परिक संबंध सुधरें, हममें व्यवहार कौशल्य आए। परिवार के, समाज के, जाति के, राष्ट्र के, अंतर्राष्ट्र के सारे पारस्परिक संबंध व्यक्ति व्यक्ति के संबंधों पर ही तो निर्भर करते हैं। अतः शुद्ध धर्म यही है कि प्रत्येक व्यक्ति यहीं, इसी जीवन में औरों के साथ अपना व्यवहार संबंध सुधारे। इसी जीवन में सुख-शांति से जीने का नाम धर्म है। मृत्यु के बाद बादलों के ऊपर किसी अज्ञात स्वर्ग का जीवन जीने के लिए नहीं, मृत्यु के बाद पृथ्वी के नीचे किसी अनजान नरक से बचने के लिए नहीं, बल्कि हमारे अपने ही भीतर समाए हुए स्वर्ग का सुख भोगने के लिए। हमारे अपने ही भीतर समय-समय पर यह जो नारकीय अग्नि जल उठती है, उसे शांत करने के लिए; उससे बचने के लिए। धर्म सांदृष्टिक है। यहीं आंखों के सामने, इसी जीवन के लिए है, इसी लोक के लिए है, वर्तमान के लिए है। जिसने अपना वर्तमान सुधार लिया, उसे भविष्य की चिंता करने की जरूरत नहीं रही। उसका भविष्य स्वतः ही सुधर गया। जिसने लोक सुधार लिया, उसे परलोक की चिंता करने की जरूरत नहीं रही, उसका परलोक स्वतः ही सुधर गया। जो अपना वर्तमान नहीं सुधार सका, अपना इहलोक नहीं सुधार सका और केवल भविष्य की ओर आश लगाए बैठा हुआ है, केवल परलोक की ओर टकटकी लगाए बैठा हुआ है। वह अपने आपको धोखा ही देता है। अपने वास्तविक मंगल से वंचित ही रहता है। शुद्ध धर्म से दूर ही रहता है। धर्म अकालिक होता है। यानी अभी इसी जीवनकाल में फल देने वाला होता है। धर्म के नाम पर कोई अनुष्ठान पूरा करे और लाभ उसका यहां मिले नहीं; विकार-विहीन चित्त की निर्मलता का वास्तविक सुख यहीं इसी जीवन में मिले नहीं तो समझना चाहिए कि धर्म के नाम पर किसी धोखे में उलझ रहे हैं। शुद्ध धर्म से वंचित हो रहे हैं। धर्म सबके लिए इसी जीवन को शुख-शांतिमय बनाने हेतु है। आंखों के परे किसी सुदूर भविष्य की निरर्थक चिंता से मुक्त होने के लिए है। यही धर्म की शुद्धता है, यही शुद्ध धर्म का जीवन है, जो कि सार्वजनीन है।

सार्वजनीन है, इसलिए शुद्ध धर्म का संप्रदाय से कोई संबंध नहीं, कोई लेन-देन नहीं। शुद्ध धर्म के पथ का पथिक जब धर्म पालन करता है तब किसी संप्रदाय विशेष के थोथे निष्प्राण रीति-रिवाज पूरा करने के लिए ऐसा नहीं करता, किसी ग्रंथ विशेष के विधि-विधान का अनुष्ठान पूरा करने के लिए ऐसा नहीं करता। किसी मिथ्या अंधविश्वासजन्य रूढ़ि परंपरा का शिकार होकर किसी लकीर का अंधा फकीर बनने के लिए ऐसा नहीं करता। बल्कि शुद्ध धर्म का अभ्यासी एक जीवन जीता है – सुखी स्वस्थ जीवन। सुखी स्वस्थ जीवन के लिए ही धर्म का पालन करता है और धर्म का जीवन जीने के लिए धर्म को भलीभांति समझकर, उसे आत्म-कल्याण और परकल्याण का कारण मानकर ही उसका पालन करता है। बिना समझे हुए केवल अंध विश्वास के कारण अथवा किसी अज्ञात शक्ति को संतुष्ट प्रसन्न करने के लिए अथवा उसके भय से आशंकित-आतंकित होकर वह धर्म का पालन नहीं करता। धर्म का पालन करते हुए वह अपने दूषणों का केवल दमन करके ही नहीं रह जाता, बल्कि प्रज्ञापूर्वक उसका पूर्ण शमन और रेचन करता है। धर्म पालन वह केवल अपने लिए ही नहीं, बल्कि बहुजन के हित-सुख के लिए, बहुजन के मंगल-कल्याण के लिए, बहुजन की स्वस्ति-मुक्ति के लिए करता है।

धर्म का पालन यही समझकर करना चाहिए कि यह सार्वजनीन है, सर्वजनहितकारी है सांप्रदायिकता से परे है। किसी एक वर्गविशेष या जातिविशेष से बँधा हुआ नहीं है। धर्म यदि किसी संप्रदाय-विशेष से, किसी वर्गविशेष से बँध जाय तो उसकी शुद्धता नष्ट हो जाय। धर्म तभी तक शुद्ध है, जब तक वह सार्वजनीन है, सार्वदेशिक है, सार्वकालिक है। सब के लिए एक जैसा कल्याणकारी है, मंगलकारी है, हितसुखकारी है। सब के लिए सरलतापूर्वक बिना हिचक के ग्रहण कर सकने योग्य है। आओ! इस बात को जरा और अधिक स्पष्ट समझें: –

मुझे शुद्ध वायुमण्डल में रहना चाहिए। शुद्ध स्वच्छ हवा का सेवन करना चाहिए। मुझे अपना शरीर स्वच्छ रखना चाहिए, साफ सुथरे कपड़े पहनने चाहिए। शुद्ध स्वच्छ सात्त्विक भोजन करना चाहिए। यह सब मेरे लिए हितकर है। परंतु यह केवल मेरे लिए ही हितकर नहीं, किसी एक जाति-विशेष, वर्ग-विशेष या संप्रदाय-विशेष के लिए ही हितकर नहीं, बल्कि सब के लिए समान रूप से हितकर है। केवल मैं ही नहीं, कोई भी व्यक्ति यदि अशुद्ध, अस्वस्थ वातावरण में रहता है, गंदी-विषैली वायु का सेवन करता है, अपने शरीर को गंदा रखता है, अपने वस्त्र को गंदा रखता है, अस्वच्छ-दूषित भोजन करता है तो वह अपने स्वास्थ्य को हानि पहुँचाता ही है, रोगी और दुःखी होता ही है, यह नियम सार्वजनीन है। किसी एक व्यक्ति-विशेष पर ही लागू नहीं होता। किसी एक जाति-विशेष पर ही लागू नहीं होता। ठीक इसी प्रकार जब कोई व्यक्ति अपने मन को विकारों से विकृत करता है तो व्याकुल होता ही है। उसके वात-पित्त-कफ में विषमता पैदा होती ही है, वह

रोग-ग्रस्त होता ही है। स्वास्थ्य विज्ञान के सामान्य नियम सभी के तन और मन पर सामान्य रूप से लागू होते हैं। प्रकृति यह नहीं देखती कि इन नियमों का उल्लंघन करने वाला कौन है, किस जाति का है, किस संप्रदाय का है। प्रकृति किसी संप्रदाय-विशेष के व्यक्ति पर कृपा नहीं करती; न किसी अन्य पर कोप करती है। मलेरिया मलेरिया है, वह न हिंदू है, न बौद्ध है, न जैन है, न मुस्लिम है, न इसाई है। वैसे ही कुनैन कुनैन है। वह न हिंदू है, न बौद्ध है, न जैन है, न मुस्लिम है, न ईसाई है। वैसे ही क्रोध, ईर्ष्या, द्वेष आदि विकार न हिंदू हैं, न बौद्ध हैं, न जैन हैं,, न मुस्लिम हैं,, न ईसाई हैं। और वैसे ही इनसे विमुक्त रहना भी न हिंदू है, न बौद्ध है, न जैन है, न मुस्लिम है, न ईसाई है। विकारों से विमुक्त रहना ही शुद्ध धर्म है। अतः शुद्ध धर्म न हिंदू होता है, न बौद्ध होता है, न जैन होता है, न मुस्लिम होता है और न ईसाई होता है।

धर्म एक जीवन शैली है, एक सुख-पद्धति है, एक शांति विधा है, एक सर्वजन कल्याणी आचारसंहिता है जो सबके लिए है।

क्या शीलवान, समाधिवान, प्रज्ञावान होना केवल बौद्धों का ही धर्म है? औरों का नहीं? क्या वीतराग, वीतद्वेष, वीतमोह होना केवल जैनियों का ही धर्म है? औरों का नहीं? क्या स्थितप्रज्ञ, अनासक्त, जीवन्मुक्त होना केवल हिंदुओं का ही धर्म है? औरों का नहीं? क्या प्रेम और करुणा से ओत-प्रोत होकर जन-सेवा करना केवल ईसाइयों का ही धर्म है? औरों का नहीं? क्या जात-पांत के भेदभाव से मुक्त रहकर सामाजिक समता का जीवन जीना केवल मुसलमानों का ही धर्म है? ओरों का नहीं? धर्मपालन का मुख्य उद्देश्य है हम आदमी बनें। अच्छे आदमी बनें। अच्छे आदमी बन जायँगे तो अच्छे हिंदू, अच्छे बौद्ध, अच्छे जैन, अच्छे मुसलमान, अच्छे इसाई आदि आदि बन ही जायँगे। यदि अच्छे आदमी ही नहीं बन सके तो बौद्ध बने रहने से भी क्या हुआ? हिंदू, जैन, ईसाई, मुसलमान आदि-आदि बने रहने से भी क्या हुआ?

आओ! धर्म की इस शुद्धता को समझें और इस शुद्धता को ही धारण करें! हम सब के जीवन में शुद्ध धर्म जागे। निस्सार छिलकों का अवमूल्यन हो, उन्मूलन हो, शुद्ध सार का अधिमूल्यन हो, प्रतिष्ठापन हो! शुद्ध धर्म ही जीवन का अंग बन जाय। इसी में हमारा सच्चा कल्याण समाया हुआ है, सच्चा मंगल समाया हुआ है।

(वर्ष ३ बुद्धवर्ष २५१८ ज्येष्ठ पूर्णिमा (शक) दि. ०४-०६-७४ अंक १२)

विपश्यना साहित्य

हिंदी

- निर्मल धारा धर्म की - (पांच दिवसीय प्रवचन) रु. ५५/-
- प्रवचन सारांश (शिविर-प्रवचन) रु. ४५/-
- जागे पावन प्रेरणा रु. ५२/-
- जागे अंतर्बोध रु. ५०/-
- धर्मः आदर्श जीवन का आधार रु. ४०/-
- तिपिटक में सम्यक संबुद्ध, भाग-२ रु. १३०/-
- धारण करे तो धर्म रु. ७०/-
- क्या बुद्ध दुक्खवादी थे? रु. ३५/-
- मंगल जगे गृही जीवन में रु. ४०/-
- धम्मवाणी संग्रह (पालि गाथाएं एवं हिंदी अनु.) रु. ४०/-
- विपश्यना पगोडा स्मारिका रु. १००/-
- सुत्तसार भाग १ (दीघ एवं मज्झिम निकाय) रु. ५५/-
- सुत्तसार भाग २ (संयुत्तनिकाय) रु. ५०/-
- सुत्तसार भाग ३ (अंगुत्तर एवं खुद्दकनिकाय) रु. ४५/-
- धन्य बाबा! रु. ३५/-
- कल्याणमित्र सत्यनारायण गोयन्का (व्यक्तित्व और कृतित्व) रु. ५०/-
- पातंजल योगसूत्र रु. ५०/-
- आहुनेय्य, पाहुनेय्य, अंजलिकरणीय - डॉ. ओम प्रकाश जी रु. ३०/-
- राजधर्म [कुछ ऐतिहासिक प्रसंग] रु. ३५/-
- आत्म-कथन भाग-१ रु. ३५/-
- लोक गुरु बुद्ध रु. ०६/-
- देश की बाह्य सुरक्षा रु. ०५/-
- गणराज्य की सुरक्षा कैसे हो! रु. ०६/-
- शाक्यों और कोलियों के गणतंत्र का विनाश क्यों हुआ? रु. ०८/-
- अंगुत्तर निकाय, भाग-१ रु. १००/-
- केंद्रीय कारागृह जयपुर, विपश्यना का प्रथम जेल शिविर रु. ३०/-
- विपश्यना : लोकमत भाग-१ रु. ४०/-
- विपश्यना : लोकमत भाग-२ रु. ४५/-
- अग्रपाल राजवैद्य जीवक रु. २०/-
- मंगल हुआ प्रभात (हिंदी दोहे) रु. ५५/-
- पथ-प्रदर्शिका रु. १/-
- विपश्यना क्यों? रु. १/-
- सम्राट अशोक के अभिलेख रु. ५०/-
- आचार्य श्री सत्यनारायणजी गोयन्का का संक्षिप्त जीवन-परिचय रु. २०/-
- अहिंसा किसे कहें? रु. १२/-
- लकुण्डक भद्दिय रु. १०/-
- गौतम बुद्धः जीवन-परिचय और शिक्षा रु. २५/-
- भगवान बुद्ध की साम्प्रदायिकता-विहीन शिक्षा रु. १०/-
- बुद्धजीवन-चित्रावली रु. ३३०/-
- भगवान बुद्ध के अग्रश्रावक महामोग्गल्लान रु. ३५/-
- क्या बुद्ध नास्तिक थे? रु. ८५/-
- महामानव बुद्ध की महान विद्या विपश्यना का उद्‌गम और विकास (११६ चित्रों का संग्रह) सजिल्द रु. ६२५/-
- तिपिटक में सम्यक संबुद्ध, (६ भागों में) भाग-१ रु. ४५/-, भाग-२ रु. ५०/-, भाग-३ रु. ५५/-, भाग-४ रु. ४५/-, भाग-५ रु. ४५/-, भाग-६ रु. ५५/-.
- भगवान बुद्ध के महाश्रावक महाकस्सप (धुतांगधारियों में 'अग्र') रु. ३५/-
- महामानव बुद्ध की महान विद्या विपश्यना का उद्‌गम और विकास रु. १४५/-
- भगवान बुद्ध के अग्रउपासक अनाथपिण्डिक रु. ४०/-
- भगवान बुद्ध की अग्रश्राविका किसागोतमी रु. २०/-
- चित्त गृहपति एवं हत्थक आळवक रु. ३०/-
- खुशियों की राह रु. १५०/-
- विसाखा मिगारमाता रु. ३५/-
- मगधराज सेनिय बिम्बिसार रु. ४५/-
- बुद्धसहस्सनामावली (पालि एवं हिंदी) रु. ३५/-
- आनन्द – भगवान बुद्ध के उपस्थाक रु. १२०/-
- जीने की कला रु. ७०/-
- परम तपस्वी श्री रामसिंह जी रु. ५५/-
- भगवान बुद्ध की अग्रउपासिकाएं खुज्जुत्तरा एवं सामावती तथा उत्तरानन्दमाता रु. २५/-
- १२ हिंदी पुस्तिकाओं का सेट रु. १४/-
- धम्म-वंदना (पालि गाथाएं, हिंदी अनुवाद) रु. ४५/-
- धम्मपद (संशोधित हिंदी अनुवाद सहित) रु. ३०/-
- महासतिपट्ठानसुत्त (समीक्षा एवं भाषानुवाद) रु. ५५/-
- महासतिपट्ठानसुत्त (भाषानुवाद) रु. २०/-
- बुद्धगुणगाथावली (पालि) रु. ३०/-
- बुद्धसहस्सनामावली (पालि) रु. १५/-
- प्रारंभिक पालि रु. ८५/-
- प्रारंभिक पालि की कुंजी रु. ५०/-
- जागो लोगां जगत रा (राजस्थानी दूहा) रु. ४५/-
- परिभाषा धरम री (राजस्थानी) रु. १०/-
- ५ राजस्थानी पुस्तिकाओं का सेट रु. ५/-
- विश्व विपश्यना स्तूप का संदेश (हिंदी, मराठी, अंग्रेजी) रु. १०/-

मराठी

- जगण्याची कला रु. ५०/-
- जागे पावन प्रेरणा रु. ८०/-
- प्रवचन सारांश रु. ३५/-
- धर्मः आदर्श जीवनाचा आधार रु. ४०/-
- जागे अंतर्बोध रु. ४०/-
- निर्मळ धारा धर्माची रु. ३५/-
- महासतिपट्ठानसुत्त (भाषानुवाद) रु. ३०/-
- महासतिपट्ठानसुत्त (समीक्षा) रु. ४०/-
- मंगलमय गृहस्थ-जीवन रु. ३५/-
- भगवान बुद्धाची सांप्रदायिकता-विहीन शिकवणुक रु. १०/-
- बुद्धजीवन-चित्रावली रु. ३३०/-
- आनंदाच्या वाटेवर रु. १५०/-
- आत्म-कथन भाग-१ रु. ५०/-
- अग्रपाल राजवैद्य जीवक रु. २०/-
- महामानव बुद्धाची महान विद्या विपश्यनाः उगम आणि विकास रु. १२५/-
- लोक गुरु बुद्ध रु. ०६/-
- लकुण्डक भद्दिय रु. १२/-
- प्रमुख विपश्यनाचार्य श्री सत्यनारायणजी गोयंका यांचा संक्षिप्त जीवन-परिचय रु. १८/-

गुजराती

- प्रवचन सारांश रु. ३०/-
- धर्मः आदर्श जीवननो आधार रु. ४५/-
- महासतिपट्ठानसुत्त रु. २०/-
- जागे अंतर्बोध रु. ७५/-
- धारण करे तो धर्म रु. ७०/-
- जागे पावन प्रेरणा रु. १००/-
- क्या बुद्ध दुःखवादी थे? रु. ३०/-
- विपश्यना शा माटे? (पुस्तिका) रु. ०१/-
- मंगल जगे गृही जीवन में रु. ३५/-
- निर्मल धारा धर्म की रु. ६५/-
- बुद्धजीवन-चित्रावली रु. ३३०/-
- लोक गुरु बुद्ध रु. ०६/-
- भगवान बुद्ध की साम्प्रदायिकता-विहीन शिक्षा रु. १०/-

अन्य भाषाओं में

- द आर्ट ऑफ लिविंग (तमिळ) रु. ६०/-
- डिस्कोर्स समरीज (तमिळ) रु. ३०/-
- ग्रेसियस फ्लो ऑफ धम्म (तमिळ) रु. २५/-
- मंगल जगे गृही जीवन में (तेलगु) रु. ३०/-
- प्रवचन सारांश (बंगाली) रु. ३५/-
- धर्मः आदर्श जीवन का आधार (बंगाली) रु. ३०/-
- प्रवचन सारांश (मलयालम) रु. ४५/-
- निर्मल धारा धर्म की (मलयालम) रु. ४५/-
- जीने का हुनर (उर्दू) रु. ७५/-

पालि तिपिटक सेटः

अङ्गुत्तरनिकाय (अजिल्द) (१२ ग्रंथ) रु. १५००/-
खुद्दकनिकाय – सेट १ (९ ग्रंथ) रु. ५४००/-
दीघनिकाय अभिनवटीका (रोमन) (भाग १ और २) रु. १०००/-

English Publications

- Sayagyi U Ba Khin Journal — Rs. 160/-
- Essence of Tipitaka by U Ko Lay — Rs. 130/-
- The Art of Living by Bill Hart — Rs. 85/-
- The Discourse Summaries — Rs. 60/-
- Healing the Healer by Dr. Paul Fleischman — Rs. 30/-
- Come People of the World — Rs. 40/-
- Gotama the Buddha: His Life and His Teaching — Rs. 45/-
- The Gracious Flow of Dharma — Rs. 40/-
- Discourses on Satipaṭṭhāna Sutta — Rs. 80/-
- Vipassana : Its Relevance to the Present World — Rs. 110/-
- Dharma: Its True Nature — Rs. 70/-
- Vipassana : Addictions & Health (Seminar 1989) — Rs. 70/-
- The Importance of Vedanā and Sampajañña — Rs. 135/-
- Pagoda Seminar, Oct. 1997 — Rs. 80/
- Pagoda Souvenir, Oct. 1997 — Rs. 50/-
- A Re-appraisal of Patanjali's Yoga- Sutra by S. N. Tandon — Rs. 85/-
- The Manuals Of Dhamma by Ven. Ledi Sayadaw — Rs. 205/-
- Was the Buddha a Pessimist? — Rs. 65/-
- Psychological Effects of Vipassana on Tihar Jail Inmates — Rs. 80/-
- Effect of Vipassana Meditation on Quality of Life (Tihar Jail) — Rs. 60/-
- For the Benefit of Many — Rs. 120/-
- Manual of Vipassana Meditation — Rs. 80/-
- Realising Change — Rs. 140/-
- The Clock of Vipassana Has Struck — Rs. 130/-
- Meditation Now : Inner Peace through Inner Wisdom — Rs. 85/-
- S. N. Goenka at the United Nations — Rs. 20/-
- Defence Against External Invasion — Rs. 5/-
- How to Defend the Republic? — Rs. 6/-
- Why Was the Sakyan Republic Destroyed? — Rs. 8/-
- Mahāsatipaṭṭhāna Sutta — Rs. 60/-
- Pali Primer — Rs. 75/-
- Key to Pali Primer — Rs. 45/-
- Guidelines for the Practice of Vipassana — Rs. 2/-
- Vipassana In Government — Rs. 1/-
- The Caravan of Dhamma — Rs. 90/-
- Peace Within Oneself (Keynote) — Rs. 10/-
- The Global Pagoda Souvenir 29 Oct.2006 (English & Hindi) — Rs. 60/-
- The Gem Set In Gold — Rs. 75/-
- The Buddha's Non-Sectarian Teaching — Rs. 15/-
- Acharya S. N. Goenka An Introduction — Rs. 25/-
- Value Inculcation through Self-Observation — Rs. 35/-
- Glimpses of the Buddha's Life — Rs. 330/-
- Pilgrimage to the Sacred Land of Dhamma (Hard Bound) — Rs. 750/-
- An Ancient Path — Rs. 100/-
- Vipassana Meditation and the Scientific World View — Rs. 15/-
- Path of Joy — Rs. 200/-
- The Great Buddha's Noble Teachings The Origin & Spread of Vipassana (Small) — Rs. 160/-
- Vipassana Meditation and Its Relevance to the World (Coffee Table Book) — Rs. 800/-
- The Great Buddha's Noble Teachings The Origin & Spread of Vipassana (HB) — Rs. 650/-
- Buddhaguṇagāthāvalī (in three scripts) — Rs. 30/-
- Buddhasahassanāmāvalī (in seven scripts) — Rs. 15/-
- English Pamphlets, Set of 9 — Rs. 11/-
- Set of 10 Post Card — Rs. 35/-
- Gotama the Buddha: His Life and His Teaching (French) — Rs. 30/-
- Meditation Now: Inner Peace through Inner Wisdom (French) — Rs. 80/-
- For the Benefit of Many (French) — Rs. 195/-
- For the Benefit of Many (Spanish) — Rs. 125/-
- The Art of Living (Spanish) — Rs. 130/-
- Path of Joy (German, Italian, Spanish, French) — Rs. 300/-

संपर्कः विपश्यना विशोधन विन्यास, धम्मगिरि, इगतपुरी-४२२४०३, जि. नाशिक, महाराष्ट्र. फोनः ०२५५३-२४४०७६, २४४०८६ २४३७१२, २४३२३८. फैक्सः ०२५५३-२४४१७६. (दक्षिण भारतीय भाषाओं में अनुवादित विपश्यना साहित्य, स्थानीय केंद्रों प उपलब्ध है।) Email: vri_admin@dhamma.net.in; Website: www.vridhamma.org

विपश्यना साधना केंद्र

विश्वभर में विपश्यना के निम्नलिखित केंद्र हैं। इन केंद्रों पर प्रायः हर माह दस दिवसीय आवासीय शिविर आयोजित होते हैं। इच्छुक व्यक्ति किसी भी केंद्र से भावी शिविर-कार्यक्रमों की जानकारी प्राप्त करके, अपनी सुविधानुसार सम्मिलित हो सकते हैं: –

प्रमुख केंद्र = धम्मगिरि, धम्मतपोवन : विपश्यना विश्व विद्यापीठ, इगतपुरी-४२२४०३, नाशिक. फोनः [९१] **(०२५५३)** २४४०७६, २४४०८६, २४३७१२, २४३२३८; फैक्सः ०२५५३-२४४१७६. Website: www.vri.dhamma.org, Email: <info@giri.dhamma.org> (केवल कार्यालय के समय अर्थात सुबह १० बजे से सायं ५ बजे तक).

धम्मनासिकाः संपर्कः १) **नाशिक विपश्यना केंद्र,** म.न.पा. जलशुद्धिकरण केंद्र के सामने, शिवाजीनगर, सातपुर, (पोस्ट-YCMOU), नाशिक-४२२२२२. संपर्कः फोनः (०२५३) ६५१६-२४२, ३२०३-६७७, मोबाइलः ९८२२५-१३२४४,

धम्मसरिताः विपश्यना केंद्र, जीवन संध्या मंगल संस्थान, मातोश्री वृद्धाश्रम, सौरगांव, पोस्ट पडघा, ता. भिवंडी, जि. ठाणे-४२११०१ (खडावली मध्य रेल्वे स्टेशन के पास). फोनः **(०२५२२)** ६९५३०१, **संपर्कः** +९१ ७७९८३-२४६५९, ७७९८३-२५०८६.

धम्ममनमोदः मनमाड विपश्यना केंद्र, अनकाई किला स्टेशन के पास, पो. अनकाई, ता. येवला, जि. नाशिक-४२२ ४०३ **संपर्कः** (०२५९१) २२५१४१-२३१४१४.

धम्मवाहिनीः मुबई परिसर विपश्यना केंद्र, गांव रूंदे, टिटवाला (पूर्व) कल्याण, जि. ठाणे. **संपर्कः संपर्कः** मोबाईलः ९७७३०-६९९७८. केवल कार्यालय के दिन-- १२ से सायं ६ तक.

धम्मविपुलः विपश्यना साधना केंद्र, सयाजी ऊ बा खिन मेमोरियल ट्रस्ट, प्लॉट नं. ९१ए; सेक्टर २६, पारासिक हिल, सीबीडी बेलापुर, नवी मुंबई ४०० ६१४. फोनः (०२२) २७५२-२२७७. Email: dhammavipula@gmail.com

धम्मपत्तनः एस्सेल वर्ल्ड के पास, गोराई खाड़ी, बोरीवली (पश्चिम) मुंबई – ४०० ०९१ व्यवस्थापक, फोनः (९१) (०२२) २८४५-२२३८, ३३७४-७५०१, मोबा. ९७७३०-६९९७५, (सुबह ११ से सायं ५ बजे तक); टेलि-फैक्सः (०२२) ३३७४-७५३१, Email: info@pattana.dhamma.org; Website: www.pattana.dhamma.org

धम्मसरोवरः खान्देश विपश्यना केंद्र, गेट नं. १६६, डेडरगांव जलशुद्धिकरण केंद्र के पास, मु.पो. तिखी-४२४ ००२, जिला-धुळे, (०२५६२) २०३४८२, ६९९५७३. मोबा. ९२२५४-६१०२१. **संपर्कः** फोनः २२२८६१, मोबा. ९९२२६०७७१८,

धम्मानन्दः पुणे विपश्यना केंद्र, मरकल गांव के पास, आलंदी से ८ कि.मी. मोबा. कार्यालय ९२७१३-३५६६८. व्यवस्थापक मोबा. ९४२०४-८२८०५. **संपर्कः** फोनः **(०२०)** २४४६८९०३, २४४३६२५०; टेलि/फैक्सः २४४६४२४३.

धम्मपुण्णः संपर्कः पुणे विपश्यना समिति, दादावाडी, नेहरू स्टेडियम के सामने, आनंद मंगल कार्यालय के पास, पुणे-४११००२. फोनः (०२०) २४४३६२५०. २४४६८९०३. फैक्सः २४४६४२४३; Email: info@punna.dhamma.org

धम्मालयः दक्खिन विपश्यना अनुसंधान केंद्र, रामलिंग रोड, आलते पार्क, आलते, ता. हातकणंगले, जि. कोल्हापुर, पिनः ४१६१२३. फोनः **०२३०**-२४८७१६७, २४८७३८३, Email: info@alaya.dhamma.org. **संपर्कः मोबा.** ९७६७४-१३२३२.

धम्मअनाकुलः विपश्यना साधना केंद्र, खापरखेड़ फाटा, तेल्हारा-४४१०८ जि. अकोला. **संपर्कः** १) विपश्यना चैरिटेबल ट्रस्ट, शेगांव, अपना बाजार, मेन रोड, शेगांव, जि. बुलडाना. फोनः ९५७९८-६७८९०, ९८८१२-०४१२५.

धम्मअजयः विपश्यना साधना केंद्र, ग्राम - अजयपूर, पो. चिचपल्ली, मुल रोड, चंद्रपुर, Email: dhammaajaya@gmail.com **संपर्कः** १) श्री घरडे, मोबाइलः ८००७१५१०५०, ९४२१७-२१००६,

धम्ममल्लः संपर्कः श्री. शेलके, सिद्धार्थ सोसायटी, यवतमाळ, ४४५००१, फोनः ९४२२८-६५६६१.

धम्मभूसनः विपश्यना साधना समिति, शांतिनगर, ओमकार कॉलोनी, कोटेचा हायस्कूल के पास, जि. जलगांव, भुसावल ४२५२०१, Email: info@bhusana.dhamma.org, **संपर्कः** मोबा. ९८२२९-१४०५६.

धम्मअजन्ताः अजंता अंतर्राष्ट्रीय विपश्यना समिति, एम. जी. एम. मेडिकल कालेज कैम्पस, एन-६, सिडको, औरंगाबाद-४३१००३. फोनः (०२४०) २३५००९२, २४८०१९४. **संपर्कः** फोनः (०२४०) २३४१८३६. मोबाईलः ९४२२२-११३४४.

धम्मनागः नागपुर विपश्यना केंद्र – माहुरझरी गांव, नागपुर-कलमेश्वर रोड के पास, नागपुर; **संपर्कः** फोनः **०७१२**-२४५८६८६, २४२०२६१, मोबा. ९४२३४-०५६००; फैक्सः २५३९७१६. Email: info@naga.dhamma.org

धम्मसुगतिः संपर्कः १) श्री नारनवरे, एकायनो मग्गो धम्म प्रशिक्षण संस्था, सुगतनगर, नागपुर-१४. फोनः (०७१२) २६३०११५, फैक्सः २६५०८६७. मोबा. ९४२२१-२९२२९. २) सुरेंद्र राऊतः २६३२९१८. मोबा. ९२२६९-९६०८७.

धम्मवसुधाः विपश्यना केंद्र, हिवरा पोस्ट झडशी, ता. सेलु, जि. वर्धा **संपर्कः** १) श्री एवं सौ बांते, मोबा. ९३२६७३२५५०, ९३२६७३२५४७. २) श्री काटवे, मोबा. ९७३००६९७२६, Email: dhammavasudha@yahoo.com.in

धम्म आवासः लातुर विपश्यना समीती, आर. टी. ओ आफीस के पास, वसंत विहार कालोनी, बाभळगाव रोड, लातूर-४१३५३१ **संपर्कः** १) श्री डी. भुतडा, मोबा. ९६७३२५९९००, ०२३८२-२५९२८४, २) श्री ए. कामदार, मोबा. ९९७०२-७७७०१.

धम्म निरंजनः विपश्यना साधना केंद्र, नेरली कुशता धाम नेरली. (नांदेड से ५ कि मी. की दुरी पर) **संपर्कः** १) श्री एस. एम. जोंधले, मोबाइलः ९४२२१८९३१८. २) डॉ. कुलकर्णी, फोनः (०२४६२) २५२६५९. मोबाइलः ९४२२१७३२०२.

धम्मथलीः विपश्यना केंद्र, पो.बॉ. २०८, जयपुर-३०२००१, राजस्थान, फोनः **[९१] ०१४१**-२६८०२२०, मोबा. ०-९६१०४-०१४०१, ०९६०२८-४८८९६. फैक्सः २५७६२८३. Email: info@thali.dhamma.org

धम्ममरुधराः विपश्यना साधना केंद्र, लहरिया रिसोर्ट के पीछे, चौपासनी, जोधपुर-३४२००९. मोबा. ९३५२५-९२२७९ **संपर्कः** फोनः (०२९१) २४३२०४८, २६३७३३०. मो.: ०९३१४७-२७२१५, Email: info@mayurexports.com

धम्मपुब्बजः चूरू (राजस्थान) **पुब्बज भुमी विपश्यना ट्रस्ट,** बलेरी रोड, (चूरू से ६ कि.मी.) चूरू (राजस्थान): **संपर्कः** १) श्री श्रवण कुमार फुलवारी, मोबा. ०९४१४६-७६०६१. २) श्री सुरेश खन्ना, मोबा. ९४१३१-५७-५६.

धम्मअजरामरः विपश्यना केंद्र, वीर तेजाजी नगर, दौराई, अजमेर-३०५००३; फोनः (०१४५) २४४३६०४. **संपर्कः** श्री हेमंत सोनी, मोबाइल- ०९३१४८-३१५८२, ९४१३२-२८३४०.

धम्मपुष्करः विपश्यना केन्द्र, ग्राम रेवत (केडेल), पुष्कर पर्वतसर रोड, पुष्कर, जि अजमेर. मोबा. +९१-९४१३३-०७५७०. फोनः +९१-१४५-२७८०५७०. **संपर्कः** मोबा. ०९८२९०-७१७७८, मोबा. ०९८२९०-२८२७५. फैक्सः ०१४५-२७८७१३१.

धम्मसोतः विपश्यना साधना संस्थान, राहका गांव, (निम्मोद पोलीस पोस्ट के पास) बल्लभगढ़-सोहना रोड, (सोहना से १२ किमी.), जिला- गुडगांव, सोहना, हरियाणा. मोबा. ९८१२६५५५९९, ९८१२६४१४००. **संपर्कः** फोनः **(०११)** २६४८-५०७१, २६४८-५०७२, २६४५-२७७२. फैक्सः २६४७०६५८. Email: info@sota.dhamma.org

धम्मपट्ठान : विपश्यना साधना केंद्र, कम्मासपुर, जि. सोनीपत, हरियाणा, पिन-१३१००१. मोबा. ०९९९१८७४५२४, **संपर्कः** ऊपर धम्मसोत के संपर्क पर.

धम्मकारुणिकः विपश्यना साधना संस्थान, गव्हरमेंट स्कूल के पास, गाँव नेवल, डाक सैनिक स्कूल कुंजपुरा, करनाल-१३२००१; **संपर्कः** टेली-फैक्सः ०१८४-२२५७५४३, मोबा. ९९९२०-००६०१. Email: info@karunika.dhamma.org;

धम्मसिखरः हिमाचल विपश्यना केंद्र, धर्मकोट, मैकलोडगंज, धर्मशाला, जिला- कांगरा, पिन-१७६२१९ (हि. प्र.) फोनः **०१८९२-**२२१३०९, २२१३६८. मोबा. (सायं ४ से ५) ०९८५७०-१४०५१. Email: info@sikhara.dhamma.org;

धम्मसलिलः देहरादून विपश्यना केंद्र, जनतनवाला गांव, देहरादून कॅन्ट तथा संतला देवी मंदिर के पास, देहरादून-२४८००१. फोनः **०१३५**-२१०४५५५, २७१५१८९. **संपर्कः** फोनः (०१३५) २७१५१८९, २६५३३६६. फैक्सः २७१५५८०.

धम्मसुवत्थीः जेतवन विपश्यना साधना केंद्रः कटरा बाईपास रोड, बुद्धा इंटर कालेज के सामने, श्रावस्ती, पिन-२७१८४५; फोनः **(०५२५२)** २६५४३९, ०९३३५८३३३७५, **संपर्कः** मोबाईलः ०९४१५०-३६८९६, ०९४१५७-५१०५३.

धम्मलक्खणः लखनऊ विपश्यना केंद्र, अस्ती रोड, बक्शी का तालाब, लखनऊ-२२७२०२. फोनः (०५२२) २९६८५२५. मोबा. ०९७९४५४५३३४. **संपर्कः** फोनः नि. **(०५२२)**-२४२-४४०८, मोबा. ०९३३५९-०६३४१, ०९४१५०-३६८९६,

धम्मधजः पंजाब विपश्यना केंद्र, आनंदगढ़, पो. मेहलांवली-१४६११०, जिला- होशियारपुर. फोनः **०१८८२**-२७२३३३, मोबाइलः ९४६५१-४३४८८. Email: info@dhaja.dhamma.org

धम्मचक्कः विपश्यना साधना केंद्र, खरगीपुर गांव, पो. पियरी, चौबेपुर, (सारनाथ), वाराणसी. फोनः (०५४२) ३२०८१६८. Email: info@cakka.dhamma.org **संपर्कः** १) श्री गुप्ता, फोनः ०५४२-३२४६०८९. मोबा. ९३३६९-१४८४३,

धम्मकल्याणः कानपुर (उ. प्र.) अंतर्राष्ट्रीय विपश्यना साधना केंद्र, ढोड़ी घाट, हनुमान मंदिर के पास, गाँव एमा, पो. रूमा, कानपुर नगर- २०९४०२, फोनः ०७३८८-५४३७९३, ०७३८८-५४३७९५, मोबा. ०८९९५४८०१४९. Email: dhamma.kalyana@gmail.com, **संपर्कः** मोबा. ०९८३९१-३८०८४, ०९४५०१-३२४३६.

धम्मसिन्धुः कच्छ विपश्यना केंद्र, ग्राम- बाड़ा, मांडवी, जिला- कच्छ-३७०४७५. फोनः (कार्या.) (०२८३४) २७३३०३, फैक्सः २२४४८८, २८८९११; **संपर्कः** फोनः **(०२८३४)** २२३०७६, २२३४०६, Email: info@sindhu.dhamma.org

धम्मकोट : सौराष्ट्र विपश्यना केंद्र, कोठारिया रोड, लोथडा गांव, राजकोट, गुजरात. फोनः ०२८१ –२७८२०४०, मोबाईलः ९३२७९-२३५४० (राजकोट से १५ कि.मी.) **संपर्कः** फोनः ०२८१- २२२०८६१६, मोबाईलः ९४२७२-२१५९१,

धम्मदिवाकरः उत्तर गुजरात विपश्यना केंद्र, मीठ्ठा गाव, ता. और जिला- मेहसाणा, गुजरात; फोनः **(०२७६२)** २७२८००. Email: info@divakara.dhamma.org **संपर्कः** फोनः **(०२७६२)** २५४६३४, २५३३१५. मोबा. ०९४२९२३३०००,

धम्मसुरिन्दः सुरेंद्रनगर, गुजरात **संपर्कः** १) महासतीजी, फोनः (०२७५२) २४२०३०. २) डॉ. बविशी, फोनः २३२५६४.

धम्मभवनः संपर्कः १) 'धम्मभवन', ५ कालिंदी पार्क, अकोटा अतितिगृह के पीछे, अकोटा, बड़ोदा-३९००२०; फोनः (०२६५) २३४११८१. २) विठ्ठलभाई पटेल, फोनः (०२६९२) मोबा. ९८२५०-२८०५७. Email: vvsou@hotmail.com

धम्म अम्बिका : विपश्यना ध्यान केंद्र, जी एल/१२ निलांजन काम्प्लेक्स, राधा किशन मंदिर के सामने, नूतन सोसायटी के पास, महर्षि अरविंद मार्ग दुधिया तलाव, नवसारी, मोबा. ०९८२५०४४५३६, ०९५३७२६६९०९.

धम्मपीठः गुर्जर विपश्यना केंद्र, ग्राम- रनोडा, ता. धोलका, जिला- अहमदाबाद- ३८७८१०, मोबा. ८९८००-०१११०, ८९८००-०१११२, ९४२६४-१९३९७. फोनः (०२७१४) २९४६९०. **संपर्कः** श्रीमती शशी तोडी, मोबा. ९८२४०-६५६६८.

धम्मखेत्तः विपश्यना अन्तर्राष्ट्रीय साधना केंद्र, (१२.६ किमी.) माइल स्टोन नागार्जुन सागर रोड, कुसुम नगर, वनस्थलीपुरम हैदराबाद-५०००७०, (आंध्र प्रदेश) फोनः **(०४०)** २४२४०२९०, ३२४६०७६२, ०९४९१५९४२४७,

धम्मसेतुः विपश्यना साधना केंद्र, ५३३, पझान- थंडलम रोड, थीरुनीरमलाई रोड, द्वारा, थीरुमुदीवक्कम, चेन्नई-६०००४४. फोनः ०४४-२४७८०९५३, २४७८०९५२, मोबाइलः ९४४४०-२१६२२, **संपर्कः** फोनः ०४४-४३४०-७०००, ४३४०-७००१,

धम्मपफुल्लः बैंगलोर विपश्यना केंद्र, अलूर-५६२१२३. (गाँव अलूर, अलूर पंचायत कार्यालय के पास) तुमकूर हाईवे के सामने दासनपुरा बैंगलोर उत्तर तालुका, (कर्नाटक). फोनः **(०८०)** २३७१-२३७७, २३७१७१०६, ९१-९७३९५९१५८०, ९२४२३-५७४२४, ९३४३५-४५३८८ (सुबह ११ से दोपहर ३ तक) Email: info@paphulla.dhamma.org

धम्मनागाज्जुन : विपश्यना साधना केंद्र, हिल कॉलोनी, नागार्जुन सागर, जि. नालगोंडा, आंध्र प्रदेश, पिन-५०८२०२. फोनः (८६८०) २७७९९९ मोबाः ०९९६३७७५६४५, ९४४०१- ३९३२९. Email: info@nagajjuna.dhamma.org

धम्मनिज्झान : विपश्यना साधना केंद्र, इंदूर, पो. पोचाराम-५०३१८६, येदपल्ली मंडल, जि. निजामाबाद, फोनः **(०८४६७)** ३१६६६३, ९९०८५९६३३६. Email: info@nijjhana.dhamma.org

धम्मविजय : विपश्यना साधना केंद्र, विजयराय, पोस्ट- पेदावेगी मंडलम्, पिन-५३४४७५, जि. पश्चिम गोदावरी, (आंध्र प्रदेश). फोनः **(०८८१२)** २२५५२२; मोबा. ९४४१४-४९०४४

धम्मारामः विपश्यना अंतर्राष्ट्रीय साधना केंद्र, कुमुदावल्ली गांव, भीमावरम-भानुकू रोड, (भीमावराम के पास), मंडल -पाल कोडेरु, जि. पश्चिम गोदावरी, पिन-५३४२१०. फोनः ०८८१६- २३६५६६. Email: info@rama.dhamma.org

धम्म कोण्डञ्ञ : विपश्यना साधना केंद्र, कोंडापुर (व्हाया) संगारेड्डी, जि. मेडक - ५०२३०६. **संपर्कः** मोबा. ९३९२०-९३७९९,

धम्मकेतनः विपश्यना साधना केंद्र, पो. मम्परा (व्हाया) कोडुकुलान्जी, चेन्गन्नूर, जि. अलपुज्झा. केरल-६८९५०८. फोनः (०४७९) २३५-१६१६. Email: info@ketana.dhamma.org **संपर्कः** फोनः (०४८४) २५३९८९१ मोबा. ९८४६५६९८९१.

धम्मकानन : धम्मकानन विपश्यना केंद्र, वैनगंगा तट, रेंगाटोला, पो. गर्रा, बालाघाट. फोनः (०७६३२) २९२४६५; **संपर्कः फोनः (०७६३२)** २३९१६५, मोबाईलः ०९४२५१४००१५, ०९४२४३-३६२४१. Email: dineshbgt@hotmail.com

धम्मकेतु : विपश्यना केंद्र, पोस्ट बॉक्स १६, थनौद, व्हाया-अंजौरा, जिला-दुर्ग, छत्तीसगढ़-४९१००१; (म.प्र.) फोनः (०७८८) ३२०५५१३, मोबा. ९५८९८४२७३७. Email: info@ketu.dhamma.org **संपर्कः** मोबा. ०९४२५२-३४७५७,

धम्मबल : विपश्यना साधना केंद्र, भेडाघाट थाने से एक किलोमीटर, बापट मार्ग, भेडाघाट, जबलपुर. मोबा. ९३००५०६२५३. **संपर्कः** फोनः ०७६१-४००६२५२, मोबा. ९९८१५-९८३५२, ९४२४३-५५२१४.

धम्मलिच्छवी : वैशाली विपश्यना केंद्र, लदौरा ग्राम, लदौरा पाक्री, मुजफ्फरपुर-८४३११३. फोनः ०९९३११६१२९०. **संपर्कः** श्री गोयन्का, फोनः **०६२१**- २२४०-२१५, २२४७७६०. Email: info@licchavi.dhamma.org

धम्मबोधिः बोधगया अंतर्राष्ट्रीय विपश्यना साधना केंद्र, मगध विश्वविद्यालय के समीप, पो. मगध विश्वविद्यालय, गया-ढोबी रोड, बोधगया-८२४२३४, मोबा. ९४७१६-०३५३१, **संपर्कः** फोनः **(०६३१)** २२००४३७, ९९५५९-११५५६.

धम्मपुब्बोत्तरः मिजोरम विपश्यना साधना केंद, कमलानगर-२, सीएडीसी, चांगतै-सी, जि. लोंगतलाई, मिजोरम -७९६७७२. Email: mvmc.knagar@gmail.com, **संपर्क** दिगंबर चकमा, फोनः ०३७२-२५६३६८३. मोबा. ०९४३६७-६३७०८,

धम्मपुरीः त्रिपुरा विपश्यना मेडिटेशन सेंटर, पो. मचमरा, जि. उत्तर त्रिपुरा, पिनः ७९९२६५. मोबा. ०९८६२६-४६७६४, Email: Info@Puri.dhamma.org **संपर्कः** फोनः ०३८१-२३००४४१, मोबा. ०९८६२१-५४८८२, ०९४०२५-२७१९१.

धम्मगंगाः विपश्यना केंद्र, सोदपुर, हरिश्चन्द्र दत्ता रोड, पनिहटी, बारो मन्दिर घाट, कोलकाता-७००११४. फोनः **(०३३)** २५५३२८५५. Email: info@ganga.dhamma.org **संपर्कः** कार्यालयः (१) फोनः **(०३३)** २२४२३२२५/४५६१ (२) श्री तोदी, १२३A, मोतीलाल नेहरू रोड, कोलकाता-२९ फोन नि. २४८५४१७९. मोबा. ९८३१४-४७७०१.

धम्मपालः धम्मपाल विपश्यना केंद्र, केरवा डैम के पीछे, ग्राम दौलतपुरा, भोपाल-४६२ ०४४, Email: dhammapal@airtelmail.in; **संपर्कः** मोबा. ९८९३२-८९०४९, फोनः (०७५५) २४६८०५३, २४६२३५१, फैक्सः २४६-८१९७. ऑन लाइन आवेदन; http://www.dhamma.org/en/schedules/schpala.shtml

धम्मालवा : इंदौर (म.प्र.) विपश्यना केंद्र, ग्राम - जंबूडी हप्सी, गोमटगिरी के आगे, पितृ पर्वत के सामने, हातोद रोड,

इंदौर-४५२००३. **संपर्कः** १) इंदौर विपश्यना इंटरनेशनल फाउंडेशन, ट्रस्ट, "लाभगंगा" ५८२, एम. जी. रोड इंदौर (म.प्र.) फोनः (०७३१) ४२७३३१३. Email: info@malava.dhamma.org; dhammamalava@gmail.com

धम्मरत : (रतलाम से १५ कि.मी.) साई मंदीर के पीछे, ग्राम धमनोद ता. साईलन जि. रतलाम-४५७००१, फैक्सः ०७४१२ ४०३८८२, मोबा. ०९८२७५-३५२५७. Email: dhamm.rata@gmail.com **संपर्कः** रतलाम विपश्यना समिति, द्वारा डा वाधवानी क्लीनीक, ११७, स्टेशन रोड, रतलाम-४५७००१ मोबा. ०९९८१०-८४८२२, ९४२५३-६४९५६.

धम्मउपवनः बाराचकिया, बिहार **संपर्कः** फोनः निवास (०६२१) २४४ ९७५; ५५२१ ०७७०

धम्मउत्कलः विपश्यना साधना केंद्र, ग्राम चानबेरा पो. अमसेना, (व्हाया) खरियार रोड जिलाः नुआपाडा, उड़ीसा-७६६१०६, मोबा. ०९४०६२३७८९६, **संपर्कः** मोबा. ०९४३८६१०००७, ०९४३७०-७०५०५,

धम्मसिक्किमः विपश्यना साधना केंद्र, पो. ऑ. आहो सेन्ती, ग्राम, सेन्ती ईस्ट सिक्किम- ७३७१३५, **संपर्कः** शीलादेवी चौरसिया, मोबा. ०९८३०७-०६४८१, ०९७४८४-६१७८७, Email: basantigorsia@hotmail.com

धर्मशृंगः नेपाल विपश्यना केंद्र, मुहान पोखरी, बूढ़ानीलकंठ, पो. बा. १२८९६, काठमांडू, फोनः **९७७ (०१)** ४३७१६५५, ४३७१००७, ४२५०५८१, ४२२५४९०; निवासः ४२२४७२०, ४२२६३१४. Email: info@sringa.dhamma.org; **संपर्कः** फोनः २५०५८१, २२५४९०, नि.२२१२९०. फैक्सः २२४७२०, २२६३१४.

धम्मजननीः लुंबिनी विपश्यना केंद्र, लुंबिनी (पीस फ्लेम के पास), रुपनदेही, लुंबिनी अंचल, नेपाल. Email: info@janani.dhamma.org फोनः ९७७ (७१) ५८०२८२. **संपर्कः** नेपाल. फोनः **९७७ (७१)** ५४१५४९.

धम्मविराट : पूर्वांचल विपश्यना केंद्र, फुलबरी टोल, बस पार्क के दक्षिण की ओर इथारी- ७ संसरी, नेपाल; फोनः [९७७] (२५) ५८५५२१; Email: info@birata.dhamma.org; **संपर्कः** १) श्री मुंदडा, फोनः [९७७] (२१) ५२५४८६, ५२७६७१. फैक्सः ५२६४६६; २) श्री गोयल, फोनः दूकान [९७७](२५)५२३५२८, नि. ५२६८२९.

धम्मतराई : बीरगंज विपश्यना केंद्र, परवानीपुर, पारसा, नेपाल. Email: info@tarai.dhamma.org **संपर्कः** १) कार्यालयः संदीप बिल्डींग, आदर्श नगर, पो. बा. नं. ३२. फोनः ०५१-५२१८८४. फैक्सः ०५१-५८०४६५. मोबा. ९८०४२-४५७६

धम्मचितवन : चितवन विपश्यना केंद्र, मंगलपुर व्ही.डी.सी. वार्ड नं ८, विजयनगर बाजार के समीप, चितवन, नेपाल Email: info@citavana.dhamma.org **संपर्कः** १) श्री महाराजन, फोनः ९७७(५६) ५२०२९४, ५२८२९४

धम्मकीत्ति : कीर्तिपुर विपश्यना केंद्र, देवधोका, कीर्तिपुर, नेपाल. **संपर्कः** श्री महर्जन, समाल तोले, वार्ड नं. ६, कीर्तिपुर.

धम्मपोखरा : पोखर विपश्यना केंद्र, पचभैया लेखनाथ नगरपालिका, पोखरा, कसकी, नेपाल. **संपर्कः** श्री नारा गुरुंग फोनः [९७७] (०६१) ६९१९७२, मोबा. ९८४६२-३२३८३, ९८४१२-५५६८८. Email: info@pokhara.dhamma.org

Cambodia

Dhamma Laṭṭhikā, Battambang Vipassana Centre, Trungmorn Mountain, National Route 10, District Phnom Sampeau, Battambang, Cambodia **Local Contact:** Off: Tel: [855] (536) 488 588, 2. Mr. Sochet Kuoch, Tel: [855] (092) 931 647, [855] (012) 995 269 Email: mientan2000@yahoo.co.uk and ms_apsara@yahoo.com

Hong Kong

Dhamma Muttā, G.P.O. Box 5185, Hong Kong Tel: 852-2671 7031; Fax: 852-8147 3312 Email: info@hk.dhamma.org

Indonesia

Dhamma Jāvā, Jl. H. Achmad No.99; Kampung Bojong, Gunung Geulis, Kecamatan Sukaraja, Cisarua-Bogor, Indonesia. Tel: [62] (0251) 827-1008; Fax: [62] (021) 581-6663; Website: www.java.dhamma.org **Course Registration** Tel : [62] (021) 7066 3290 (7am to 10pm); Fax: [62] (021) 4585 7618 Email: info@java.dhamma.org

Iran

Dhamma Īran, Teheran Dhamma House Tehran Mehrshahr, Eram Bolvar, 219 Road, No. 158 Tel: 98-261-34026 97; Email: info@iran.dhamma.org

Israel

Dhamma Pamoda, Kibbutz Deganya-B, Jordan Valley, Israel **City Contact:** Israel Vipassana Trust, P.O. Box 75, Ramat-Gan 52100, Israel Website: www.il.dhamma.org/os/Vipassana-centre-eng.asp Email: info@il.dhamma.org

Dhamma Korea, Choongbook, Korea. Dabo Temple, 17-1, samsong-ri, cheongcheon-myun, gwaesan-koon, choongbook, Korea. Tel: +82-010-8912-3566, +82-010-3044-8396 Website: www.kr.dhamma.org Email: dhammakor@gmail.com

Japan,

Dhamma Bhānu, Japan Vipassana Meditation Centre, Iwakamiyoku, Hatta, Mizucho-cho, Funai-gun, Kyoto 622 0324 Tel/Fax: [81] (0771) 86 0765, Email: info@bhanu.dhamma.org

Dhammādicca, 782-1 Kaminogo, Mutsuzawa-machi, Chosei-gun, Chiba, Japan 299 4413. Tel: [81] (475) 403 611. Website: www.adicca.dhamma.org

Malaysia

Dhamma Malaya, Malaysia Vipassana Centre, Centre Address: Gambang Plantation, opp. Univ. M.P. Lebuhraya MEC, Gambang, Pahang, Malaysia **Office Address:** No., 30B, Jalan SM12, Taman Sri Manja, 46000 Petaling Jaya, Malaysia. Tel: [60] (16) 341 4776 (English Enquiry) Tel: [60] (12) 339 0089 (Mandarin Enquiry) Fax: [60] (3) 7785 1218; Website: www.malaya.dhamma.org Email: info@malaya.dhamma.org

Mongolia

Dhamma Mahāna, Vipassana center trust of Mongolia. Eronkhy said Amaryn Gudamj, Soyolyn Tov Orgoo, 9th floor, Suite 909, Mongolia Tel: [976] 9191 5892, 9909 9374; **Contact:** Central Post Office, P. O. Box 2146 Ulaanbaatar 211213, Mongolia Email: info@mahana.dhamma.org

Myanmar

Dhamma Joti, Vipassana Centre, Wingaba Yele Kyaung, Nga Htat Gyi Pagoda Road, Bahan, Yangon, Myanmar Tel: [95] (1) 549 290, 546660; Office: No. 77, Shwe Bon Tha Street, Yangon, Myanmar. Fax: [95] (1) 248 174 **Contact:** Mr. Banwari Goenka, Goenka Geha, 77 Shwe Bon Tha Street, Yangon, Myanmar Tel: [95] (1) 241 708, 253 601, 245 327, 245 201; Res. [95] (1) 556 920, 555 078, 554 459; Tel/Fax: Res. [95] (01) 556 920; Off. 248 174; Mobile: 95950-13929; Email: bandoola@mptmail.net.mm; goenka@ mptmail.net.mm Email: dhammajoti@mptmail.net.mm

Dhamma Ratana, Oak Pho Monastery, Myoma Quarter, Mogok, Myanmar **Contact:** Dr. Myo Aung, Shansu Quarter, Mogok. Mobile: [95] (09) 6970 840, 9031 861;

Dhamma Maṇḍapa, Bhamo Monastery, Bawdigone, Near Mandalay Arts & Science University, 39th Street, Mahar Aung Mye Tsp., Mandalay, Myanmar Tel: [95] (02) 39694 Email: info@mandala.dhamma.org

Dhamma Maṇḍala, Yetagun Taung, Mandalay, Myanmar, Tel: [95] (02) 57655 **Contact:** Dr Mya Maung, House No 33, 25th Street, (Between 81 and 82nd Street), Mandalay, Myanmar Tel: [95] (02) 57655, Email: info@mandala.dhamma.org

Dhamma Makuṭa, Mindadar Quarter, Mogok.Mandalay Division, Myanmar. Tel: [95] (09) 80-31861. Email: info@joti.dhamma.org

Dhamma Manorama, Main road to Maubin University, Maubin, Myanmar. Tel: **Contact:** U Hla Myint Tin, Headmaster, State High School, Maubin, Myanmar. Tel: [95] (045) 30470

Dhamma Mahimā, Yechan Oo Village, Mandalay-Lashio Road, Pyin Oo Lwin, Mandalay Division, Myanmar. Tel: [95] (085) 21501. Email: info@mandala.dhamma.org

Dhamma Manohara, Aung Tha Ya Qr, Thanbyu-Za Yet, Mon State **Contact:** Daw Khin Kyu Kyu Khine, No.64 Aungsan Road, Set-Thit Qr, Thanbyu-Zayet, Mon State, Myanmar. Tel: [95] (057) 25607

Dhamma Nidhi, Plot No. N71-72, Off Yangon-Pyay Road, Pyinma Ngu Sakyet Kwin, In Dagaw Village, Bago District, Myanmar. **Contact:** Tel: 95-1-503873, 503516~9, Email: dagon@mptmail.net.mm

Dhamma Ñāṇadhaja, Shwe Taung Oo Hill, Yin Ma Bin Township, Monywa District, Sagaing Division, Myanmar **Contact:** Dhamma Joti Vipassana Centre

Dhamma Lābha, Lasho, Myanmar

Dhamma Magga, Near Yangon, Off Yangon Pegu Highway, Myanmar

Dhamma Mahāpabbata, Taunggyi, Shan State, Myanmar

Dhamma Cetiya Paṭṭhāra, Kaytho, Myanmar

Dhamma Myuradipa, Irrawadi Division, Myanmar

Dhamma Pabbata, Muse, Myanmar

Dhamma Hita Sukha Geha, Insein Central Jail, Yangon, Myanmar

Dhamma Hita Sukha Geha-2, Central Jail Tharawaddy, Myanmar

Dhamma Rakkhita, Thayawaddi Prison, Bago, Myanmar

Dhamma Vimutti, Mandalay, Myanmar

Philippines

Dhamma Phala, Philippines Email: info@ph.dhamma.org

Sri Lanka

Dhamma Kūṭa, Vipassana Meditation Centre, Mowbray, Hindagala, Peradeniya, Sri Lanka Tel/Fax: [94] (081) 238 5774; Tel: [94] (060) 280 0057; Website: www.lanka.com/dhamma/dhammakuta Email: dhamma@sltnet.lk

Dhamma Sobhā, Vipassana Meditation Centre Balika Vidyala Road, Pahala Kosgama, Kosgama, Sri Lanka Tel: [94] (36) 225-3955 Email: dhammasobhavmc@gmail.com

Dhamma Anurādha, Ichchankulama Wewa Road, Kalattewa, Kurundankulama, Anuradhapura, Sri Lanka. Tel: [94] (25) 222-6959; **Contact:** Mr. D.H. Henry, Opposite School, Wannithammannawa, Anuradhapura, Sri Lanka. Tel: [94] (25) 222-1887; Mobile. [94] (71) 418-2094. Email: info@anuradha.dhamma.org

Taiwan

Dhammodaya, No. 35, Lane 280, C hung-Ho Street, Section 2, Ta-Nan, Hsin She, Taichung 426, P. O Box No. 21, Taiwan Tel: [886] (4) 581 4265, 582 3932; Website: www.udaya.dhamma.org Email: dhammodaya@gmail.com

Dhamma Vikāsa, Taiwan Vipassana Centre - Dhamma Vikasa No. 1-1, Lane 100, Dingnong Road Laonong Village Liouguei Township Kaohsiung County Taiwan Republic of China Tel: [886] 7-688 1878 Fax: [886] 7-688 1879 Email: info@vikasa.dhamma.org

Thailand,

Dhamma Kamala, Thailand Vipassana Centre, 200 Yoo Pha Suk Road, Ban Nuen Pha Suk, Tambon Dong Khi Lek, Muang District, Prachinburi Province, 25000, Thailand Tel.

[66] (037) 403- 514-6, [66] (037) 403 185; Website: http://www.kamala.dhamma.org/ Email: info@kamala.dhamma.org

Dhamma Ābhā, 138 Ban Huay Plu, Tambon Kaengsobha, Wangton District, Pitsanulok Province, 65220, Thailand Tel : [66] (81) 605-5576, [66] (86) 928-6077; Fax : [66] (55) 268 049; Website: http://www.abha.dhamma.org/ Email: info@abha.dhamma.org

Dhamma Suvaṇṇa, 112 Moo 1, Tambon Kong, Nongrua District, Khonkaen Province, 40240, Thailand Tel [66] (08) 9186-4499, [66] (08) 6233-4256; Fax [66] (043) 242-288; Website: http://www.suvanna.dhamma.org/ Email: info@suvanna.dhamma.org

Dhamma Kañcana, Mooban Wang Kayai, Tambon Prangpley, Sangklaburi District, Kanchanaburi Province, Thailand Tel. [66] (08) 5046-3111 Fax [66](02) 993-2700 Email: info@kancana.dhamma.org

Dhamma Dhānī, 42/660 KC Garden Home Housing Estate, Nimit Mai Road, East Samwa Sub-district, Klongsamwa District, Bangkok 10510, Thailand Tel. [66] (02) 993-2711 Fax [66] (02) 993-2700 Email: info@dhani.dhamma.org

Dhamma Sīmanta, Chiengmai, Thailand **Contact:** Mr. Vitcha Klinpratoom, 67/86, Paholyotin 69, Anusaowaree, Bangkhen, BKK 10220 Thailand Tel: [66] (81) 645 7896; Fax: [66] (2) 279 2968; Email: vitchcha@yahoo.com Email: info@simanta.dhamma.org

Dhamma Porāṇo: A meditator has donated six acres of land near Nakorn Sri Dhammaraj (the name of the city), an important and ancient sea-port.

Dhamma Puneti, Udon Province, Thailand

Dhamma Canda Pabhā, Chantaburi, an eastern town about 245 kilometres from Bangkok

Australia & New Zealand,

Dhamma Bhūmi, Vipassana Centre, P. O. Box 103, Blackheath, NSW 2785, Australia Tel: [61] (02) 4787 7436; Fax: [61] (02) 4787 7221 Email: info@bhumi.dhamma.org

Dhamma Rasmi, Vipassana Centre Queensland, P. O. Box 119, Rules Road, Pomona, Qld 4568, Australia Tel: [61] (07) 5485 2452; Fax: [61] (07) 5485 2907 Website: www.rasmi.dhamma.org Email: info@rasmi.dhamma.org

Dhamma Pabhā, Vipassana Centre Tasmania, GPO Box 6, Hobart, Tasmania 7001, Australia Tel: [61] (03) 6263 6785; Website: www.pabha.dhamma.org Course registration & information: [61] (03) 6228-6535 or (03) 6266-4343 Email: info@pabha.dhamma.org

Dhamma Āloka, P. O. Box 11, Woori Yallock, VIC 3139, Australia Tel: [61] (03) 5961 5722; Fax: [61] (03) 5961 5765 Email: info@aloka.dhamma.org

Dhamma Ujjala, Mail to: PO Box 10292, BC Gouger Street, Adelaide SA 5000, [Lot 52, Emu Flat Road, Clare SA 5453, Australia] **Tel Contact:** Anne Blizzard [61] (0)8 8278 8278; Email: info@ujjala.dhamma.org

Dhamma Padīpa, Vipassana Foundation of WA, Australia, Website: www.dhamma.org.au **Contact:** Andrew Parry C/- 13 Goldsmith Road, Claremont, WA 6010, Australia. Tel: [61]-(8)-9388 9151. Email: info@padipa.dhamma.org

Dhamma Medinī, 153 Burnside Road, RD3 Kaukapakapa, Rodney District, New Zealand Tel: [64] (09) 420 5319; Fax: [64] (09) 420 5320; Website: www.medini.dhamma.org Email: info@medini.dhamma.org

Dhamma Passaddhi, Northern Rivers region, New South Wales Email: info@passaddhi.dhamma.org

Europe,

Dhamma Dīpa, Harewood End, Herefordshire, HR2 8JS, UK Tel: [44] (01989) 730 234; Fax: [44] (01989) 730 450; Email: info@dipa.dhamma.org

Dhamma Padhāna, European Long-Course Centre, Harewood End, Herefordshire, HR2 8JS, UK Website: www.eu.region.dhamma.org/os username <oldstudent> password <behappy> Email: info@padhana.dhamma.org

Dhamma Dvāra, Vipassana Zentrum, Alte Strasse 6, 08606 Triebel, Germany Tel: [49] (37434) 79770; Website: www.dvara.dhamma.org Email: info@dvara.dhamma.org

Dhamma Mahī, France Vipassana Centre, Le Bois Planté, Louesme, F-89350 Champignelles, France. Tel: [33] (0386) 457 514; Fax [33] (0386) 457 620; Website: www.mahi.dhamma.org Email: info@mahi.dhamma.org

Dhamma Nilaya,, 6, Chemin de la Moinerie, 77120, Saints, France Tel/Fax: [33] 1 6475 1370; Mobile: 0609899079 Email: vcjuly2001@orange.fr

Dhamma Aṭala, Vipassana Centre, SP29, Lutirano 15 50034 Lutirano (Fi) Italy Tel: Off. [39] (055) 804 818; Website: www.atala.dhamma.org Email: info@atala.dhamma.org

Dhamma Sumeru, Centre Vipassana, No. 140, Ch-2610 Mont-Soleil, Switzerland Tel: [41] (32) 941 1670; Website: www.sumeru.dhamma.org Email: info@sumeru.dhamma.org Registration office: registration@sumeru.dhamma.org

Dhamma Neru, Centro de Meditación Vipassana, Cami Cam Ram, Els Bruguers, A.C.29, Santa Maria de Palautordera, 08460 Barcelona, Spain Tel: [34] (93) 848 2695; Website: www.neru.dhamma.org Email: info@neru.dhamma.org

Dhamma Pajjota, Dhamma Pajjota, Belgium, Light (or Torch) of Dhamma, Vipassana

Centrum, Driepaal 3, 3650 Dilsen-Stokkem, Belgium. Tel: [32] (0) 89 518 230; Website: www.pajjota.dhamma.org Email: info@pajjota.dhamma.org

Dhamma Sobhana, Lyckebygården, S-599 93 Ödeshög, Sweden. Tel: [46] (143) 211 36; Website: www.sobhana.dhamma.org Email: info@sobhana.dhamma.org

Dhamma Pallava, Vipassana Poland **Contact:** Malgorzata Myc 02-798 Warszawa, Ekologiczna 8 m.79 Poland Tel: [48](22) 408 22 48 Mobile: [48] 505-830-915 Email: info@pl.dhamma.org

North America

Dhamma Dharā, VMC, 386 Colrain-Shelburne Road, Shelburne MA 01370-9672, USA Tel: [1] (413) 625 2160; Fax: [1] (413) 625 2170; Email: info@dhara.dhamma.org

Dhamma Kuñja, Northwest Vipassana Center, 445 Gore Road, Onalaska, WA 98570, USA Tel/Fax: [1] (360) 978 5434, Reg Fax: [1] (360) 242-5988; Website: www.kunja.dhamma.org Email: info@kunja.dhamma.org

Dhamma Mahāvana, California Vipassana Center 58503 Road 225, North Fork, California, 93643 Mailing address: P. O. Box 1167, North Fork, CA 93643, USA Tel: [1] (559) 877 4386; Fax [1] (559) 877 4387; Email: info@mahavana.dhamma.org

Dhamma Sirī, Southwest Vipassana Center, 10850 County Road 155 A Kaufman, TX 75142, USA Mailing address: P. O. Box 7659, Dallas, TX 75209, USA Tel: [1] (972) 962-8858; Fax: [1] (972) 346-8020 (registration); [1] (972) 932-7868 (center); Website: www.siri.dhamma.org Email: info@siri.dhamma.org

Dhamma Surabhi, Vipassana Meditation Center, P. O. Box 699, Merritt, BC V1K 1B8, Canada Tel: [1] (250) 378 4506; Email: info@surabhi.dhamma.org

Dhamma Maṇḍa, Northern California Vipassana Center, Mailing address: P. O. Box 265, Cobb, Ca 95426, USA Physical address: 10343 Highway 175, Kelseyville, CA 95451, USA Tel: [1] (707) 928-9981; Email: info@manda.dhamma.org

Dhamma Suttama, Vipassana Meditation Centre 810, Côte Azélie, Notre-Dame-de-Bonsecours, Montebello, (Québec), J0V 1L0, Canada Tél. 1-819-423-1411, Fax. 1- 819- 423- 1312 Email: info@suttama.dhamma.org

Dhamma Pakāsa, Illinois Vipassana Meditation Center, 10076 Fish Hatchery Road, Pecatonica, IL 61063, USA Tel: [1] (815) 489-0420; Fax [1] (360) 283-7068 Website: www.pakasa.dhamma.org Email: info@pakasa.dhamma.org

Dhamma Toraṇa, Ontario Vipassana Centre, 6486 Simcoe County Road 56, Egbert, Ontario, L0L 1N0 Canada Tel: [1] (705) 434 9850; Email: info@torana.dhamma.org

Dhamma Vaddhana, Southern California Vipassana Center, P.O. Box 486, Joshua Tree, CA 92252, USA. Tel: [1] (760) 362-4615; Email: info@vaddhana.dhamma.org

Dhamma Patāpa, Southeast Vipassana Trust, Jessup, Georgia, South East USA Website: www.patapa.dhamma.org

Dhamma Modana, Canada Tel: [1] (250) 483-7522; Website: www.modana.dhamma.org Email: info@modana.dhamma.org

Dhamma Karunā, Alberta Vipassana Foundation Tel: [1](403) 283-1889 Fax: [1](403) 206-7453 Email: registration@ab.ca.dhamma.org

Latin America,

Dhamma Santi, Centro de Meditação Vipassana, Miguel Pereira, Brazil Tel: [55] (24) 2468 1188. Website: www.santi.dhamma.org Email: info@santi.dhamma.org

Dhamma Makaranda, Centro de Meditación Vipassana, Valle de Bravo, Mexico Tel: [52] (726) 1-032017 Registration and information: Vipassana Mexico, P. O. Box 202, 62520 Tepoztlan, Morelos Tel/Fax: [52] (739) 395-2677; Website: www.makaranda.dhamma.org Email: info@makaranda.dhamma.org

Dhamma Pasanna, Melipilla, Chile Email: info@pasanna.dhamma.org

Dhamma Sukhadā, Buenos Aires, Argentina, **Contact:** Vipassana Argentina, Tel: [54] (11) 6385-0261; Email: info@ar.dhamma.org

Dhamma Veṇuvana, Centro de Meditación Vipassana, 90 minutes from Caracas, Sector Los Naranjos de Tasajera, Cerca de La Victoria, Estado Aragua, Venezuela. (See map on the website) Tel: [58] (212) 414-5678 **For information and registration:** Phone: [58](212) 716-5988, Fax: 762-7235 Email: info@venuvana.dhamma.org

Dhamma Suriya, Centro de Meditación Vipassana, Cieneguilla, Lima, Perú Email: info@suriya.dhamma.org

South Africa

Dhamma Patākā, (Rustig) Brandwacht, Worcester, 6850, P. O. Box 1771, Worcester 6849, South Africa Tel: [27] (23) 347 5446; **Contact:** Ms. Shanti Mather, Tel/Fax: [27] (028) 423 3449; Website: www.pataka.dhamma.org Email: info@pataka.dhamma.org

Russia

Dhamma Dullabha: Avsyunino Village, Dhamma Dullabha (formerly camp "Druzba") 142 645 Russian Federation, Phones +7-968-894-23-92, +7-901-543-16-27

आचार्य श्री सत्यनारायणजी गोयन्का एवं श्रीमती इलायचीदेवी गोयन्का

श्री सत्यनारायणजी गोयन्का का जन्म म्यंमा (बर्मा) के मांडले शहर में १९२४ में हुआ। १०वीं कक्षा में सारे बर्मा में सर्वप्रथम आने पर भी पारिवारिक कारणों से आगे की पढ़ाई न कर सके। उन्होंने कम उम्र में ही अनेक वाणिज्यिक और औद्योगिक संस्थानों की स्थापना की और खूब धन अर्जित किया। अनेक सामाजिक तथा सांस्कृतिक केंद्रों की स्थापना की। तनावों के कारण शिरोरोग (Migraine) के शिकार हुए, जिसका उपचार बर्मा के ही नहीं, बल्कि विश्व के प्रसिद्ध डॉक्टर भी न कर सके। तब किसी ने उन्हें 'विपश्यना' की ओर मोड़ा, जो आज उनके तथा अनेकों के कल्याण का कारण बन गयी है।

सयाजी ऊ बा खिन से श्री गोयन्काजी ने १९५५ में विपश्यना विद्या सीखी और चौदह वर्षों तक उनके चरणों में बैठ कर अभ्यास करने के साथ बुद्धवाणी का भी अध्ययन किया। १९६९ में वे भारत आये और मुंबई में पहला शिविर लगा। तत्पश्चात शिविरों का तांता लग गया। १९७६ में इगतपुरी में पहला निवासीय विपश्यना केंद्र बना और अब तक विश्वभर में लगभग १६७ केंद्र बन गये हैं तथा नित नये बनते जा रहे हैं, जहां प्रशिक्षित किये हुए लगभग १२०० विपश्यनाचार्यों के माध्यम से विश्व की ५९ भाषाओं में १०-दिवसीय शिविरों के अतिरिक्त, कई केंद्रों पर २०, ३०, ४५, ६० दिन के शिविर लगते हैं। सब का संचालन निःशुल्क होता है। भोजन, निवासादि का खर्च शिविर से लाभान्वित साधकों के स्वैच्छिक अनुदान से चलता है। इसके सर्वहितकारी स्वरूप को देख कर विश्व की अनेक जेलों और स्कूलों में ही नहीं, पुलिसकर्मियों, जजों, सरकारी अधिकारियों आदि के लिए भी शिविर लगाये जाते हैं।

ISBN 978-81-7414-341-9

VRI - H7 1